UGPH-101(N)

नीतिशास्त्र

खण्ड–1 नीतिशास्त्र का परिचय एवं नैतिक निर्णय

इकाई–1 नीतिशास्त्र की परिभाषा, विषय क्षेत्र
इकाई–2 नैतिकता की पूर्व मान्यताएँ
इकाई–3 संकल्प की स्वतन्त्रताः नियतिवाद, अनियतिवाद और आत्म निर्धारणवाद

खण्ड–2 नैतिक निर्णय

इकाई–4 नैतिक निर्णय का स्वरूप एवं विषय
इकाई–5 हेतु अभिप्राय एवं परिणाम
इकाई–6 साध्य और साधन

खण्ड–3 सुखवाद

इकाई–7 सुखवाद का परिचय
इकाई–8 सुखवाद का वर्गीकरण
इकाई–9 बेन्थम का उपयोगितावाद
इकाई–10 मिल का उपयोगितावाद
इकाई–11 सिजविक का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

खण्ड–4 परिणाम सापेक्ष

इकाई–12 विकासवादी सुखवाद
इकाई–13 पूर्णतावाद

खण्ड–5 परिणाम निरपेक्षतावाद

इकाई–14 नैतिक निर्णय के मानदण्ड के रुप में अन्तः प्रज्ञावाद
इकाई–15 बटलर के अन्तः प्रज्ञावाद का सिद्धान्त
इकाई–16 काण्ट का सदिच्छा सिद्धान्त
इकाई–17 कर्त्तव्य के कर्त्तव्य का सिद्धान्त एवं निरपेक्ष आदेश

खण्ड–6 भगवत्गीता का नैतिक दर्शन एवं पुरुषार्थ की अवधारणा

इकाई–18 निष्काम कर्म सिद्धान्त
इकाई–19 स्थितप्रज्ञ और लोकसंग्रह का सिद्धान्त
इकाई–20 पुरुषार्थ चतुष्टय– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष

.....00.....

खण्ड – 1 : नीतिशास्त्र का परिचय एवं नैतिक निर्णय

इकाई–01

नीतिशास्त्र की परिभाषा एवं क्षेत्र

इकाई की रुपरेखा

1.0 प्रस्तावना

1.1 नैतिक प्रत्यय का स्वरुप

1.2 उचित अनुचित

1.3 शुभ–अशुभ

1.4 परमशुभ

1.5 नीतिशास्त्र की परिभाषा

1.6 पाश्चात्य परिभाषायें

1.7 समकालीन परिभाषायें

1.8 भारतीय मत में नीतिशास्त्र

1.9 नीतिशास्त्र का क्षेत्र

1.10 निष्कर्ष

1.11 उपयोगी पुस्तकें

.....00.....

1.0 प्रस्तावना

मनुष्य एक सामाजिक एवं बौद्धिक प्राणी होने के साथ–साथ एक नैतिक प्राणी भी है। मनुष्य भले ही इस जीवन में अकेले आता–जाता है, परन्तु आने–जाने अर्थात जीवन एवं मृत्यु के बीच एक समाज में रहता है और समाज में जीवन व्यतीत करने हेतु उसे उस सामाजिक व्यवस्था व नियम का पालन करना होता है, जैसे एक राष्ट्र के नागरिक को उस राष्ट्र की संवैधानिक एवं न्यायिक व्यवस्था का पालन करना होता है। यह सामाजिक व्यवस्था भले ही लिखित रुप में न हो, परन्तु वह फिर भी विद्यमान है। इस व्यवस्था को 'परम्परा' कहते है। परम्परागत रुप में इसे नैतिक व्यवस्था के रुप में

जाना जाता है। हम कहते हैं, 'हमें ऐसा करना चाहिए,' ऐसा नही करना चाहिए,' यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए, यह करना हमारे लिए उचित है, यह अनुचित है, उसका चरित्र अच्छा है, हमें सत्य बोलना चाहिए, हमें दूसरों की सहायता करना चाहिए आदि– 2। ऐसा करना या न करना केवल व्यक्ति के अपने लिए नहीं है अपितु अन्य सामाजिक प्राणी के साथ किया जाने वाला कार्य याय आचरण है। आर्थात सामाजिक प्राणी के रुप में जीवन जीने का विधान, यही नैतिक विधान है, जो उसे सामाजिक परम्परा के रुप में प्रदत्त है। यह सामाजिक परम्परा ही हमें उचित–अनुचित, शुभ–अषुभ, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य आदि का ज्ञान देती है। यही नैतिकता का ज्ञान है। और इसका अध्ययन करने का विज्ञान नीतिशास्त्र है।

वस्तुतः नैतिक अथवा 'Moral' शब्द का उद्भव लैटिन भाषा के 'Mos' शब्द जिसका बहुबचन शब्द Mores, से हुआ है और जिसका परम्परा अथवा जीवन की राह है। इसी तात्पर्य का दूसरा शब्द Ethics, जो यूनानी भाषा के शब्द 'Ethos' से उद्भूत है, जिसका तात्पर्य परम्परा आदत या चरित्र (Character)से है। ये दोनों शब्द एक ही प्रकार के व्यवहार को व्यक्त करते हैं। तात्पर्य है कि इनसे एक ऐसी परम्परा आचरण या व्यवहार परिलक्षित होता है, जो एक समाज या समूह के द्वारा व्यक्त होता है या समूह जिसे परम्परागत रुप में उचित मानना है।

तात्पर्य है कि इनसे एक ऐसी परम्परागत व्यवहार परिलक्षित होता है, जो एक समूह के द्वारा व्यक्त होता है। या यह समूह जिसे परम्परागत रुप में उचित या अनुचित मानता है। वैसे तो Moral तथा Ethics दोनो शब्द नैतिक आचरण या व्यवस्था या नियम (rule) को ही व्यक्त करते है तथापि इनमें प्रथम अर्थात नैतिक अथवा नैतिकता (Moral or Morathics)षब्द स्वयं में आचरण का संदर्भित करतें हैं और द्वितीय नीतिधारण अथवा नैतिकता (Ethich or Ethical) शब्द का उस नैतिक आचरण का अध्ययन करता है, अर्थात हमें यह बताता है कि हमें किस प्रकार का नैतिक आचरण करना चाहिए। दूसरे शब्दों में हमारे लिए कौन सा कार्य या आचरण उचित है और कौन सा अनुचित। इतना ही नहीं एक आत्मचेतन प्राणी होने के कारण हम जानना चाहते हैं कि शुभ–अषुभ, सत्य–असत्य, कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य के मध्य का अन्तर है और हमें इनमें से कि किना चुनाव करना चाहिए और क्यों? एक विचाराधीन प्राणी होने मानव आदर्शमय जीवन की स्थापना करना चाहता है। वह अपने जीवन का एक परम उद्देश्य या परमधुम भी निर्धारित करना चाहता है और इस उद्देश्य के लिए वह तद्नुकूल साधन का विकल्प चुनता है। मानव चाहे नैतिकता का जीवन का परम उद्देश्य माने अथवा आध्यात्मिकता को अपने जीवन का परम आदर्श उसे उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ, में अन्तर करना पड़ता है।यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सम्य आदि चयन आवश्यक नहीं है अपितु भौतिकतावादी भी इन विकल्पों का आश्रय लेता है। इस रुप में नीतिशास्त्र साध्य भी है और साधन भी।

अब तक स्पष्ट हो चुका है कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मानव आचरण से है अर्थात कार्य व्यवहार में उतारा जाने वाला आचरण। यह हमारे नैतिक निर्णयों को व्यवस्थित करने का भी कार्य करता है। इसलिए नीतिशास्त्र का मानवीय आचरण का विज्ञान कहा जाता है। प्रष्न उठता है कि मनुष्य को कैसे आचरण करना चाहिए? उसे क्या करना उचित है और क्या नहीं? इस सन्दर्भ में तो नीतिशास्त्र को आचरण की कला कहना भी अनुचित नही होगा। साथ ही वह नैतिक मूल्यों को भी प्रदान करता है और नैतिकता की कसौटी पर उतारने का मापदण्ड भी देता है ताकि आचरण के औचित्य एवं अनौचित्य का निर्धारण किया जा सके।

1.1 नैतिक प्रत्यय का स्वरुप

नीतिशास्त्र सम्पूर्ण मानव को जीवन मूल्य प्रदान करता है। एतदर्थ, यह विष्वजनीन चिन्तन का विष्या है। इसके बारे में विष्व के अन्यान्य विद्वानों ने प्रकाष डाला है, उनकी विवेचनायें भले ही मतान्तर रखती हो, परन्तु सभी ने इसके विभिन्न प्रत्यय– उचित–अनुचित, शुभ–अषुभ, परम क्षम को मुख्य रुप से स्वीकार किया है क्योंकि इनका सबका सीधा सम्बन्ध मानव आचरण से है और इस कारण नीतिशास्त्र से भी इसी प्रकार नीतिशास्त्र में हम मानव के द्वारा किए कर्म और कर्त्ता के रथ में मानव के चरित्र का भी मूल्यांकन करते हैं।

इस प्रकार मानव के कर्मो का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन करने के लिए समान्यतः कई शब्दों का प्रयोग किया जाता है। हम कह सकते है कि कोई कर्म अच्छा है या खराब, उचित है या अनुचित, नैतिक है अथवा अनैतिक, शुभ है या अषुभ आदि–2। जो कुछ अच्छा, उचित, नैतिक, शुभ आदि हो वह करना चाहिए, बल्कि काण्ट के शब्दों में कहें तो करना ही चाहिए और इसके विपरीत किया गया कर्म अनैतिक है। साथ ही यह भी जनना आवश्यक होना चाहिए कि हमारे जीवन का परमक्षुम क्या है। ये सब नैतिक प्रत्यय है एतदर्थ इनकी कारक अपेक्षित हैं।

1.2 उचित या अनुचित (Right or Wrong)

नैतिक शब्द के रुप में उचित–अनुचित का प्रयोग के कर्म से लिया जाता है जो परिस्थिति– विषष में उचित या अनुचित होते हैं। उचित कार्य वह होता है जो नियम के अनुकूल होता है। उचित कार्य वह होता है, जो नियम के अनुकूल होता है और अनुचित कर्म नियम के प्रतिकूल। इस प्रकार कर्मो के नैतिक मूल्यांकन का आधार है नैतिक नियम। नैतिक नियमों का पालन करते हुए कर्म उचित है और कर्म नैतिक नियमों का पालन नहीं करता, वह अनुचित है। यह इसके व्युत्पत्ति से भी स्पष्ट है। उचित शब्द का आंग्ल

रुपान्तरण 'Right' और अनुचित का 'Wrong' है। Right शब्द लैटिन भाषा के 'Reetns' शब्द से उद्भूत है। जिसका अर्थ है, नियमानुसार। इसी प्रकार Wrong शब्द 'Ring' शब्द से बना है। जिसका अर्थ है टेढ़ा होना अर्थात नियम के प्रतिकूल। स्पष्ट है कि नियमानुसार किया गया कार्य उचित है, कर्त्तव्यनुकूल है 'नियमों' के प्रतिकूल किया गया आचरण अनुचित है और इसलिए अकर्त्तव्य है। उचित कार्य करने की है नैतिक बाध्यता (Moral Obligation) है। स्पष्ट है कि कर्त्तव्य, नैतिक बाध्यता है और यह बध्यता हमारे स्वयं के अंदर की है, किसी भी कर्म को करने के लिए हम नैतिक बाध्यता का अनुभव करें, वही कर्त्तव्य कर्म है। परन्तु कर्म और कर्त्तव्य में एक सूक्ष्म अंतर है। सभी कर्त्तव्य कर्म हैं, परन्तु सभी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। नैतिक दृष्टि से उचित कर्म ही कर्त्तव्य है। यहां 'उचित' के सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'उचित' को तत्सम्बन्धी परिस्थितियों में ही उचित होना चाहिए और नियमानुकूल भी, क्योंकि नैतिक जीवन तो नियमों के अनुपालन में ही है। वैसे तो उचित शब्द चाहिएपन से सम्बन्धित है। परन्तु यहाँ यह सिद्ध कर देना आवश्यक है कि जो केवल उचित है क्यों कि जिस कार्य को करना चाहिए उसमें केवल उचितपन ही नहीं होता, अपितु उसमें कर्ता की प्रेरणा एवं उसकी अन्तः वृत्ति (Inclination) भी उसमें जुड़ा होता है, जिसके कारण उस कार्य में 'चाहिएपन' समाहित रहता है। कभी–कभी यह भी संभव है कि एक ही समय में सावधानी बरतनी चाहिए। उदाहरणार्थ यदि एक समय में दर्शन और साहित्य दोनों का अध्ययन उचित है तो इनमें से किसी एक का चयन करने के लिए आवश्यक है कि हम देखें कि इनमें से किसे पढ़ना हमारा कर्त्तव्य है। इस प्रकार 'चाहिए' तथा 'कर्त्तव्य' शब्द का प्रयोग केवल उचित कर्म के लिए ही होना चाहिए अथवा अनुचित के लिए नहीं।

1.3 शुभ एवं अशुभ (Good & Evil)

नीतिशास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण प्रत्यय है–शुभ एवं अषुभ। सामान्यतः शुभ एवं अषुभ का सम्बन्ध परिणाम से जुड़ा होता है, अर्थात जिसमें लाभ हो वह शुभ और जिसमें व्यक्ति को हानि हो, वह अशुभ। परन्तु नीतिशास्त्र में यह कुछ भिन्न अर्थ रखता है। जो कार्य परमशुभ की प्राप्ति में सहायक है, इतना ही नही, शुभ का सम्बन्ध व्यक्ति के प्रषंसनीय कार्य से होता है। इसका तात्पर्य है कि शुभ एवं अशुभ का सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र के मूल्यांकन से भी है।

'शुभ' शब्द का आंग्ल रुपांतरण Good है। जिसका सम्बन्ध जर्मन शब्द 'Gut' से है, जिसका तात्पर्य साध्य की प्राप्ति से है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि यह किसी साध्य की प्राप्ति को प्रगति का साधन नहीं है, अपितु यह स्वयं साध्य के रुप में शुभ है। वैसे तो मानव के समक्ष अनेकानेक शुभ कर्म होते है, जैसे– पुस्तक–लेखन, भवन–निर्माण, ज्ञान की प्राप्ति आदि परन्तु इन्हें नैतिक रुप से शुभ नही कहा जा सकता। नैतिक रुप से शुभ वह है जो जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति से सम्बन्धित है क्योंकि

नीतिशास्त्र किसी विषेष कार्य से सम्बन्धित न होकर सामान्य या सार्वभौमिक कार्य से सम्बन्धित है, और यह सामान्य कार्य या उद्देश्य है। उच्चतम शुभ (Summum Bonum) की प्राप्ति इसमें कोई संन्देह नही कि जीवन के अन्यान्य उद्देश्य भी नैतिक होते हैं, यथा–शक्ति की स्थापना, राष्ट्रहित में प्राणोत्सर्ग, परोपकार आदि परन्तु इन्हें नही परमषुभ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि ये अन्य शुभ की श्रेणी में रखे जा सकते है तथा इन से अन्य आदर्श की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार नैतिक शुभ या परम शुभ की प्राप्ति में सहायक है। परमषुभ ही निरपेक्ष शुभ है और शुभ या अषुभ तो सापेक्ष है, अतः परिवर्तनषील है।

1.4 परम शुभ– (The Mosolnte Good)

शुभ या श्रेय का विवेचन भारतीय एवं पाष्चात्य मतों में प्राचीन काल से ही होता आ रहा है, क्यों कि नैतिक विवेचन बिना इसके संभव ही नही है, बल्कि यह कहा जाय कि नैतिक विवेचन करते समय शुभ का विवेचन स्वयंमेव ही आ जाता है। कठोपनिषद् (2/1/2) में अत्यन्त स्पष्ट रुप से कहा गया है कि 'मनुष्यों में जो धीर और बुद्धिमान होते हैं, वे श्रेय (षुभ) का वरण करते हैं तथा अश्रेय (अशुभ) को छोड़ देते हैं। यही शुभ या श्रेय ही निःश्रेयस है परमषुभ है। जिससे इसकी प्राप्ति होती है। वही धर्म है, नीति है। कर्म का अर्थ तो इतना व्यापक है कि वह न्याय, कर्त्तव्य और श्रेय सभी को समेटे है।

प्रमुख यूनानी चिन्तक प्लेटों ने नीति धारण किंला सम्पूर्ण दर्शन को शुभ का विवेचन माना है। यद्यपि इनके मत में शुभ को परमषुभ (The Highest Good) कहा गया है। यूनानी नीतिशास्त्र में न्याय और कर्त्तव्य का प्रत्यय शुभ का प्रत्यय माना जाता है। यद्यपि बाद में इन्हें स्वतंत्र प्रत्यय माना जाने लगा। जर्मन चिन्तकों तो इसे सर्वोपरि मानने लगे। उन्होंने तो यहां तक कहा कि शुभ ही न्याय मूलक के कर्त्तव्य मूलक प्रत्यय है। काण्ट ने कर्त्तव्य को शुभ माना। कोई कार्य इसके अनूकूल है, शुभ है क्योंकि वह कर्त्तव्य अनुकूल है। कर्त्तव्य इसलिए है कि वह नैतिक नियम या न्याय है। यही प्रत्यय ही सर्वोच्च प्रत्यय भी है। समकालीन चिन्तन में जी0ई0 मूर ने प्रत्यय को भौतिक प्रत्यय मानते हुए इसे नीतिशास्त्र का पूरक विषय माना है। भारतीय परम्परा में शुभ को 'षिवम' कहा गया है, जिसका सम्बन्ध सत्यम् एवं सुन्दरम से भी है। इस प्रकार सत्यम, शिवम् और सुन्दरम परम आदर्श है, परम शुभ है। इनमें किसी प्रकार का न तो भेद माना जाता है और न श्रेणीक्रम में है। उच्च या निम्न माना जाता है। सभी समान रुप से व्यापक हैं। जब हम जिस आदर्श का अध्ययन कर रहे होते हैं, तो उसका प्रत्यय ही श्रेयस्कर हो जाता है।

1.5 नीतिशास्त्र की परिभाषा

नीतिशास्त्र नैतिक जीवन के स्वप्न को खोजने का एक प्रयास है। हम किस प्रकार का नैतिक जीवन जियें कि वह आदर्शयुक्त हो, हमारे कार्य उचित एवं षुभ से सम्बन्धित हों और हमें परमषुभ की प्राप्ति करायें। इस

जीवन में किस प्रकार के सिद्धान्त अपनायें कि हमें अपने व्यक्तिगत जीवन को उच्च आदर्श युक्त बनाये और सामाजिक सम्बन्धों में उच्च हों। नीतिशास्त्र इस कार्य में सहायक है।

1.6 पाश्चात्य परिभाषायें

वस्तुतः मानक जीवन में शुभ की प्राप्ति करना चाहता है। उसका परम आदर्श होता है। नीतिशास्त्र हमें वह आदर्श प्रदान करता है। मैकेन्जी इस मत से सहमत होते हुए कहते है– 'नीतिशास्त्र मानव जीवन में समाहित आदर्श का अध्ययन है'' (A Mannual of ethics page no. 4), सिजविक महोदय भी उनके इस मत का समर्थन करते हुए कहते है– ''नीतिशास्त्र मानव जीवन के उच्चतम आदर्श का अध्ययन (a study of para excellency) है''। अरस्तू ने अपने Ethics नामक ग्रंथ में कहते है कि 'नीतिशास्त्र वह शास्त्र है, जिसे मानव जीवन के चरम साध्य का अन्वेषण कहा जाता है। इसी मत का अनुसरण करते हुए रोजर्स ने कहा कि 'नीतिशास्त्र मानव आचरण के उच्चतम आदर्श (Ultimate ends of human contact)का अध्ययन है।'

नीतिशास्त्र यह स्पष्ट करता है कि मानव जीवन का यह आदर्श या लक्ष्य क्या है और उसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? यहाँ प्रष्न उठता है कि क्या मनुष्य को केवल स्वलक्ष्य को ध्यान में रखकर जीवन व्यतीत करना चाहिए अथवा अन्य मनुष्यों के हित और आदर्श को ध्यान में रखकर जीवन बिताना चाहिए मनुष्य द्वारा किए गए आचरण का प्रभाव पर पड़ता है। अतः व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उसके द्वारा किए गए आचरण में विरोध नहीं होना चाहिए। नीतिशास्त्र व्यवस्थित रुप में इन आदर्षो को स्थापित करता है। इस आधार पर नीतिशास्त्र को आदर्श शास्त्र विज्ञान भी कहा जाता है।

पुनः नीतिशास्त्र के 'कर्त्तव्य शास्त्र' भी कहा जाता है। यह मानव के कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का विधान देता है अर्थात मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं इसका ज्ञान उसे नीतिशास्त्र से ही प्राप्त होता है। भारतीय चिन्तक का मत है कि नीतिशास्त्र का मुख्य विवेचन कर्त्तव्यषास्त्र का विवेचन है। उन्होंने नीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है– ''एवं कर्त्तव्यमेव न कर्त्तव्यमित्यात्मो यो कर्म सा नीतिः''– अर्थात 'क्या कर्त्तव्य है, क्या कर्त्तव्य नहीं है, इस प्रकार जो कर्म व्यवस्था करता है, वह नीतिशास्त्र है।' मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। एतदर्थ उसके द्वारा किए गए कर्त्तव्य समाज के अन्य प्राणियों से जुड़े हैं। सामाजिक हित को ध्यान में रखकर उसके कर्त्तव्य को निर्धारण किया जाता है। साथ ही उसके कर्त्तव्य समाज में उसकी स्थिति, स्वभाव व विभिन्न आश्रमों के अनुसार भिन्न–2 निर्धारित हैं। यदि ऐसा न होता तो न तो समाज व्यवस्थित रुप से चल पाता और न उसकी प्रकियाओं में शांति और सहजता ही रह पाती। गीता तो कर्त्तव्यशास्त्र का विवेचन है। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा कि– 'गीता का मुख प्रलोभन जीवन की समस्या को हल करना और न्यायोचित आचरण को प्रेरणा देना था। प्रत्यक्ष स्वंय में यह एक नैतिक गंथ है' (भारतीय

दर्शन पृष्ठ 490)। गीता में मनुष्य के कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का ज्ञान कराया जाता है। मनुष्य का कोई भी कर्त्तव्य; जो अन्य व्यक्तियों (प्रज्य) के संरक्षण में बाधक है, उचित नहीं। कहा जा सकता है। उसके लिए क्या उचित है और क्या अनुचित इसका ज्ञान नीतिशास्त्र ही कराता है। इसीलिए मनुष्य के कर्त्तव्य को नैतिक नियम से जोड़ा जाता है। जर्मन दार्षनिक इमैनुअल काण्ट ने भी नीतिशास्त्र को कर्त्तव्यपालन अपना प्रमुख नैतिक आदर्श वाक्य 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करो' (Duty for duty's sake) दिया। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रत्येक कर्त्तव्य के साथ उसका लक्ष्य मानव के सम्मुख होता है, परन्तु गीताषास्त्र उसमें आसक्ति के लिए कोई स्थान न छोड़कर केवल कर्त्तव्य पर जोर देता है। अतः मानव का कर्त्तव्य आसक्ति रहित कर्म करना है।

इस कर्त्तव्य का आधार 'न्याय' है, अर्थात न्याय एवं कर्त्तव्य एक दूसरे से जुड़े है। इसलिए नीतिशास्त्र करना पड़ता है और हमें न्याय की रक्षा हेतु कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है और कर्त्तव्य का पालन हम न्याय का संरक्षण करते है और ये दोनों मिलकर मानव समाज को एक व्यवस्थित रुप प्रदान करते हैं और तथा सामाजिक कल्याण करते हैं। इसके ठीक विपरीत समाज में दोनों ही बुराईयों से घिर जाते है और सम्पूर्ण जीवन उद्वेगपूर्ण, भ्रष्टाचार से युक्त और अधौत हो जायेगा। तब हम किस प्रकार व्यवस्थित एंव धौतिपूर्ण जीवन की आषा करते हैं। इसे ही नीतिषाास्त्र में दण्डनीति भी कहतें हैं। कामन्दकी नीतिसार (2140) में कहा गया है कि न्यायी को पुरस्कार और अन्यायी को दण्ड की व्यवस्था हैं। यदि यह कल्याण न हो तो मतस्य न्याय हो जाय, अराजकता हो जाय और जन–जन परस्पर लड़कर मर मिटें। यूनानी विद्वान प्लेटों ने तो 'नीतिशास्त्र को न्याय का विवेचन माना है (Ethics is describe as the inqring into justic)। भारतीय मत में युगनीति एवं कामन्दकीय नीतिधारण भी नीतिशास्त्र में न्याय को ही प्रमुख विषय मानते है।

नीतिशास्त्र को मुल्यधारण भी कहा जाता है। क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ में ना कुछ मूल्य होतें हैं वह उन्हीं मूल्यों को जीवन का आधार बनाता है। इसलिए एफ0 मायर तथ्य एफ0 एच0राय ने नीतिशास्त्र को प्राथमिक रुप से मूल्यों का अध्ययन (Primarily, the study of value) माना है। मानव जीवन से कई प्रकार के मूल्य होते हैं आर्थिक सामाजिक, आध्यात्मिक आदि। नीतिशास्त्र इन मूल्यों में उच्च, उच्चतर अध्ययन का क्रम निर्धारित करता है और जीवन के उच्चतम मूल्य की प्राप्ति को उच्चतम आदर्श (The highest ideal) मानता है।

इतना ही नहीं, नीतिशास्त्र मूल्यों का मापदण्ड भी प्रदान करता है। प्रसिद्ध नीतिशास्त्र, अर्बन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक– The Fundmentals of ethics में 'नीतिशास्त्र को सुवकसित मूल्यांकन का

विज्ञान' कहा है। जब हम किसी व्यक्ति के कार्य व आचरण का मूल्यांकन करते हैं तो उसके लिए हम उचित मापदण्ड का निर्धारण भी करते हैं चाहे वह मापदण्ड नियम का हो, बौद्धिक हो, अंतकरण का हो, सुख या पूर्णता का। उन्हीं मापदण्डों के आधार पर नीतिशास्त्र में कर्म के औचित्य–अनौचित्य का निर्धारण होता है। इसी कारण नीतिशास्त्र को मूल्यमीमांसा भी कहा जाता है।

विलियम लिली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक– में नीतिशास्त्र की सम्यक् परिभाषा दी है। उनके अनुसार 'नीतिशास्त्र समाज में रहने वाले मनुष्यों के व्यवहार का नियामक विज्ञान है– 'एक ऐसा विज्ञान जो इस व्यवहार को उचित या अनुचित, शुभ या अषुभ या इसी प्रकार के दूसरे प्रत्यय में निर्णय करता है। उनकी इस परिभाषा को अत्यन्त स्पष्ट एवं व्यवस्थित परिभाषा के रुप में देखा जा सकता है, क्योंकि इसमें नीतिशास्त्र को न केवल आदर्श मूलक विज्ञान कहा गया तथा समाज में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन कहा गया, अपितु आदर्षो एवं सिद्धान्तों की स्थापना करने वाला शास्त्र माना गया।

1.7 समकालीन परिभाषायें

इसके अतिरिक्त कुछ समकालीन चिन्तकों यथा–ए.सी. इविंग, जी.ई.मूर तथा ए.जे.एमर ने नीतिशास्त्र की परम्परागत परिभाषाओं से इतर परिभाषायें दी हैं। जी.ई. मूर ने 'नीतिशास्त्र को शुभ प्रत्यय (Good idea) का विवेचन कहा है'। उसका मत है कि नीतिशास्त्र शुभ या अषुभ के अर्थ को स्पष्ट करता है, इसीलिए इसी प्रकार का विज्ञान माना जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि 'इसकी (षुभ की) परिभाषा नीतिशास्त्र की परिभाषा में सबसे आवश्यक तथ्य है। जब तक यह प्रष्न पूर्णतः बोधगम्य नहीं हो जाता और इसका सही उत्तर स्पष्ट नहीं जान लिया जाता, व्यवस्थित रमन की दृष्टि से शेष नीति में उन्होंने कहा कि शुभ की परिभाषा संभव नहीं है। इसके बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि शुभ, शुभ है बस। इस प्रकार शुभ अपरिभाष्य है क्योंकि यह एक सरल प्रत्यय है, मिश्रित प्रत्यय नहीं जैसे, 'पीला'। उनके अनुसार = पीला और शुभ के विषय में हम कहते है कि वे संस्तष्ट (मिश्रित) प्रत्यय नही है। वे उस सरल प्रकार के प्रत्यय है जिनसे परिभाषा की रचना की जाती है और जिसको आगे परिभाषित नहीं किया जाता है। अतः शुभ अपरिभाष्य है।

ए0सी0 इविंग– ने नीतिशास्त्र को उचित, अनुचित, शुभ–अषुभ, आदि को व्यवहारतः स्वीकार करने की स्थिति में नही है, जिसे आचरण में उतारना या नैतिक आदर्श के रुप में स्वीकार किया जाता हो। वे तो मात्र हम प्रत्ययों के अर्थ को स्पष्ट करना ही नीतिशास्त्र का विषय मानते हैं। उनका आषय इन प्रत्ययों को केवल प्रत्यय' (idea) मानने तक है, उसे आचरण के रुप में उतारने से नहीं, अर्थात इनके औचित्य–अनौचित्य, शुभत्व–अषुभत्व से उनका कोई आषय नहीं है।

प्रो0 ए0जे0एयर ने नीतिशास्त्र को परम्परागत परिभाषाओं से बिल्कुल ही पृथक इसकी विवेचना करने का प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि में नैतिक प्रत्यय (शुभ–अषुभ, उचित–अनुचित आदि) कोई आदर्श नही है। अपितु संवेगों अथवा स्थायी भावों (Sentiments) की अभिव्यक्ति है। यदि कोई कार्य उचित या अच्छा है तो यह केवल हमारा सुखद भाव है, या अनुचित होने पर दुखद भाव, जिन्हें हम आन्तरिक या वाह्य इन्द्रियों द्वारा जानते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, न कि नैतिक या व्यवहारिक आदर्श। ए0जे0 एयर ने अपनी पुस्तक –Language, Truth & Logic (पृष्ठ 108–109) में व्यक्त किया है कि नैतिक निर्णय से सम्बन्धित वाक्य तो केवल आवेगों के उद्‌गार हैं। इसलिए नीतिशास्त्र को आदर्श मूलक विज्ञान (Normative Science) मानकर तथ्यात्मक विज्ञान (Dostive Science) तक ही सीमित करना चाहिए क्योंकि नीतिशास्त्र जिन विषयों का अध्ययन करता है, वह या तो ऐसे वाक्य जो, नैतिक अनुभव के जगत और उनके कारणों का वर्णन करतें है। अथवा ऐसे वाक्य हैं, जो वास्तविक निर्णय हैं। एतदर्थ, नीतिशास्त्र को तथ्यात्मक या विष्लेषणात्मक वाक्यों से पृथक आदर्श मूलक वाक्यों के रुप में स्वीकार करने की भूल नहीं करनी चाहिए। इसलिए उन्हें सत्य या असत्य नहीं माना जा सकता। एयर ने इस प्रकार नीतिशास्त्र को स्वतंत्रषास्त्र न मानकर उसके मूल मन्तव्य को ही समाप्त कर दिया।

समीक्षा– परन्तु इन सभी समकालीन व्यक्तियों की नीतिशास्त्र की परिभाषा, जो स्वंय नीतिशास्त्र के मूल मन्तव्य को ही समाप्त कर देती हैं, को उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि वे नीतिशास्त्र को आदर्शमूलक विज्ञान ही नही जीवन जीने का आदर्शमय मार्ग प्रदान करता है। उसे यह बताना जाना चाहिए कि वह उचित– अनुचित के आचरण में समाज को एक स्थायी, व्यवस्थित और भौतिकमय जीवन प्रदान करेगा। यह स्वंय व्यक्ति के अन्तर्भावों को व्यवस्थित करता है न कि यह बताता है कि अन्तर्भाव क्या है। यह सामाजिक परम्पराओं एवं संस्थापकों का भी मार्ग दर्षक है क्योंकि इनके आदर्श पर चलकर ही किसी भी समाज में सुख एवं शांति स्थापित हो सकती है। यही नैतिक व्यवस्था का जनक है।

1.8 भारतीय मत में नीतिशास्त्र

भारतीय चिन्तक का प्रथम वाड्.मय वेद विषेषकर ऋग्वेद में नैतिक विचारों का बहुत महत्व है। वेदों में इसकी व्याख्या 'ऋत' के रुप में की गई है, जिसका अर्थ नैतिक व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त, जो नीतिशास्त्र का मुख्य प्रतिपान है। दूसरे शब्दों में, वेदों में 'ऋत' ही आचरण का नियम हैं। जिसे नीतिशास्त्र के रुप में जाना जाता है। वेदों में कहा गया है, 'ऋत' अर्थात कर्म विधान नही संसार में सर्वत्र व्याप्त है, जिसका पालन करना चाहिए। इसे त्रिकालबाधित न नियम भी कहा जाता है। वेदों में माना गया है कि 'ऋत' ही

सदाचार का एक मानदण्ड प्रस्तुत करता है, क्योंकि यह व्यापक सारतत्व है। इसके विपरीत अवृत सत्य का विरोधी और सत्य के विपरीत है। (ऋग्वेद 9:121; 1, 10:37.5)

मनुस्मृति में नीतिशास्त्र को आचरण शास्त्र के रुप में माना गया और सदाचरण को परमधर्म आचारः परमो धर्मः (2/108) मनु ने सदाचरण को इसलिए परम धर्म माना, क्योंकि यही व्यवहार ही आचरण में बराबर उतरता जाता है। बार–बार उतारा जाने वाला आचरण सत् होता है यही सदाचार है जो नीतिमंजरी में नीतिशास्त्र को ऐसा धर्मषास्त्र माना गया, जो कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का ज्ञान कराता है। विद्धानों का मत है कि संस्कार मुनष्यों के अपने–2 कर्त्तव्य है और सभी को अपने कर्त्तव्यों क ापालन करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से समाज सदैव स्थायी एवं व्यवस्थित बना रहेगा तथा उसमें शांति एवं सुरक्षा भी बनी रहेगी। शुक्रनीति एवं कामन्दिकीय नीतिशास्त्र (2/15) के नीति को ऐसा व्यवस्थित मार्ग बताया गया जो गतिषीलता का द्योतक है, अर्थात व्यक्ति एवं समाज को कुमार्ग से सुमार्ग की ओर ले जाने के लिए सतत् प्रवाहषील है। यही नीति के पालन का मार्ग है और ऐसा न होने से सम्पूर्ण जगत नष्ट हो जाता है। हितोपदेष भी इसका समर्थन करता है– 'विपत्रायां की तौ सकलभवथं सीदति जगत्'।

1.9 नीतिशास्त्र का क्षेत्र

नीतिशास्त्र का क्षेत्र सम्पूर्ण मानव व उसके सामाजिक जीवन आचरण तक विस्तृत है। यह तो स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध केवल मानव से है। समाज में रहने वाले प्रत्येक मानव के किए गए आचरण से नीतिशास्त्र सम्बन्धित है। किसी मानव का कैसा आचरण शुभ है और कैसा आचरण अषुभ अथवा परमषुभ क्या है और इसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है– हाब्स का सम्बन्ध नीतिशास्त्र से है। इन औचित्य–अनौचित्य को निर्धारण उसकी सामाजिक परम्परा द्वारा किया जाता है। इतना ही नही, नीतिशास्त्र में इस तथ्य का भी अध्ययन किया जाता है। कि किसी व्यक्ति द्वारा किए गए आचरण की क्या परिस्थितियां थी और उस आचरण को करते हुए व्यक्ति की कौन सी प्रवृत्ति, कौन सा अभिप्राय या प्रयोजन कार्य कर रहा है। कार्य में कर्त्ता की प्रेरक, उसकी अभिवृत्ति (Intention) भी रहता है। वही वृत्ती अच्छे परिणाम की प्राप्ति के लिए ऐसा करता है। तात्पर्य है कि नीतिशास्त्र नैतिक निर्णयों का सत्य–असत्य प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत कर्त्तव्यों के स्वरुप का विवेचन और इन निर्णयों के अैनिमित्तीकरण के लिए वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करता है। इस प्रकार का निर्णय प्रदान करते समय हमें मानव पक्षों पर विचार करना पड़ता है और यह विवेचन हमें नीतिशास्त्र से ही प्राप्त होता है। वैसे तो नीतिशास्त्र मानव आचरण से सम्बद्ध एकी समाज का अध्ययन करता है। परन्तु उसका समुचित अध्ययन करने के लिए उनका सूचीबद्ध किया जाना आवश्यक है।

1. नीतिशास्त्र मानव के नैतिक गुणों का अर्थ निर्धारित करता है। नैतिक गुण क्या है? उचित– अनुचित, शुभ–अषुभ, धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य आदि सभी प्रत्ययों के गुणों का निर्धारण नीतिशास्त्र द्वारा निर्धारित एवं विवेचित होता है। यही उसका प्रारंभिक तथा मुख्य विषयक है। इसका महत्व इसलिए भी है कि नीतिशास्त्र यह बताता है कि मनुष्य को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए।
2. नीतिशास्त्र नैतिक निर्णय की व्याख्या करता है अर्थात यहां कि नैतिक निर्णय क्या है? यह कानूनी निर्णय से किस प्रकार भिन्न है। नैतिक निर्णय का स्वास्थ्य व विषम क्या होकर चाहिए? क्या नैतिक निर्णय का विषय, प्रेरणा, अभिप्राय या परिणाम होना चाहिए? क्या नैतिक निर्णय कर्त्ता (मनुष्य) के आचरण जो किया जाना चाहिए उसको स्थायी नैतिक निर्णय का अधिकार है? अथवा क्या शील नैतिक निर्णय देते समय मनुष्य का मनोवैज्ञानिक सामाजिक, आर्थिक आदि पहलुओं का अध्ययन आवश्यक है। इतना ही नहीं नैतिक निर्णय उन परिस्थितियों का भी अध्ययन करता है, जिनमें नैतिकता निर्णय दिया जाता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र नैतिक निर्णय के विषय केक साथ–साथ नैतिक शक्ति के स्वरुप का अध्ययन करता है कि किसी आचरण के पीछे कौन सी नैतिक शक्ति कार्य कर रही है।
3. नीतिशास्त्र का एक अति महत्वपूर्ण प्रष्न नैतिक बाध्यता (Moral Obligation) का है। वह यह बताता है कि बाध्यता विषेष रुप से नैतिक बाध्यता क्या है? वह अन्य बाध्यताओं जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, कानूनी आदि से किस प्रकार भिन्न है? यह बाध्यता आन्तरिक है या वाह्य? यदि आन्तरिक एवं वाह्य बाध्यता में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द उत्पन्न हो जाय तो नैतिकता हेतु किसे प्राथमिकता दी जाएगी? नीतिशास्त्र यह बताता है कि नैतिकता का सम्बन्ध आत्मीयता से है, वह स्वंय अपने अंदर से ही नैतिक निर्णय लेता है। वाह्य बाध्यता से अपने अंदर से ही नैतिक निर्णय लेता है। वाह्य बाध्यता से किया गया नैतिक निर्णय औचित्यपूर्ण नही होता। एतदर्थ, चेतना निहित रहती है। मनुष्य जिस कर्म को उचित समझता है, उसका पालन करना अपना कर्त्तव्य समझता है और ऐसा करने के लिए यह अपने अंदर से बाध्यता का अनुभव करता है।
4. नीतिशास्त्र नैतिक पद्धति (Moral Method) का भी निर्धारण करता है। वह यह बताता है कि नैतिक पद्धति क्या है? उसकी प्रक्रिया क्या है? उसका मार्ग, रीति या विधि क्या है? इसके द्वारा ही नैतिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके लिए मुख्य रुप से दो प्रत्यय लिये– निरपेक्ष एवं सापेक्ष। इसकी व्याख्या नीतिशास्त्र ही करता है। निरपेक्ष प्रणाली यह बताती है कि नैतिकता का पालन प्रत्येक परिस्थिति में होना चाहिए क्योंकि नैतिक गुण सदैव नैतिक गुण ही रहते हैं और नैतिक दोष सदैव नैतिक दोष। इनमे कोई बदलाव नही होना चाहिए। यदि उचित कर्त्तव्य करना हमारा कर्त्तव्य है तो प्रत्येक परिस्थिति में उसका पालन होना ही चाहिए। महत्वाकांक्षी ने इस प्रणाली को स्वीकार किया है।

सापेक्ष प्रणाली में यह माना जाता है कि नैतिक गुण या दोष सदैव स्थायी नहीं रहते हैं। उनमें परिवर्तन संभव है। मानव का नैतिक मूल्य बदलता रहता है। कोई गुण स्वरुप में पूर्ण नही होता, वह मूल्य गुण की अपेक्षा करता है। नीतिशास्त्र ही इन प्रणालियों की व्यवस्था करके नैतिक रुप से नैतिकता सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करता है।

5. नीतिशास्त्र का एक और महत्वपूर्ण पहलू है जिस पर नीतिशास्त्र में विचार किया जाता है। यह नैतिकता की पूर्णापेक्षा है। अन्य पूर्व मान्यताओं– आत्मा की अमरता और दृष्टि के अस्तित्व की स्वीकृति के साथ आश्रय है। किसी भी आचरण को करने अथवा मानव को अपने संकल्प पूर्ण करने के लिये उसे पूर्ण रुप से स्वतंत्र होना चाहिए। प्रष्न है कि क्या मानव स्वयं अच्छा रखता है। क्या वह बिना स्वतंत्र किसी उचित आचरण को करने के समर्थ हो सकता है? स्पष्ट है कि नैतिक आचरण करने के लिए किसी प्रकार की परतंत्र बाध्यता बन सकती है। यदि किसी आचरण के लिए वह स्वतंत्र नही है। तो उसके ऊपर नैतिक उत्तरदायित्व भी नहीं थोपा जा सकता है। इसलिए नीतिशास्त्र स्वातंत्र की आश्रयता, उसके स्वरुप, अर्थ आदि का विवेचन करता है।
6. नीतिशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विवेचन नैतिक आपदाओं की व्याख्या करना है कि अर्थात यह बताना है कि नैतिक निर्णय का अध्ययन पर दिया जाय। वे कौन से मापदण्ड है, जो नैतिक सिद्धान्त एवं आदर्षो की स्थापना में सहायक है? यह नैतिक मापदण्ड के स्वरुप उसके विभिन्न पहलुओं यथा विनम्र, सुख, बौद्धिकता, अंतःप्रज्ञा या पूर्णता आदि की व्याख्या करता है। विभिन्न पहलुओं की व्याख्या से किसी एक मापदण्ड पर निर्भर नही रहा जा सकता अथवा हम किसी एक के मापदण्ड के आधार नैतिक निर्णय दिया जा सकता है। विभिन्न नीति अपनी–अपनी दृष्टि से नैतिकता के विभिन्न मापदण्ड अपने–अपने तर्को के आधार पर स्थापित करते हैं।
7. नीतिशास्त्र मूल्यों का निर्धारण करता है। जीवन में विविध प्रकार के मूल होते है। नीतिशास्त्र यह बताता है कि मूल्य क्या है? मनुष्य को किन–किन वर्गीकरण से रखा जा सकता है? मूल्यों की तारतम्यता क्या है? किस मूल्य के उच्च उच्चतम या उच्चतम माना जाय और क्या कोई उच्च तर्क मूल्य है? क्या यह अन्य सभी मूल्यों को सम्बद्ध करने के सक्षम है? मूल्य और नैतिक मूल्य में क्या अंतर है? क्या सभी मूल्य नैतिक मूल्य है और इस प्रकार नीतिशास्त्र विभिन्न मूल्य बोध करते हुए मूल्यों की विविधताओं में एकता ला देता है।

1.10 निष्कर्ष

नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मानव जीवन के आदर्श बतलाया है। मानव का परम लक्ष्य का होना चाहिए उस लक्ष्य का वास्तविक स्वरुप क्या है? इसकी प्रगति के लिए क्या आचरण का स्वरुप कैसा होना चाहिए; वह कैसे नीति समस्त आचरण करे। उसका ज्ञान तथा आचरण में उतरने की

कला नीतिशास्त्र ही देता है; तात्पर्य है कि नीतिशास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दोनों पक्ष है। इसमें एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें मनुष्य के अध्ययन का विषय स्वयं मनुष्य है। इसलिए मानव जीवन के वास्तविक आदर्श की ओर इंगित करना तथा नीतिपूर्ण जीवन यापन का मार्ग प्रषस्त करना नीतिशास्त्र का उद्देश्य है। विभिन्न परिभाषाओं से यह परिलक्षित होता है। यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि ये परिभाषायें नीतिशास्त्र की पूर्ण व्याख्या करती है, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस ज्ञान से मनुष्य का नैतिक उत्थान अवष्य होता है।

1.11 उपयोगी पुस्तकें

1- Jogn-s. Msackehzie – A Manual of Ettics Oxford University press, Delhi I Indian Edition 1973.
2- Herold H. Titus-Ettrics for today, Enrasia Puvlishing House (pvt) LTD. Ram Nagar Delhi-I, III Ed.,I Indian Refrint 1966.
3- William Lillie-An Introduction to Ettrics, Aclied Publishers Private Ltd. Bombay I Indian Edition 1967.
4- A.P. Dubey (Ed)-Applied Ettrics, Northern Book certre, 4221/1, Daryaganj, A Road New Delgi- 110002, 2004.
5. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण (प्रो0 संगमलाल पाण्डेय) सेन्ट्रल पब्लिषिंग हाउस, इलाहाबाद, VI संस्करण 1989.
6. प्रो0 बी0एन0 सिंह–नीतिशास्त्र की रुपरेखा आषा प्रकाषन, एन. 1/12 सी–6, नागवाँ, लंका, वाराणसी 1998.
7. डॉ. हृदय नारायण मिश्र–नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त शेखर प्रकाषन, 101 चक, जीरो रोड, इलाहाबाद, VII संस्करण 2003.
8. प्रो0 अषोक कुमार वर्मा–नीतिशास्त्र की रुपरेखा मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, VIII संस्करण 1996.

खण्ड 1
इकाई–2 नैतिकता की पूर्व मान्यताएँ

संरचना :–

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 नैतिकता की पूर्वमान्यताओं का आषय

2.3 काण्ट द्वारा स्वीकृत नैतिकता की पूर्वमान्यताएँ

2.4 संकल्प की स्वतंत्रता

2.5 आत्मा की अमरता

2.6 ईश्वर का अस्तित्त्व

2.7 काण्ट स्वीकृत नैतिकता की पूर्वमान्यताओं के विरूद्ध आपत्तियाँ

2.0 उद्देश्य

नैतिकता की पूर्वमान्यताएँ इकाई के अंतर्गत नैतिकता की पूर्वमान्यताओं के आशय को स्पष्ट करते हुए काण्ट द्वारा स्वीकृत नैतिकता की तीनों पूर्वमान्यताओं –संकल्प की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता एवं ईश्वर का अस्तित्त्व पर सविस्तार चर्चा करते हुए इस संबंध में दार्शनिकों द्वारा उठायीं गयी आपत्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

2.1 प्रस्तावना –

अरस्तू की प्रसिद्ध उक्ति है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज से भिन्न जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी मनुष्य से भिन्न या तो देव है या दानव। मनुष्य समाज में शान्ति, सौहार्द एवं प्रेम से रहे और सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुए अपने लक्ष्यों को प्राप्त करें, इसके लिए समाज–समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण की विधियों को अपनाता है। समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण की विधियों को अपनाता है। समाजीकरण में नैतिकता का अहं योगदान है। नैतिकता से तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत उन सिद्धांतों, रीति–रिवाजों, परम्पराओं एवं मान्यताओं से है जिनके द्वारा मानव व्यवहार का नियमन, नियंत्रण एवं निर्देशन किया जाता है ताकि व्यक्तिगत हित एवं सामाजिक हित के मध्य सामंजस्य स्थापित करते हुए सुखद मानवीय भविष्य को सुनिश्चित किया जा सके।

नैतिकता के संबंध में कोई नियम स्थापित करने के लिए पूर्वमान्यता के रूप में आधार का होना अनिवार्य है। पूर्वमान्यता के अभाव में किसी भी नैतिक नियम की स्थापना नहीं की जा सकती है। सामान्य मनुष्य अपनी दिनचर्या में कुछ विश्वासों एवं मान्यताओं को मानकर अपने जीवन को जीता है। वह मान्यताओं के मूल में बौद्धिक आधारों को स्थापित करने का प्रयास नहीं करता बल्कि उन्हें वस मान लेता

है। जैसे ईश्वर का अस्तित्त्व है, आत्मा अमर है, बड़ों को सम्मान करना चाहिए इत्यादि। ये पूर्वमान्यताएँ उन सत्ताओं का ज्ञान प्रदान नहीं करती है, जिनसे ये संबंधित होती है अपितु केवल उन्हें संभाव्य प्रत्ययों को सुनिश्चित सत्ता के रूप में परिवर्तित कर देती है।

2.3 नैतिकता की पूर्व मान्यताओं का आशय –

प्रत्येक विषय में कुछ मूलभूत अवधाराणाएँ होती है जिनको स्वीकार किये विना आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। ये अवधारणाएँ संबंधित विषय में आधारभूत होती है। इन आधारभूत अवधारणाओं को 'मान्यताएँ' कहते हैं। इन्हें स्वयं सिद्धियाँ (Axiom) भी कहते हैं। ये मान्यताएँ ऐसी होती है जिन्हें सिद्ध नहीं करना पड़ता है अपितु मान लिया जाता है। ये मान्यताएँ उस विषय की इमारत के लिए नींव या आधार का काम करती हैं इन्हें तर्क से प्रमाणित नहीं किया जाता है किन्तु ये तार्किक होती है। मनुष्य इन मान्यताओं में पूर्ण निष्ठा रखता है और इन्हें सत्य मानकर इनके अनुरूप कार्य करता है। इन्हें पूर्वमान्यता कहने का अर्थ इनके आधार पर किसी नियम या सिद्धांत की व्युत्पत्ति से पूर्व ही इन्हें सत्य मान लिया जाता है।

नीतिशास्त्र भी विषय के रूप में इससे भिन्न नहीं है यहाँ भी कुछ पूर्वमान्यताएँ हैं जो विषय के लिए आधर का काम करती है। नीतिशास्त्र की ये मान्यताएँ नैतिकता का आधार हैं। इन नैतिकता की पूर्वमान्यताओं को सत्य मानकर ही किसी नैतिक नियम, सिद्धांत या निर्णय को स्थापित किया जा सकता है। पूर्व मान्यताओं के अभाव में किसी भी नैतिक नियम या सिद्धांत की स्थापना नहीं की जा सकती है। यदि इन मान्यताओं का बौद्धिक आधार पर खण्डन भी कर दिया जाये तो भी मानव के व्यावहारिक जीवन में इन मान्यताओं का खण्डन संभव नही है क्योंकि ये मानवीय व्यवहार में समाहित हो गयीं है और मानवीय व्यवहार का आधार है।

2.4 काण्ट द्वारा स्वीकृत नैतिकता की पूर्वमान्यताएँ –

काण्ट ने अपने नीतिशास्त्र को आधार प्रदान करने के लिए पूर्वमान्यताओं को स्वीकार करते हैं। काण्ट नैतिकता की पूर्व मान्यताओं को शुद्ध बुद्धि के प्रत्यय कहते हैं। पूर्व मान्यताओं को परिभाषित करते हुए काण्ट अपनी कृति 'व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा' (Critique of Praetical Reason) में कहते हैं कि 'शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की पूर्व मान्यताओं से मेरा तात्पर्य उस तर्क वाक्य से है जो सिद्धांन्तः तो प्रमाणित नहीं किया जा सकता किन्तु जो प्रागनुभविक एवं निरपेख रूप से वैध व्यावहारिक नियम का अनिवार्य निष्कर्ष है।' नैतिकता की पूर्व मान्यताएँ यह स्थापित करती है कि स्वतंत्रता, ईश्वर, आत्मा इत्यादि प्रत्यय रिक्त प्रत्यय न होकर संवादी पदार्थ है किन्तु इनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। संवादी पदार्थ जगत के वास्तविक पदार्थ न होकर ऐसे पदार्थ हैं जिनकी सत्ता का आश्वासन हमारी नैतिकता की अनुभूति से प्राप्त होता है। काण्ट नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में तीन नैतिक मान्यताओं स्वीकार करते हैं, जो निम्ननिलिखित है–

1. संकल्प की स्वतंत्रता
2. आत्मा की अमरता
3. ईश्वर का अस्तित्त्व

2.5 संकल्प की स्वतंत्रता (Freedom of Will) -

काण्ट नैतिक जीवन में संकल्प की स्वतंत्रता को अनिवार्य नैतिक रूप में स्वीकार करते हैं। संकल्प की स्वतंत्रता से तात्पर्य मनुष्य द्वारा किसी कार्य को करने या न करने की दृढ़ इच्छा से है। व्यक्ति चाहे तो कोई निश्चित कार्य कर सकता है, चाहे तो नहीं भी कर सकता है। व्यक्ति अपनी इच्छा से कार्य करने के

लिए स्वंतंत्र है तो उसे संकल्प स्वातंत्र्य से युक्त व्यक्ति सदैव आत्मा प्रेरित नियमों के अधीन रहकर कार्य करता है। कार्य करने की क्षमता, ज्ञान एवं उद्देश्य एवं विकल्पों की उपस्थिति इसके प्रमुख तत्त्व हैं।

काण्ट के अनुसार मानवीय कार्यों को दो दृष्टिकोणों सैद्धान्तिक दृष्टा की दृष्टि से तथा व्यावहारिक बुद्धि की दृष्टि से देख जा सकता है –

1. जब मानवीय कार्यों को सैद्धांतिक दृष्टा की दृष्टि से देखा जाता है तो वे देश–काल में घटित होने वाली घटनाओं के समान दिखते हैं, जिनके मूल में प्राकृतिक या इन्द्रियानुभविक कारण निहित होते हैं। जैसे– यदि कोई व्यक्ति चोरी करता है तो इस चोरी के कारण के रूप में व्यक्ति की परिस्थितियों, संस्कार, शिक्षा इत्यादि को माना जाता है। हमारा यह विश्वास है कि व्यक्ति में जीवन के इन पक्षों का ठीक से अध्ययन कर लिया जाये तो उसके आचारण के विषय में सटीक पूर्वानुमान किया जा सकता है। यह कार्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है।
2. जब मानवीय कार्यों को व्यवहारिक बुद्धि की दृष्टि से देखा जाता है, तो उसके कार्यों को नैतिकता की दृष्टि से उचित–अनुचित बताया जाता है और व्यक्ति की परिस्थितियों की उपेक्षा करता है। जैसे– उपर्युक्त चोरी के कृत्य में व्यावहारिक बुद्धि की दृष्टि से देखने पर चोरी के कृत्य की निन्दा करते हैं क्योंकि हम यह विश्वास करते हैं कि स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं इन्द्रियानुभविक परिस्थितियों में होने के वावजूद मनुष्य के पास एक अ–प्राकृतिक या अनुभवातीत प्रेरक तत्त्व होता है जो उसे चोरी जैसे नैतिक कृत्य से रोकती है। यह प्राकृतिक कारणों से भिन्न मानव की अनुभवातीत स्वतंत्रता है। इस प्रकार व्यावहारिक बुद्धि चोरी के कृत्य को तात्कालिक इन्द्रियानुभविक परिस्थितयों का परिणाम न मानकर व्यक्ति के अनुभवतीत स्वरूप का परिणाम माना जाता है। इसे नैतिक बुद्धि की विफलता के रूप में स्वीकार किया जाता है। चोरी करने वाला व्रूक्ति इस कृत्य के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी है क्योंकि वह कृत आचरण से भिन्न आचरण भी कर सकता है। इस प्रकार कार्यों का संबंध नीतिशास्त्र है।

प्रथम दृष्टि से व्यक्ति काल के अधीन होता है, जहाँ सब कुछ प्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। वहीं द्वितीय दृष्टि में व्यक्ति काल से स्वतंत्र होता है। इस स्वतंत्रता से युक्त होने के कारण मानव अपने कर्मों का परिणाम के लिए स्वयं नैतिक रूप से उत्तरदायी होता है।

काण्ट कहते है कि मनुष्य एक बौ़कि प्राणी है और नैतिक नियम बुद्धि के नियम हैं, जो मानव द्वारा निर्मित हैं तथा इनका पालनकर्ता भी मानव है। नैतिक नियम के निर्माण एवं पालन में ऐसी कोई वाह्य शक्ति नहीं है जो मनुष्य को इस हेतु बाध्य करती है या कर सकती है। व्यावहारिक बुद्धि के नियमों में निहित अनिवार्यता से ही स्वतंत्र इच्छा की अवधारणा उत्पन्न होती है। नैतिकता सर्वप्रथम स्वतंत्रता के प्रत्यय को उत्पन्न करती है। संकल्प की स्वतंत्रता की प्रमाणिकता को किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसे केवल प्रागनुभविक रूप से ही सिद्ध किया जा सकता है असलिए संकल्प की स्वतंत्रता एक पूर्वमान्यता है।

2.6 आत्मा की अमरता –

काण्ट नैतिक जीवन की दूसरी पूर्वमान्यता के रूप में आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हैं वे नैतिक आदेशएवं उसमें निहित स्वतंत्रता के आधारपर आत्मा की अमरता को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। काण्ट कहते हैं कि मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं से संघर्ष करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है किन्तु आदर्श नैतिक जीवन वह है जिसमें इच्छाओं एवं कर्तव्यों के मध्य संघर्ष न हो। व्यक्ति अपने जीवन को नैकतिक आदेश में सर्वथा अनुकूिल बना लेना चाहता है जिसमें नैतिक आदेश उसके व्यक्तित्त्व

का सहज स्वभाव बन जाये किन्तु इच्छाओं एवं प्रवृत्तियों से घिरे मानव के लिए इस जगत में नैतिक पूवर्णता की अवस्था को प्राप्त करना संभव नहीं है। इसे अनन्त प्रगति की प्रक्रिया के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह अनन्त प्रगति व्यवहारिक बुद्धि की अनिवार्य माँग है और यह तभी संभव है जब व्यक्ति निरंतर नैतिक पूर्णता की साधना में लीन रहे। सर्वोच्च नैतिक जीवन की प्राप्ति इच्छाओं एवं कर्तव्यों का पूर्ण समन्वय मानवीय जीवन में तभी संभव है जब आत्मा अमर हो। यदि आत्मा की अमरता को स्वीकार न किया जाये तो नैतिक आदेश अपने लक्ष्य से सर्वथा दूर रह जायेगा।

मनुष्य अपने जीवन में नैतिक पूर्णता प्राप्त कर लेना चाहता है। नैतिक पूर्णता से तात्पर्य सदैव शुभ संकल्प से कर्तव्य के लिए कर्तव्य भाव से प्रेरित होकर कार्य करने से है। व्यक्ति अपने जीवन में नैतिक पूर्णत तभी प्राप्त कर सकता है जब व्यक्ति में अनुचित इच्छाएँ एवं अनुचित कार्य करने की प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जायें और वह कोई भी अनुचित कार्य न करें। जब तक व्यक्ति में अनुचित कार्य करने की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहेगी, तब तक नैतिक पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती है। नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपनी इच्छाओं, वासनाओं और प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके पूर्ण रूप से विवेकशील बना होगा। चूँकि नैतिकता नियम बुद्धि के नियम है और जब व्यक्ति पूर्णतः विवेकशील हो जायेगा तो उसके कृत्यों एवं नैतिक नियमों में एकरूपता आ जायेगी। परन्तु मनुष्य इस नैतिक पूर्णता को एक जन्म में प्राप्त नहीं करसकता है। उसको कई जन्मों में नैतिक पूर्णता प्राप्ति हेतु प्रयास करना पड़ सकता है। यह तभी संभव है जब आत्मा अमर हो और उसे अनेक जीवन प्राप्त हों।

2.7 ईश्वर का अस्तित्त्व –

काण्ट नैतिक जीवन की तीसरी पूर्वमान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार करता है। काण्ट कर्तव्य एवं आनन्द में सामंजस्य स्थापित करने के लिए तथा सक्षम न्यायकर्ता की समस्या का समाधान करने के लिए ईश्वर की सत्ता कासे स्वीकार करता है। ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार करने का आधार नैतिक आदेश एवं उसमें निहित स्वतंत्रता है। काण्ट कहते हैं कि वे मानवीय जीवन में नैतिकता के अनुरूप संचालित हो तथा नैतिकता के अनुरूप आनन्द की प्राप्ति हो अर्थात् जीवन में नैतिकता एवं आनन्द के मध्य सामंजस्य स्थापित हो सके, इसके लिए एक सक्षम न्यायकर्ता की आवश्यकता है जो मानव को उसके नैतिक जीवन के अनुरूप आनन्द प्रदान कर सके। ऐसी सक्षम एवं न्यायी सत्ता ईश्वर है।

चूँकि नैतिकता एवं सुख के मध्य समन्वय एवं सक्षम न्यायकर्ता की माँग शुद्ध बुद्धि की माँग है इसलिए यह अनुभवातीत है। इसके पक्ष में प्रमाण का न होना और व्यवहार में इसका होना, इसके पूर्वमान्यता के रूप में स्थापित करता है।

मानव स्वभाव में आनन्द की प्राप्ति करना चाहता है। चूँकि मानव स्वयं जगत का स्रष्टा नहीं है इसलिए वह स्वयं के बल पर प्रकृति को नैतिकता के पूर्णतः अनुरूप नहीं बन सकता है किन्तु वह शुद्ध बुद्धि के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोग नैतिकता एवं आनन्द के मध्य पूर्ण सामंजस्य की माँग करता है और सामंजस्यकर्ता के रूप में सक्षम एवं न्यायी ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार करता है। ईश्वर प्रकृति का स्रष्टा है एवं आननद और नैतिकता के सामंजस्य का आधार है ईश्वर का कारण स्वयं उसकी इच्छा है और वह अपनी बुद्धि एवं इच्छा के जगत की सृष्टि करता है। नैतिकता एवं सुख में सामंजस्य के अनुरूप सर्वोत्तम जगत की संभावना से ईश्वर की वास्तविकता प्रमाणित होती है।

काण्ट ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना व्यक्तिगत एवं व्यावहारिक आवश्यकता मानते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना न तो मानवीय कर्तव्य है और न ही सभी नैतिक कर्तव्यों का आधार है बल्कि ईश्वरीय सत्ता में विश्वास मानव की स्वतंत्र इच्छा है। हम जानते हैं कि काण्ट नैतिक आदेश को निरपेक्ष नियम के रूप में स्वीकार करते हैं जो किसी दण्ड–पुरस्कार, भय–प्रलोभन के कारण

अनुकरणीय नही है। विना दैवीय सत्ता के नैतिकता संभव है। नैतिकता केवल ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा करती है जो स्वयं को नैतिकता आदेश का कर्ता समझकर उसके अधीन कार्य कर सके।

काण्ट के मतानुसार ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना एक नैतिक आवश्यकता भी है क्योंकि ईश्वर के अस्तित्त्व की पूर्व मान्यता हमारी कर्तव्य चेतना से अनिवार्य रूप से संबंधित है। नैतिकता एवं आनन्द में संबंध की वास्तविकता को केवल सर्वोच्च बुद्धिमान सत्ता ईश्वर के माध्यम से स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर अस्तित्त्व की पूर्वमान्यता सैद्धान्तिक बुद्धि का विषय है।

2.8 काण्ट स्वीकृत नैतिकता की पूर्वमान्यताओं के विरूद्ध आपत्तियाँ –

काण्ट द्वारा स्वीकृति नैतिकता के पूर्वमान्यताओं से कुछ दार्शनिक सहमत नहीं है। वे इनके विरूद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाते हैं–

1. काण्ट देश–काल से परेह जाकर पारमार्थिक या अनुभवातीत आत्मा तथा उसके स्वतंत्र चुनाव की अवधारणा को स्वीकार करते हैं। यह रहस्यात्मक अवधारणा है किन्तु रहस्यात्मकता को स्वीकार करके किसी समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता है।
2. विचारक सी.डी. ब्राड आत्मा की अमरता की आलोचना करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को पूर्ण बनाने के आदेश को अक्षरशः नहीं लेना चाहिए। मानव नैतिक उपलब्धि के अपने वर्तमान स्तर से कमी संतुष्ट नहीं होता है। निःसंदेह ही वह जीवन पर्यन्त अपने नैतिक चरित्र को समुन्नत कर सकता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि मानवीय चरित्र दृष्टि से कभी पूर्ण हो सकता है।
3. काण्ट आत्मा की अमरता के संदर्भ में कहते हैं कि नैतिक पूर्णता प्राप्त होनी चाहिए अन्यथा इस हेतु साधना करना हमारा कर्तव्य नहीं होना चाहिए। वहीं दूसरी ओर वे कहते हैं कि नैतिक पूर्णता अनन्त काल में प्राप्य है। इससे यह अर्थ निकलात है कि नैतिकता पूर्णता प्राप्य नही है जो कि विरोधाभासी है।
4. कवि हाइन काण्ट द्वारा स्वीकृत ईश्वर के अस्तित्त्व की पूर्वमान्यता के संदर्भ में कहते हैं कि शुद्ध बुद्धि की समीक्षा में ईश्वर की सत्ता को आसिद्ध करने के बाद काण्ट द्वारा ईश्वरीय सत्ता को पूर्व–मान्यता के रूप में स्वीकार करना इस तरह है मानो 'कोई व्यक्ति की गली की सारी बत्तियाँ बुझाकर यह दिखाना चाहता है कि उसके बिना देखना संभव नही है।'

सारतः काण्ट नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में संकल्प की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता एवं ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार कर अवस्थ एवं नैतिकता के मध्य समन्वय करना चाहते हैं। वे स्वातंत्र्य संकल्प से युक्त व्यक्ति के कर्मों को ही नैतिकता के दायरे में रखते हैं तथा नैतिक पूर्णता के लिए आत्मा की अमरता को अनिवार्य मानते हैं किन्तु साथ ही यह भी मानते हैं कि नैतिकता की स्थापना ईश्वर से सर्वदा स्वतंत्र रूप में की जा सकती है।

2.9 शब्दावली

(1) ईश्वर (God) - धर्म में स्वीकृत सर्वोच्च सत्ता
(2) आत्मा (Saul) - मानव व्यक्तित्त्व का आध्यात्मिक द्रव्य
(3) स्वतंत्रता (Freedom) - कुछ करना या न करना स्वेच्छा पर निर्भर होना।

2.10 प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न –

(1) संकल्प स्वातंत्र्य को परिभाषित करें?
(2) पूर्व मान्यता के रूप में आत्मा की अमरता का वर्णन करें?
(3) पूर्व मान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्त्व का वर्णन करें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

(1) काण्ट स्वीकृत नैतिकता की पूर्वमान्यताओं की सविस्तार चर्चा करें?

2.12 उपयोगी पुस्तकें

(1) काण्ट का दर्शन – सभाजीत मिश्र
(2) नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत –वी.पी.वर्मा
(3) नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण – संगमलाल पाण्डेय
(4) नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धांत – हृदयनारायण मिश्र
(5) व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा (Critique of Practical Reasen) - इमैनुअल काण्ट

खण्ड 1

इकाई–3

संकल्प की स्वतन्त्रताः नियतिवाद, अनियतिवाद और आत्म निर्धारणवाद

इकाई की रूपरेखा

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 संकल्प की स्वतंत्रता

3.3 संकल्प स्वतंत्रता से तात्पर्य

3.4 संकल्प स्वतंत्रता की शर्तें

3.5 नियतत्ववाद (Determinism), अनियतत्ववाद(Indeterminism) तथा भाग्यवाद (या दैववाद) (Fatalism)

3.6 संकल्प स्वातंत्र का रक्षक सिद्धांत

3.7 संकल्प की स्वतंत्रता एवं चयन के बीच संबंध

3.8 सकारात्मक स्वतंत्रता या 'सम्पूर्ण स्वतंत्रता' और नकारात्मक स्वतंत्रता -

3.10 बोध प्रश्न

3.11 उपयोगी पुस्तकें

3.0 प्रस्तावना

स्वतंत्रता नैतिकता के लिए एक पूर्व मान्यता है। नैतिक स्वतंत्रता या संकल्प स्वातंत्र क्या है ? सामान्यतया संकल्प स्वातंत्र के दो अर्थ लिए जाते हैं- पहला मनोवैज्ञानिक संकल्प स्वातंत्र और दूसरा आध्यात्मिक संकल्प स्वातंत्र। मनोवैज्ञानिक संकल्प स्वातंत्र अपनी इच्छा के अनुसार निश्चय करना एवं कार्य करना है। जिसमें हम कई विकल्पों में से कुछ को चुनने की शक्ति रखते हैं। इस प्रकार यह स्वतंत्रता वरण की स्वतंत्रता है। वहीं दूसरी तरफ आध्यात्मिक संकल्प स्वतंत्रता का तात्पर्य है की इच्छा और संकल्पों अथवा निश्चयों का कोई कारण नहीं है। संकल्प स्वतंत्रता के संबंध में दो प्रकार के सिद्धांत मुख्य रूप से मिलते हैं नियतिवाद और यादृच्छावाद । नियतिवाद का मानना है की इच्छा या संकल्पित कर्मों का कारण होता है। जबकि यादृच्छावाद का मानना है कि संकल्प या संकल्पित कर्मों का कोई कारण नहीं होता ।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम यहा जान पाएंगे कि संकल्प स्वतंत्रता का क्या अर्थ होता है । संकल्प स्वातंत्र की शर्तें क्या हैं । संकल्प स्वतंत्रता से संबंधित सिद्धांतों में से प्रमुख तीन सिद्धांत नियतत्ववाद ,अनियतत्ववाद तथा दैववाद के बीच क्या अंतर है। तथा इनमें से कौन सा सिद्धांत संकल्प स्वतंत्रता की रक्षा के लिए उपयुक्त है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम यह भी समझ पाएंगे कि संकल्प की स्वतंत्रता एवं वरण के बीच क्या संबंध होता है। नैतिकता पूर्ण स्वतंत्रता एवं नकारात्मक स्वतंत्रता में से किसके अधिक निकट है और हम यह भी समझ सकेंगे की स्वतंत्रता के साथ ही किस प्रकार से हमारे समक्ष दायित्व भी आ जाते हैं।

3.2 संकल्प की स्वतंत्रता

मनुष्य अपने कर्मों का निर्णय स्वयं करता है वह स्वतंत्र है अपने कर्मों का निर्धारण या उन्हें करने के लिए वह किसी बाय शक्ति द्वारा सीमित अथवा नियंत्रित नहीं होता परंतु यह भी सत्य है कि कई बार-बार पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है उसकी स्वतंत्रता की भी एक सीमा है अपनी सीमाओं को अपने आत्म लाभ हेतु वह परिवर्तित भी कर सकता है परंतु कुछ विचारक या स्वीकार नहीं करते।

संकल्प स्वतंत्रता का क्या अर्थ है संकल्प स्वतंत्रता का अर्थ है कि जिसे हम करने का संकल्प कर रहे हैं उसे करने की बिना किसी बाध्यता अथवा रोक के स्वतंत्रता है परंतु प्रश्न उठता है कि क्या हम जो संकल्प करते हैं उसमें स्वतंत्र हैं? और हम कैसे उसका संकल्प करते हैं क्या हम स्वतंत्र हैं कि हम विभिन्न विकल्पों अथवा संभावनाओं में किसी कर्म का चुनाव कर सकें? या फिर हमसे पर है कोई अन्य वस्तु या शक्ति हमें विभिन्न कर्मों में से किसी एक को चुनने के लिए बाध्य करती है क्या आत्मा के बाहर कोई अन्य वस्तु हमारे संकल्प स्वतंत्र को सीमित करता है?

3.3 संकल्प स्वतंत्रता से तात्पर्य

किसी भी किसी भी व्यक्ति के कर्मों का नैतिक मूल्यांकन तभी हो सकता है जब वह संकल्प की स्वतंत्रता से युक्त होअगर हम किसी से यह अपेक्षा करते हैं कि उसे सच बोलना चाहिए या किसी की सहायता करनी चाहिए अथवा चोरी नहीं करनी चाहिए तो यह तभी हो सकता है कि यदि वह व्यक्ति चाहता तो वह सत्य बोल सकता था चाहता तो वह सहायता कर सकता था अथवा चाहता तो वह चोरी नहीं कर सकता था अर्थात हम समानता मनुष्य के अच्छे कर्म करने के लिए या ना करने के लिए उसे स्वतंत्र मानते हैं और किसी व्यक्ति के कोई कम करने या ना करने की स्वतंत्रता को ही संकल्प स्वतंत्र कहा जाता है परंतु संकल्प के स्वतंत्रता के कुछ शर्तें होती हैं

3.4 संकल्प स्वतंत्रता की शर्तें

कर्म करने की क्षमता नैतिक निर्णय व्यक्ति के उन्हीं कर्मों के संबंध में सार्थक हो सकते हैं जिन्हें करने के लिए वह शारीरिक और मानसिक स्तर पर समर्थ हो। अर्थात वह चाहता तो वह कर्म करता और चाहता तो वह काम नहीं करता । यदि शारीरिक या भौतिक स्तर से किसी व्यक्ति के लिए कोई काम करना संभव नहीं है तो स्पष्ट है कि वह उसे करने के लिए स्वतंत्र नहीं है और ऐसे कार्यों के बारे में नैतिक निर्णय देना संभव नहीं है। जैसे यदि कोई व्यक्ति घायल होने के कारण अपना वचन पूरा नहीं कर सकता तो उसे वचन भंग का दोषी नहीं माना जा सकता व्यक्ति केवल उन्हीं कर्मों के लिए स्वतंत्र हैं जिन्हें करने की उसमें शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमता है और ऐसे कर्मों को करने या ना करने के लिए वह स्वतंत्रता पूर्वक निर्णय ले सकता हो।

ज्ञान और उद्देश्य संकल्प की स्वतंत्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर और सोच समझकर कार्य करें हम किसी व्यक्ति के ऐसे कर्मों के संबंध में उसे स्वतंत्र नहीं मान सकते जो उसने

अज्ञानता वश किया हो जैसे क्रिप्टो मेनिया से पीड़ित कोई व्यक्ति अगर चोरी करता है तो वह अपने कर्मों के संबंध में स्वतंत्र नहीं है वह सोच समझकर किसी उद्देश्य के पूर्ति हेतु ऐसा कोई कारण नहीं करता अतः ऐसे व्यक्ति को हम उसके कर्मों के लिए उत्तरदाई नहीं मान सकते यदि कोई कर्म व्यक्ति आज्ञा वर्ष या किसी बाय शक्ति से बात होकर करता है तो वह स्वतंत्र नहीं है और उसे हम इस प्रकार के कार्यों के लिए उत्तरदाई नहीं मान सकते हैं

विकल्पों की उपस्थिति - संकल्प की स्वतंत्रता के लिए हमारे समक्ष विकल्पों की उपस्थिति का होना भी आवश्यक है यदि हमारे समक्ष किसी कम को करने के अलावा कोई विकल्प ही ना बच्चे तो हमें इस कर्म के संबंध में स्वतंत्र और साथ ही उत्तरदाई नहीं माना जा सकता क्योंकि हम उसे करने के लिए बात दें इस प्रकार किसी कम को करने के संबंध में कोई व्यक्ति तभी स्वतंत्र माना जा सकता है जब वह किसी काम को करने की इच्छा एवं क्षमता के होने के बावजूद कोई अन्य काम कर सकता हो अर्थात कुछ ऐसे अवसर होनी चाहिए जब जो हमने किया हम उसके विपरीत भी काम कर सकते हो; ऐसी संभावना विद्यमान रहे। यदि किसी व्यक्ति के समक्ष किसी कम को करने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही ना बचे तो हम उसे उसके कर्मों के लिए दोषी नहीं मान सकते।

3.5 नियतत्ववाद (Determinism), अनियतत्ववाद(Indeterminism) तथा भाग्यवाद (या दैववाद) (Fatalism)

किसी व्यक्ति द्वारा स्वतंत्रता पूर्वक किया गया कर्मों का चुनाव कुछ विशेष कारणों द्वारा निर्धारित होता है या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में दार्शनिकों ने मुख्य रूप से तीन सिद्धांत दिए हैं जिन्हें हम १.नियतत्ववाद (Determinism), २.अनियतत्ववाद(Indeterminism) तथा ३.भाग्यवाद (या दैववाद) (Fatalism) के रूप में जानते हैं।

नियतत्ववाद के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कर्मों के चुनाव का कोई कारण अवश्य होता है फिर चाहे वह काम ऐच्छिक हो या अनैच्छिक जबकि अनियतत्ववाद(Indeterminism) के समर्थकों का मानना है कि मनुष्य के कुछ काम अकश्मात ही हो जाते हैं जिनका कोई कारण बता पाना हमारे लिए संभव नहीं है । नियतत्ववाद को हम कार्य कारण का सिद्धांत तो वहीं अनियतत्ववाद को आकस्मिकता का सिद्धांत कह सकते हैं । इन दोनों से अलग हमारे कर्मों के संबंध में प्राय: आम लोगों द्वारा एक अन्य सिद्धांत भी माना जाता है जिसे हम भाग्यवाद अथवा दैववाद के रूप में जानते हैं भाग्यवाद (या दैववाद) (Fatalism) के अनुसार व्यक्ति के सभी कर्म ईश्वर अथवा किसी दैवीय शक्ति द्वारा निश्चित होते हैं । वह चाहे जितना भी प्रयास कर ले परंतु इनमें किसी भी प्रकार से परिवर्तन नहीं कर सकता वह घटना अवश्य ही घटेगा जिसे ईश्वर ने पहले से ही निश्चित कर दिया है उल्लेखनीय है कि दैववाद नियतत्ववाद से अलग सिद्धांत है क्योंकि नियतत्ववादी दैववाद का भी विरोध करते हैं जिस प्रकार वे अनियतत्ववाद का विरोध करते हैं ।

गीता में कहा गया है "जो होना है वह हो कर रहेगा।" एक और अभिव्यक्ति है जिसका भावार्थ कुछ ऐसा है "ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता।" यह मान्यता जब सिद्धांत बनकर उभरता है तब भाग्यवाद या दैववाद (Fatalism) कहलाता है।

3.6 संकल्प स्वातंत्र का रक्षक सिद्धांत

प्रश्न है कि कौन सा सिद्धांत मनुष्य के संकल्प की स्वतंत्रता के अनुरूप है और कौन उसके विरुद्ध? दैववाद मनुष्य के संकल्प स्वतंत्र को समाप्त कर देता है क्योंकि इसके अनुसार मानव के सभी कर्म तथा उसके परिणाम को ईश्वर ने पहले ही निश्चित कर दिया है और बहुत प्रयास करने के बाद भी मनुष्य इस पूर्व निर्धारित स्थिति में कभी किसी प्रकार का परिवर्तन कर ही नहीं सकता । ईश्वर की आज्ञा के बिना इस जगत में कुछ भी नहीं होता तो स्पष्ट है कि व्यक्ति के संकल्प स्वातंत्र को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता । इस प्रकार दैववाद अथवा भाग्यवाद हमारे संकल्प स्वतंत्रता के लिए नकारात्मक है।

इसी प्रकार अनियतत्ववाद भी हमारे संकल्प की स्वतंत्रता को खत्म कर देता है। इसके अनुसार व्यक्ति के कुछ कर्म अकस्मात अथवा अकारण ही होते हैं अतः उनके विषय में पहले से कोई अनुमान नहीं किया जा सकता अनियतत्ववाद मानता है कि किसी व्यक्ति के विचार एवं आदर्शों तथा उनकी आदतों , इच्छाओं, रुचि इत्यादि को भली भांति जान लेने के बाद भी हम पहले से यह अनुमान नहीं कर सकते कि वह किस परिस्थिति में क्या करेगा। अतः अनियतत्ववाद कार्य कारण के मूल सिद्धांत को अस्वीकार करता है और मनुष्य के कर्मों को अप्रत्याशित या आकस्मिक मान लेता है । अर्थात मनुष्य स्वयं नहीं जानता कि वह किस परिस्थिति में क्या करेगा । व्यक्ति के कर्मों को आकस्मिक मान लेने के कारण संकल्प स्वतंत्र खत्म हो जाता है । अतः यह सिद्धांत नैतिकता विरोधी है इसके अनुसार व्यक्ति के कार्य उसके व्यक्तित्व के परिणाम स्वरुप ना होकर किसी शून्य से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है इस स्थिति के कारण नैतिक निर्णय के लिए यहां कोई स्थान ही नहीं बचता। यदि कोई व्यक्ति संकल्प स्वातंत्र में विश्वास करता है तो उसके लिए दैववाद तथा अनियतत्ववाद दोनों को ही स्वीकार करना कठिन होगा।

अब अगर हम नियतत्ववाद पर विचार करें तो क्या नियतत्ववाद आज व्यक्ति के संकल्प स्वतंत्र या नैतिक उत्तरदायित्व को बचा पाने में समर्थ होता है अथवा नहीं । नियतत्ववाद के अनुसार मनुष्य के हर कर्म का कोई कारण जरूर होता है उसका कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता। नियतत्ववाद का मानना है कि कार्य कारण का मूल सिद्धांत भौतिक घटनाओं पर ही नहीं बल्कि मनुष्य के सभी कर्मों पर भी पूर्णतया लागू होता है । अर्थात यदि हमें किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व या चरित्र के बारे में ठीक ज्ञान हो अर्थात हम उसकी आदतों, रुचियों, इच्छाओं , मूल्यों , आदर्शों , विचारों इत्यादि को जानते हों तो हम पहले से ही काफी हद तक ये अनुमान लगा सकते हैं कि वह किस परिस्थिति में क्या करेगा। अतः नियतत्ववाद का मानना है कि यदि अन्य परिस्थितियों सामान रहें तो हम व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र के आधार पर उसके कर्मों के बारे में ठीक-ठाक अनुमान लगा सकते हैं मानवीय कार्यों के संबंध में नियतत्ववाद अनियतत्ववाद के ठीक विपरीत है। अधिकतर व्यक्तियों का अनुभव भी नियतत्ववाद को पोषित करता है।

नियतत्ववाद मनुष्य के कर्मों के पीछे कार्य कारण को स्वीकार करते हुए भी उसके संकल्प स्वातंत्र को खत्म नहीं करता । नियतत्ववाद भाग्यवाद के मत को स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य के समस्त कर्म ईश्वर द्वारा पहले से ही निर्धारित हैं और हम कितना भी प्रयास करें उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते । नियतत्ववाद यह भी नहीं कहता कि मनुष्य के प्रयास का उसके कर्मों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नियतत्ववाद मात्र यही कहता है कि किसी व्यक्ति का स्वभाव, चरित्र, रुचियों का भली भांति ज्ञान होने के पश्चात हम यह बता सकते हैं कि वह व्यक्ति वास्तव में क्या करेगा और क्या नहीं करेगा। नियतत्ववाद मानता है कि समस्त मानवीय आचरण कार्य कारण के सिद्धांत द्वारा ही संचालित होते हैं परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं की व्यक्ति कोई विशेष कार्य करने या ना करने हेतु मजबूर है यह सिद्धांत मनुष्य के स्वतंत्रता का निषेध नहीं करता बल्कि यह बताता है कि उसका आचरण सदैव कार्य कारण के सिद्धांत द्वारा निर्धारित होता है। मनुष्य का संपूर्ण आचरण उसकी इच्छा, रुचि, आदत विचार, आदर्श, मूल्य इत्यादि द्वारा निर्धारित होता है । नियतत्ववाद का मानना है कि मनुष्य जो करता है वह उसे करने के लिए बाध्य नहीं है ।अर्थात कोई बाह्य कारक या वाह्य परिस्थितियां उसे कोई विशेष कर्म करने के लिए विवश नहीं कर सकते हैं। मनुष्य चाहे तो जो कर्म उसने किया है उससे भी भिन्न कर्म कर सकता है इस प्रकार नियतत्ववाद व्यक्ति के संकल्प स्वतंत्र की रक्षा करता है और उसके नैतिक उत्तरदायित्व को पूर्ण करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।

3.7 संकल्प की स्वतंत्रता एवं चयन के बीच संबंध

हमारा विषय 'संकल्प की स्वतंत्रता' है । 'स्वतंत्रता' का उदगम बिंदु जहाँ है यह अगर पहले से जान लेना आवश्यक है । स्वतंत्रता से पहले संकल्प को समझना आवश्यक है। संकल्प एक सैद्धांतिक शब्द है। जिसका

व्यावहारिक अर्थ है 'चयन' , 'पसंद' , 'इच्छा' या 'मर्ज़ी' । क्या मनुष्य अपने चयन में स्वतंत्र है? सतही स्तर पर लगता है, बिलकुल है! पर इस देश में, इस शहर में, इस घर में, इन माता-पिता से ही हम जन्मेंगे यह भी क्या स्वयं हमारी पसंदगी थी? उत्तर यदि 'हाँ' है तो क्या हम अपनी 'पसंदगी को पसंद' करने में भी सक्षम हैं?

दार्शनिक आर्थर शोपेनहावर ने एक बार कहा था : "आदमी वह कर सकता है जो वह चाहता है, लेकिन उसकी चाह पर उसका कोई अंकुश नहीं है।" चेतन स्तर पर हम एक विकल्प के ऊपर दूसरे विकल्प को चुन सकते हैं, लेकिन दूसरे विकल्प की पसंदगी प्राकृतिक ढंग से हमारे अव-चेतन या अचेतन मन ने की है जिसका हमें अहसास तक नहीं! फिर से यह सवाल पूछते हैं ख़ुद से क्या हम वास्तव में अपनी 'पसंद को चुनने' में स्वतंत्र हैं? शायद असली सवाल यहाँ यह है कि हम जो पसंद करते हैं उसे क्यों पसंद करते हैं? हमारी प्राथमिकताएँ वैसी क्यों है जैसी वह है? क्या हमारी Biology हमारी पसंदगी को प्रभावित करती है या हमारी प्रकृति, संस्कृति या हमारे मन में पूर्व से निहित अपरोक्ष व परोक्ष अनुभवों की कोई सत्ता इसके पीछे कार्यरत है?

चार्ल्स डार्विन के अनुसार चयन के पीछे कुछ नियम कार्यरत होते है, जैसे (१) विरासत का नियम (Law of Inheritance)- इस नियम के अनुसार 'पसंदगी का चयन' हम ख़ुद नहीं बल्कि हमारी प्रकृति (सहज वृत्ति) या हमारी अंतःप्रेरणा करती है जो हमारे Biological Gene - 'जैव विरासत' से निर्धारित होती है। (२) विविधता का नियम (Law of Variation/Randomness) - डार्विन कहते है कि Natural Selection (प्राकृतिक चयन) के पीछे किसी हद तक 'यादृच्छिक विविधता (Random Diversity)' का नियम भी कारण होता है। क्या हम प्रकृति के इस 'यादृच्छिकता' को 'नियति' कह सकते है?

देश और काल से पहले नियति के होने का दावा निरर्थक हो जाता है। संक्षेप में , हमारी 'चयन की स्वतंत्रता' - (१) नियति और (२) कारण-कार्य के सिद्धांत से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है। कई बार कड़ी मेहनत, लगन और नेक इरादे के बावजूद हमें मनचाहा फल नहीं मिलता ऐसी स्थिति में, मनुष्य के लिए अपनी 'निर्णय लेने की क्षमता' और 'उसकी स्वतंत्रता के मूल्य' का विश्लेषण करना स्वाभाविक हो जाता है। क्या अंतिम परिणाम मनुष्य के नियंत्रण से बाहर किसी व्यक्ति या सत्ता द्वारा निर्धारित होता है? उत्तर यदि 'हाँ' है तो मनुष्य का ख़ुद को 'नियति के हाथों की कठपुतली' मानना पड़ेगा।

यह संकट वस्तुतः 'अस्तित्व-संकट (Existential Crisis)' है। इस स्थिति में मनुष्य के समक्ष दो संभावनाएं बचती हैं। (1) निर्णय लेने की स्वतंत्रता से इंसान पीछे हटने लगता है। यह मार्ग न केवल मनुष्य को समाज और खुद से दूर ले जाता है बल्कि उसे एक गहरी चिंता, भय, अवसाद और अंततः आत्महत्या की अवस्था में ला खड़ा कर देता है। (2) गीता का निष्काम कर्म-योग : विपरीत परिणाम के बावजूद, निर्णय लेने की अपनी स्वतंत्रता पर टिके रहना (निर्णय लेने की प्रक्रिया में सचेत भाग लेना) किंतु परिणाम से पीछे हट जाना। मनुष्य कर्म से पीछे नहीं हटता बल्कि परिणाम से हट जाता है। इस दृष्टिकोण का सबसे अच्छा परिणाम यह है कि मनुष्य 'सेवा' का परम मूल्य पा लेता है और सेवा-प्रक्रिया से सतत जुड़े रह कर अपनी भावना के लिए प्रतिबद्ध भी हो जाता है । इस दृष्टिकोण से मनुष्य सरल जीवन अपनाता है, जीवन के भौतिकवादी साधनों से दूर हो जाता है और आवश्यकता को न्यूनतम रखना सीख जाता है।

सार यह है कि 'नियतिवाद' भले एक वास्तविक तथ्य हो पर 'स्वतंत्रता' के विचार से संचालित मन इसके गम्भीर परिणामों को पराजित कर सकता है। डार्विन 'Natural Selection' को ही 'चयन की स्वतंत्रता' कहते है। चूँकि कारण-कार्य एक वैज्ञानिक नियम है और आधुनिक विज्ञान भी 'चयन की स्वतंत्रता को ख़ारिज कर देता है। 'चयन की स्वतंत्रता' का ख़ारिज होना, सीधे तौर पर 'नियतिवाद' का स्वीकार है। गीता का कर्मयोग 'नियतिवाद' का परोक्ष रूप से खंडन करता है पर साथ में 'कारण-कार्य' के नियम को प्रत्यक्ष स्वीकृति भी देता है। पर ध्यान रहें कि गीता

'विज्ञान' का नहीं, 'नैतिकता' का कथन है। (बौद्ध-दर्शन का 'प्रतित्य-समुत्पाद' का नियम भी वस्तुतः कारण-कार्य का ही नियम है।)

'चयन' या 'चयन की स्वतंत्रता' को 'नियति' के एक शब्द में न्यूनतम कर दें और क़ानून (Judiciary) के क्षेत्र में मनुष्य यदि कोई अपराध करता है तो उसे दंडित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वह अपराध करने में समर्थ ही कहाँ था! अपराधी वह नहीं उसकी 'नियति' है! इस तर्क पर तो सब अपराध करने को स्वच्छंद हो जाएँगे। एक ऐसा व्यक्ति जो पूरे मन से विश्वास करता है कि वह जो कर रहा है सिर्फ उसके लिए ही नहीं, बल्कि समूची मानवता के लिए सही है। यही 'नेक नियति' पर श्रद्धा रख कर हज़ारों नाज़ियों ने सुनियंत्रित ढंग से लाखों इंसानों को मौत के घाट उतार दिया था।

3.8 सकारात्मक स्वतंत्रता या 'सम्पूर्ण स्वतंत्रता' और नकारात्मक स्वतंत्रता -

स्वतंत्रता दो प्रकार की होती हैं। एक है सकारात्मक स्वतंत्रता या 'सम्पूर्ण स्वतंत्रता' और दूसरी है नकारात्मक स्वतंत्रता याने 'प्रतिबंधों की उपस्थिति वाली स्वतंत्रता' । पहली 'शर्तों' के भार से मुक्त है, दूसरी में 'दायित्वों' का बोझ है। चार्वाक दर्शन और यूनानी स्टोइक दर्शन पहली व्याख्या के समर्थक है और दूसरी व्याख्या के 'ज़्याँ पॉल सार्त्र और उनका अस्तित्व-वादी दर्शन।

सार्त्र इस विचार को खारिज करते हैं कि हम, हमारी पसंद, या हमारे कार्य - पूरी तरह से हमारे नियंत्रण के बाहर की ताकतों से निर्धारित होते हैं। वह स्पष्ट कहते है "इंसान स्वयं अपनी नियति के लिए ज़िम्मेदार है।" अगर मनुष्य अपने 'चयन की स्वतंत्रता' को नियति के हाथों में छोड़ दे और अपनी निष्ठाएँ और दायित्वों से हाथ छुड़ा लें तो हर हार, हर असफलता को अंततः वह अपनी नियति पर ही थोपेगा। अपने दायित्वों से हाथ छुड़ा लेने के इस पलायन को ही सार्त्र 'Bad Faith' या 'Leap-of-Faith' कहते है। पर साथ ही उन्होंने ने यह भी कहा कि : "Man is condemn to be free." अर्थात् - "स्वतंत्र होने पर मनुष्य निंदा के पात्र बन जाता है।" वह इसलिए क्योंकि वह कहते है "इंसान के पास उसकी स्वतंत्रता को 'अस्वीकार' करने की स्वतंत्रता नहीं है!"

सार्त्र कहते है - "मनुष्य पर चाहे कितना भी दबाव क्यों न हो, 'चयन' के वक़्त वह दृढ़ता से अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है।" 'चयन स्वातंत्र्य न रहें, न सही, 'अ-चयन स्वातंत्र्य' भी तो एक विकल्प है हमारे पास !" मगर इस अधिकार के प्रति जागरूक रहना और सही समय पर इसका प्रयोग करना एक बड़ी चुनौती है क्यूँकि चयन की स्थिति अक्सर एक मनोवैज्ञानिक आवेग में घटती है। मनोवैज्ञानिक Thomas Szasz के अनुसार हर इंसान में कमोबेश 'असामाजिक आवेग' होते हैं, फिर भी उन पर नियंत्रण करना मनुष्य के लिए मुमकिन है।

डार्विन ने अपने संशोधन में 'Natural Selection' की अवधारणा पेश की। उसी को समाज-शास्त्री हर्बर्ट स्पेन्सर ने उन्हीं के काल में 'समाज की उत्पत्ति' से जोड़ दिया। (ज्ञातव्य है की 'Survival of the Fittest' का विचार डार्विन ने नहीं बल्कि हर्बर्ट स्पेन्सर ने दिया था।) हाब्स ने अपने सिद्धांत -'Social Contract' को अपनी किताब 'Leviathan' के ज़रिये पेश किया। यह सिद्धांत बुद्ध और अरस्तू के माध्यमिक मार्ग से प्रेरित है। वह कहते है "Social Contract 'समाज' और 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' का एक संतुलन मात्र है" । जॉन लॉक ने कहा कि "भले कोई समाज/देश 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' को रचें, निर्देशित करें, नियंत्रित भी करें, पर इसे कभी अपने हाथ में न लें।" इससे 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता और प्राकृतिक अधिकारों के बीच समानता स्थापित करने हेतु एक निश्चित दिशा मिलीं और संविधान में पहली बार 'Liberty' की नई अवधारणा केंद्र में आयी ।

'चयन की स्वतंत्रता' इंसान को समाज में अपनी क्षमता के आधार पर व्यवसाय और भूमिका के चयन की भी आज़ादी देता है।इसी के बदौलत पिछले 70-80 सालों में समाज ने एक बहुत बड़ा और सकारात्मक परिवर्तन देखा हैं। समाज में कार्य का वितरण अब जन्म/जाती या वर्ण पर नहीं बल्कि 'व्यक्तिगत क्षमता' पर होता है। बिलकुल इसी तरह घर, समाज और रोज़गार के क्षेत्रों में भी औरत-मर्द की भूमिका में अकल्पनीय बदलाव हुए है। हम बंदर से भले जन्मे हों, जंगल से भले आए हों, पर हम जंगली नहीं है और न ही हमारे मन में भविष्य में महामानव बनने की कोई महत्वाकांक्षा भी जीवित है। संस्कृति ने हमें सभ्य बनाया है। स्वार्थ के साथ सर्वार्थ, दया, करुणा, नीति और समानता के मूल्यों को पहचानना भी समाज ने ही हमें सिखाया है। हमें लायक़ बनाया है कि हम शोषण, मुक्त बाज़ार , निरंकुश सवछंदता, अराजकता जैसे अहम मुद्दों पर अपनी राय रख सकें। स्वतंत्रता की सही व्याख्या पहचान पाएँ। कांट (Immanuel Kant) ने कहा है "अपनी दुर्बलताओं के घेरे से निकलना ही वास्तविक स्वतंत्रता है।"

इच्छा/मर्ज़ी (Will) नीतिशास्त्र में इसका अर्थ है 'संकल्प' (सामाजिक शब्द 'Goodwill' वहीं से प्रेरित है), स्वातंत्र्य (Freedom) शब्द की परिधि वैयक्तिक है। स्वायत्तता (Autonomy) संस्थागत सीमा में बंधा शब्द है। उदारता (Liberty) एक राजनीतिक शब्द है ।

3.9 सारांश

कर्म के सिद्धांत एवं दायित्व की भावना की यह मांग है कि किसी कर्म का कर्ता ही उस कर्म के लिए उत्तरदाई ठहराया जा सकता है । कोई व्यक्ति उचित कर्म कर रहा है या अनुचित प्रत्येक दशा में वही व्यक्ति उसके लिए उत्तरदाई है। परन्तु ऐसा उसी स्थिति में हो सकता है जबकि यह माना जाए की जो व्यक्ति वरण, संकल्प अथवा कर्म करता है वह व्यक्ति वही रहता है और व्यक्ति की इच्छा अकस्मात नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व और चरित्र से निकलती हो। आकस्मिक इच्छा से कोई कार्य होता है तो उसके लिए किसी व्यक्ति को हम उत्तरदाई नहीं ठहरा सकते । प्रत्येक कर्म के लिए व्यक्ति के सामने दो मार्ग होते हैं एक मार्ग उसे लालच या डर या बाह्य कारकों के द्वारा प्रभावित होकर कर्म करने के लिए प्रेरित करता है या निर्देशित करता है और दूसरा उसकी कर्तव्य भावना से। कर्तव्य भावना बाह्य कारकों को ठुकरा देती है और वास्तव में कर्तव्य ही सबसे बड़ा हेतु होना चाहिए ।

3.10 बोध प्रश्न

1. संकल्प की स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं?

2. संकल्प की स्वतंत्रता से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों में से कौन सा सिद्धांत संकल्प स्वतंत्रता की रक्षा करने में समर्थ होता है?

3.11 उपयोगी पुस्तकें एवं संदर्भ ग्रंथ

1.नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत- वेद प्रकाश वर्मा, एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ,नई दिल्ली।

2.नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धांत- डॉ डी आर जाटव, मलिक एंड कंपनी जयपुर ,दिल्ली।

3.नीति शास्त्र की रूपरेखा- अशोक कुमार वर्मा ,मोतीलाल बनारसी दास ,दिल्ली ।

4.नीति शास्त्र की रूपरेखा- डॉक्टर बद्रीनाथ सिंह,आशा प्रकाशन ,वाराणसी।

खण्ड–2 नैतिक निर्णय

खण्ड परिचय

मानव द्वारा स्वतंत्र रूप में सम्पादित किये जाने कर्म का नैतिक दृष्टि से कुछ मानकों के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में विविध प्रकार के कर्मो को करता है। मनुष्य सामाजिक जीवन जीते हुए जिन कर्मों को करता है उसको समाज द्वारा, या तो प्रशंसा की जाती है। या निन्दा की जाती है,प्रायः प्रशंसा या निन्दा का यह भाव शुभ- अशुभ, उचित अनुचित कर्तव्य अकर्तव्य के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार जब किसी व्यक्ति के कर्म को स्पष्ट रूप से शुभ-अशुभ, अचित-अनुचित, कुर्तव्य-अकर्तव्य के रूप में कथन के रूप व्यक्त होता है, तो यह कथन ही नैतिक निर्णय (Statements or judgement) कहलाते हैं। नैतिक निर्णय प्रायः किसी व्यक्ति के विशिष्ट कार्य या व्यक्ति के चरित्र पर दिया गया निर्णय है। इस तरह के निर्णय में व्यक्ति विशेष के विषय मूल्यात्मक कथन किया जाता है। इसलिए मानकीय नीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय प्रमुख रूप से विवेचनीय विषय रहा है, क्योंकि नैतिक दृष्टि से यदि मनुष्य के स्वतंत्र रूप में सम्पादित कर्मो का मूल्याकन न किया जाए तो सत्कर्म को करने की के लिए न तो किसी व्यक्ति को प्रेरित किया जा सकता है और न ही उसे दुष्कर्म को करने से रोका जा सकता है। सर्वप्रथम नैतिक निर्णय के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि निर्णय या कथन Judgements or statements) क्या है? इस प्रश्न के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि जब भी एक ऐसा वाक्य कहा जाए, जिसके आधार किसी व्यक्ति के कर्म के विषय शुभ-अशुभ उचित-अनुचित के रूप में विचार प्रकट किये जाते है, तो उसे नैतिक के रूप में जाना जाता है। तर्कशास्त्र में निर्णय़ उसे कहते है। जो सत्य या असत्य हो सकता है। तर्कशास्त्र निर्णय में सदैव कोई न कोई नवीन सूचना मिलती है इसलिए तार्किक दृष्टि से निर्णय वह है, जो सत्य या असत्य हो सकते हैं और ये निर्णय हमारे समक्ष दो रूपों में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ते हैं

(1) तथ्यात्मक निर्णय (Judgement Fact)

(2) मूल्यात्मक निर्णय (Judgement of Halues) तथ्यात्मक को वर्णनात्मक निर्णय के रूप में भी जाना जाता है। तथ्यात्मक निर्णय वे हैं, जो तथ्यों, वस्तुओं या घटनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन करते हैं, जैसे- विवेकानन्द बहुत ही चरित्रवान व्यक्ति थे हिटलर एक दुष्ट व्यक्ति या चन्द्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह हैं इत्यादि । जहाँ तक मूल्यालक निर्णय की बात है है, तो इस प्रकार का निर्णय किसी तथ्य वस्तु या घटना के ऊपर दिया गया निर्णय होता है। इसी बात को मैककेन्जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है- "नैतिक निर्णय तथ्य के बारे में निर्णय नहीं है, अपितु तथ्य के ऊपर निर्णय ऊपर निर्णय होते है।

म्योरहेड का भी यह कहना है कि तथ्य के विषय में निर्णय तथा तथ्य के ऊपर निर्णय में बहुत अन्तर है। नैतिक निर्णय, तथ्य के ऊपर दिया जाने वाला निर्णय है। नैतिक निर्णय किसी तथ्य के मूल्य एवं महत्व को प्रकट करते हैं। मूल्यात्मक निर्णय भी कई प्रकार के होते है। इस प्रकार मूल्यात्मक निर्णय में यह प्रकार भेंद उस मूल्य या मानक पर आधारित होता है, जिसके आधार पर वे मूल्यात्मक निर्णय दिये जाते हैं। प्रायः नैतिक निर्णय जिन मानको के आधार पर दिया जाता है वे मानक या मूल्य कई प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से तीन प्रकार के मूल्यात्मक निर्णय महत्वपूर्ण जो इस प्रकार है-

(1) सौन्दर्यात्मक निर्णय (Judgement)

(2) तार्किक निर्णय (Logical Judgement) एवं

(3) नैतिक निर्णय Moral Judgement नैतिक निर्णय में मनुष्य के कर्म को लेकर यह विवाद है कि नैतिक निर्णय मनुष्य के कर्म के हेतु पर दिया जाए या मनुष्य के कर्म के परिणाम पर दिया जाए या अभिप्राय जिसमें हेतु एवं परिणाम दोनों ही शामिल है। नैतिक निर्णय के सन्दर्भ में हेतु, परिणाम एवं अभिप्राय की दृष्टि से विचार करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य के कर्मों का मूल्यांकन करने सर्वोत्तम तरीका क्या हो सकता है ऐसे ही प्रश्नों का समाधान नैतिक – निर्णय के इस खण्ड में खोजने का प्रयास किया जा सकता है।

इकाई–4 नैतिक निर्णय का स्वरूप एवं विषय

इकाई की रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 मानकीय नीतिशास्त्र एवं अधिनीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय

4.4 वर्णनात्मक निर्णय एवं मूल्यात्मक निर्णय में अन्तर

4.5 नैतिक निर्णय से सम्बन्धित प्रमुख प्रश्न

4.6 मानकीय नीतिशास्त्र के विकासक्रम में 'चाहिए' और 'है' का अन्तः सम्बन्ध

4.7 अधिनीतिशास्त्र में नैतिक भाषा को ही प्रमुख विवेच्य विषय बनाना

4.8 अधिनीतिशास्त्र का वर्गीकरण

4.9 समीक्षा

4.10 निष्कर्ष

4.11 सारांश

4.12 प्रश्न बोध

4.13 उपयोगी पुस्तकें

4.1 उद्देश्य –

मानकीय नीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय का उद्देश्य सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाले सामान्य मनुष्य के ऐच्छिक कर्मो का मूल्यांकन करना है। प्राय: मानवीय कर्मों का शुभ-अशुभ, उचित -अनुचित कर्तव्य-अकर्तव्य के रूप में मूल्यांकन किया जाता है। नैतिक निर्णय वह कथन है, जिसमें किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना के विषय में मूल्यात्मक निर्णय दिया जाता है। जब हम किसी व्यक्ति के ऐच्छिक कर्म चरित्र या आचरण के विषय में कोई कथन करते हैं, तो हमारा यह कथन ही नैतिक निर्णय के रूप में जाना जाता है। प्रायः निर्णयभी दो प्रकार का होता है- तथ्यात्मक या वर्षनात्मक निर्णय और मूल्यालक निर्णय । तथ्यात्मक निर्णय में किसी वस्तु, या विषय घटना या तथ्य का ज्यों का त्यों करते हैं। मूल्यात्मक निर्णय में किसी मानक के आधार पर तथ्य वस्तु या घटना के विषय में कथन किया जाता है। यह मूल्यात्मक निर्णय भी तीन प्रकार का होता है - तार्किक निर्णय सौन्दर्यात्मक निर्णय एवं नैतिक निर्णय। जब किसी कथन या तर्क वाक्य का सत्य-असत्य के प्रतिमान के आधार पर मूल्यांकन करते हैं, तो वह तार्किक निर्णय कहलाता है। जब

सौन्दर्य को प्रतिमान मानकर किसी तथ्य वस्तु या घटना का मूल्यांकन किया जाता है; तो उसे सौन्दयत्मिक निर्णय कहा जाता है। नैतिक निर्णय किसी मनुष्य के कर्म, आचरण या चरित्र पर दिया के गया निर्णय है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के सभी ऐच्छिक कर्म नैतिक निर्णय के अन्तर्गत आता है। नैतिक निर्णय से समाज का व्यापक मार्गदर्शन होता निर्णय के द्वारा मनुष्य के अच्छे कार्यो की प्रशंसा तथा बुरे कार्यों की निन्दा की जाती है। नैतिक निर्णय के इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति द्वारा मनुष्य यह निर्धारण करने में समर्थ बनता है कि हमारे लिए कौन सा कर्म करणीय है और कौन सा कर्म अकरणीय है।

4.2 प्रस्तावना : -

मानवीय नीतिशास्त्र में हम कुछ मानकों के आधार पर मनुष्य के कर्म का मूल्यांकन करते के आधार हैं। जब हम मनुष्य के किसी ऐच्छिक कर्म को शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, इत्यादि नैतिक दृष्टि से बतलाते हैं, तो वहाँ हम मानवीय कर्म का मूल्यांकन करते हैं। इस प्रकार के मूल्यांकन के द्वारा हम व्यक्ति को उसके उचित आचरण का बोध कराते हैं। यदि मानव समाज में यह बोधन न कराया जाए कि उसका कौन सा कर्म उचित है और कौन सा कर्म अनुचित है, तो ऐसी स्थिति मानव समाज को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए का दिशा निर्देश देना संभव नही रह जाता। हालांकि इस प्रकार का दिशा निर्देश अपने आप में एक बहुत ही कठिन प्रक्रिया है, क्योंकि कभी-कभी मनुष्य,यह निर्णय करने में भी दिग्भ्रमित हो जाता है कि हमारे लिए क्या कर्तव्य हैं और क्या अकर्तव्य है? अतएव आचरण के औचित्य ज्ञान लिए नैतिक निर्णय की आवश्यकता है। नीतिशास्त्रयों में इस बात को भी लेकर विवाद पाया जाता है कि नैतिक निर्णय यदि मूल्यात्मक निर्णय है; तो यह निर्णय मनुष्य के कर्म पर दिया जाए या आचरण पर दिया जाए या उसके चरित्र पर दिया जाए। जहाँ तक प्रश्न यह है कि नैतिक निर्णय मनुष्य के. ऐच्छिक कर्म, या आचरण या चरित्र में से किस पर दिया जाए, तो इसके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि मानवीय कर्मों की समष्टि को आचरण कहा जाता है। मनुष्य के. आचरण का सारतत्व उसका चरित्र कहलाता है। इस प्रकार यदि देखा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि मानवीय चरित्र उसके कर्मों का सबसे सूक्ष्म है और मानवीय कर्म ही सबसे स्थूल रूप में प्रकट होता कर्म पर है। इसलिए नैतिक निर्णय मानवीय कर्म पर ही दिया जाना चाहिए।

4.3 मानकीय नीतिशास्त्र एवं अधिनीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय –

नैतिक निर्णय के स्वरूप पर मानकीय नीतिशास्त्र में निरूपण मिलता ही है; किन्तु अधिनीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय के स्वरूप को स्पष्ट करना अपना लक्ष्य में ही मान लिया है। मानकीय नीतिशास्त्र में निर्णय के निर्णय दो प्रकार माने गये हैं एक 'वर्णनात्मक या तथ्य विषयक निर्णय हैं और दूसरा मूल्य विषयक या समालोचनात्मक निर्णय है। वर्णनात्मक या तथ्य विषयक निर्णय में वस्तुस्थिति का यथा तथ्य निरुपण किया जाता है। वर्णनात्मक निर्णय तथ्य सूचक होता है। वर्णनात्मक निर्णय के अन्तर्गत किसी वैज्ञानिक, मानसिक या ऐतिहासिक घटना का वर्णन होता है, जैसे सूरज पूरब में निकलता है, 'वर्षा हो रही है 'अंग्रेजों 'ने भारत पर राज्य किया था, इत्यादि । दूसरे प्रकार का निर्णय मूल्यात्मक या समालोचनात्मक होता है। वर्णनात्मक निर्णय में जिन तथ्यों या घटनाओं का वर्णन होता है, मूल्यात्मक निर्णय में उसी तथ्य या घटना मूल्यांकन किया जाता है। उदाहरणार्थ - महात्मा गाँधी स्वतंत्रता आन्दोलन के नायक थे' यह एक वर्णनात्मक निर्णय है, किन्तु जब यह कहा जाता है। कि 'महात्मा गाँधी बड़े चरित्रवान व्यक्ति थे' तो यह मूल्यात्मक निर्णय हो जाता है।

4.4 वर्णनात्मक निर्णय एवं मूल्यात्मक निर्णय में अन्तर –

वर्णनात्मक निर्णय एवं मूल्यात्मक निर्णय के स्वरूप के विवेचन में जो बात उभरकर आती है,वह यह है कि वर्णनात्मक निर्णय में तथ्य का निरुपण किया जाता है, जबकि मूल्यात्मक निर्णय में तथ्य का मूल्यांकन किया जाता है। मूल्यात्मक कथनों को भी प्रतिमान के आधार पर अनेक उपवर्गों में विभक्त किया जाता है। सत्यता को प्रतिमान मानकर जब कथनों को सत्य या असत्य के रूप में व्यक्त किया जाता है तो इसे तार्किक मूल्यांकन प्रतिमान कहा जाता है। इसी प्रकार ससैन्दर्य को प्रतिमान मानते हुए यह कहा जाता है कि 'फूल सुन्दर है ; तो यह निर्णय सौन्दर्य को शास्त्रीय मूल्यांकन का प्रकट करता है। नैतिक निर्णय तार्किक मूल्यांकन एवं सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यांकन से पृथक है; क्योंकि नैतिक निर्णय में हम शुभ या 'उचित' यांअच्छा' को प्रतिमान मानते हुए मनुष्य के कर्म, आचरण अथवा चरित्र का मूल्यांकन करते हैं। अतएव नैतिक निर्णय के स्वरूप निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि यह वर्णनात्मक निर्णय से भिन्न है। वर्णनात्मक निर्णय एवं नैतिक निर्णय में निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है।

वर्णनात्मक निर्णय तथ्य निरुपण करते हैं. इसलिए वर्णनात्मक निर्णय है' के रूप में व्यक्त होते हैं और नैतिक निर्णय मूल्यात्मक होते हैं, इसलिए 'चाहिए' के रूप में व्यक्त होते हैं। मानव व्यवहार के विषय में मनोविज्ञान द्वारा प्रस्तुत अध्ययन तथ्यात्मक कथन का उदाहरण है; उदाहरणार्थ-जब यह कहा जाता है कि 'क्रोध । में मनुष्य किसी के भी साथ दुर्व्यवहार करता है, तो यह एक प्रकार मनोवैज्ञानिक निरूपण मात्र है, किन्तु जब यह कहा जाता है किन्तु जब यह कहा जाता है कि क्रोध नहीं करना चाहिए, तो इस कथन में मानव स्वभाव का वर्णन न करके उसके आचरण के विषय में दिया जाता है। एक दिशा निर्देश दिया जाता है। यह निर्देश आदर्शोन्मुख होता है। यही आदर्श शुभ, उचित, कर्तव्य और सद्‌गुण के रूप अभिहित होते हैं।

नैतिक निर्णय किसी घटना या तथ्य का निरूपण नहीं करता है, जबकि वर्णनात्मक निर्णय किसी तथ्य या घटना का निरूपण करते हैं। नैतिक निर्णय मूल्यात्मक या- नियामक निर्णय (Normative Judgement) कहलाते हैं। क्योंकि उसका प्रमुख कार्य किसी घटना या किसी व्यक्ति का मूल्यांकन करना होता है. 'मोहन,राकेश को पीटता है यह एक वर्णनात्मक निर्णय है किन्तु जब यह कहा जाता है कि मोहन ने राकेश को पीटकर बुरा किया' तब यह निर्णय नैतिक निर्णय हो जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत मोहन द्वारा किये गये कर्म का मूल्यांकन किया गया है।

नैतिक कार्य के विषय में न होकर कार्य के ऊपर होता है। मैकेन्जी के अनुसार" नैतिक निर्णय केवल किसी के विषय में निर्णय नहीं है: बल्कि किसी विषय के ऊपर निर्णय है। नैतिक निर्णय में हम किसी नैतिक मानदण्ड के आधार पर विशेष कार्य के अच्छाई-बुराई का निर्णय करते हैं।

नैतिक निर्णय वर्णनात्मक निर्णय से इसलिए भी भिन्न होते हैं; क्यों कि वर्णनात्मक कर्म विशेष का वर्णन मात्र करते हैं, जबकि नैतिक निर्णय किसी मानदण्ड या निष्कर्ष के आधार पर मानव के कर्म या के आचरण को स्पष्ट रूप से शुभ या अशुभ उचित या अनुचित या कर्तव्य या अकर्तव्य घोषित करते हैं। अतएव नैतिक निर्णय अनुमानजन्य होता है; क्योंकि यह एक सामान्य सत्य के उपनय का फल है।

नैतिक निर्णय वर्णनात्मक से पृथक है, क्योंकि वर्णनात्मक" निर्णय या तो व्यक्तिगत होता या विषयगत होता है। जबकि नैतिक निर्णय सर्वगतएवं निरपेक्ष होता है। नैतिक निर्णय का आदर्श सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होने के कारण सर्वगत होता है तथा यह एक "निरपेक्ष आदर्श है; क्योंकि इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए मनुष्य आजीवन प्रयास करता है; फिर भी उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं होता है।

6- वर्णनात्मक निर्णया किसी बाह्य विषय या घटना के विषय में यथातथ्य चित्रण करते हैं; इसलिए विचारात्मक होते हैं। जबकि नैतिक विचारजन्य नहीं होते है। नैतिक निर्णय करते समय हम मनुष्य के किसी कर्म को सहज रूप में समाज के द्वारा अनुमोदित नैतिक मानदण्ड या निकष के अन्तर्गत लाते हुए उसके सत्-असत् या शुभत्व-अशु भत्व भाव का निर्णय करते हैं। केवल विवादास्पद अवस्था में ही हम वास्तविक परिस्थिति का चिन्तन करते हैं।

नैतिक निर्णयों में आप्तता Authortativeness) रहती है, जबकि वर्णनात्मक निर्णयों में आप्तता का होना अवश्यक नहीं है; क्योंकि वर्णनात्मक निर्णय में किसी प्रकार की बाध्यता नहीं होती है जबकि नैतिक निर्णयों में नैतिक बाध्यता होती है। नैतिक निर्णय में विद्यमान बाध्यता के कारण ही मनुष्य इससे भावनात्मक । रूप से सम्पृक्त होता है और उसके अन्दर एक प्रकार के अनुमोदन का भाव पाया जाता है। जब हम किसी कर्म को सत् समझते हैं, तो उसे करने के लिए नैतिक बाध्यता का अनुभव करते हैं और हमारे अन्दर उसके अनुमोदन की भावना का उदय होता है। जब हम उसे असत् समझते हैं, तो उसे न करने की नैतिक बाध्यता का अनुभव करते हैं और उसके प्रति हमारे अन्दर असम्मति का भाव उत्पन्न होता है। सम्मति असम्मति, सन्तोष, पाश्चाताप इत्यादि नैतिक भावनाएं हैं। नैतिक बाध्यता कर्तव्य बुध्दि को कहते हैं। इसीलिए अधिकांश नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि नैतिक निर्णय का स्वरूप बाध्यता मूलक होता है और नैतिक भावनाएँ उसकी सहगामिनी होती हैं। यह नैतिक बाध्यता भौतिक दबाव नहीं है। यह कर्तव्य चेतना पर आधारित है। 'यह कर्तव्य है या 'यह कर्म करना चाहिए,एवं यह अकर्तव्य है। या 'यह कर्म नहीं' करना चाहिए की चेतना या अनुभूति पर आधारित है। अतएव नैतिक निर्णय एक प्रकार का कर्तव्य बोध है।

4.5 नैतिक निर्णय से सम्बन्धित प्रमुख प्रश्न -

नैतिक निर्णय के स्वरूप से सम्बन्धित एक प्रमुख प्रश्न यह उठाया गया है कि 'है' और चाहिए के बीच क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न विभिन्न समयों में दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं, जो निम्नलिखित है- ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के अनुसार' चाहिए' का विकास 'है' से होता है। बीइंग (Being) के बिना वेल बीइंग (Well-Being) संभव नहीं है। बीइंग से वेल बीइंग का विकास ही नैतिक जीवन की प्रक्रिया है। सम्पूर्ण 'यूडिमोनियन नीतिशास्त्र' इसी मान्यता पर आधारित है।

4.6 मानकीय नीतिशास्त्र के विकास क्रम में 'चाहिए' और 'है' का अन्तःसम्भव -

आधुनिक युग के मानकीय नीतिशास्त्र 'चाहिए' और 'है' के अन्तः सम्बन्ध को लेकर दो वर्गो में विभक्त हैं।बेन्थम एवं मिल जैसे नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि 'है' से 'चाहिए' का निगमन हो सकता है ।बेन्थम एवं मिल द्वारा 'है' से चाहिए के निगमन को सिध्द करना उनके द्वारा सुख के शुभत्व को सिध्द करना है। परन्तु बेन्थम एवं मिल के द्वारा 'है' से 'चाहिए' को निगमन को संभव मानने के विरूध्द यह आरोप लगाया जाता है कि यदि 'चाहिए' 'है' में ही विद्यमान है,तो किसी भी आर्दश के लिए प्रयास की आवश्यकता ही नही रह जाती है । ऐसी स्थिति में तथ्य में ही मूल्य को निहित मानना पड़ेगा और नीतिशास्त्र का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। वर्णन एवं मूल्यांकन का भेद समाप्त होते ही नीतिशास्त्र मनोविज्ञान में समाहित हो जाएगा। इसीलिए अनेक नीतिशास्त्रियों ने तथ्य एवं मूल्य को स्वरूपतः भिन्न माना है । इमान्युएल काण्ट ने नैतिक नियमों को प्रागनुभविक माना है। काण्ट के अनुसार नैतिक आदर्श अनुभव- सिद्ध तथ्य नहीं हो सकते। यदि नैतिक आदर्शों को आनुभविक मान लिया जाए, तो इनका आदर्श होना असिध्द हो जाता है। इसी मान्यता के कारण काण्ट के नीतिशास्त्र को आकारिक कहा जाता है। काण्ट के अनुयायियों का यह कहना है कि सर्वोच्च आदर्श की स्थापना करने वाले नीतिशास्त्र का आकारिक होना स्वाभाविक है और यह उसका दूषण न होकर भूषण है। काण्ट का स्पष्ट अभिमत है कि संकल्प की स्वतंत्रता नैतिकता प्रागपेक्षा है और इसकी रक्षा तभी हो सकती है, जब चाहिए' को है' से स्वतंत्र रखा जाए।

4.7 अधिनीतिशास्त्र में नैतिक भाषा को ही प्रमुख विवेच्य विषय बनाना -

बीसवीं शताब्दी में भाषा विश्लेषण के आधार पर विकसित अधिनीतिशास्त्र में यही समस्या भाषा के स्तर पर प्रकट होती है, जिसमें यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है कि नीतिशास्त्र का प्रमुख लक्ष्य नैतिक भाषा के स्वरूप नैतिक निर्णय का अर्थ नैतिक पदों का तात्पर्य और नैतिक निर्णयों के प्रामाणिकता का विवेचन करना है। । इस इसका उद्देश्य जीवन को दिशा देना आदर्शों की स्थापना करना अथवा कर्म या आचरण का मूल्यांकन करना नहीं है। इस प्रकार के दार्शनिकों में कर्म व ए० जे० एयर, आर० एम० हेयर पी० एच० नावेल स्मिथ इत्यादि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। परन्तु नैतिक निर्णय के स्वरूप एवं मानकीय नीति-शास्त्र के सम्बन्ध में अधिनीतिशास्त्रियों का यह दृष्टिकोण आत्मघाती है, क्योंकि अधिनीतिशास्त्र की विषय-वस्तु मानकीय नीतिशास्त्र से हो प्राप्त होती है। यदि मानकीय नीतिशास्त्र का निषेध, कर दिया जाए, तो अधिनीतिशास्त्र स्वयं ही असिध्द और अस्तित्वहीन हो जाता है।

4.8 अधिनीतिशास्त्र का वर्गीकरण -

अधिनीतिशास्त्र वर्गीकरण किया जाता है - का भी दो वर्गों में वर्गीकरण किया जाता है- संज्ञानवाद एवं असंज्ञानवाद। संज्ञानवाद को वर्णनामक नीतिशास्त्र भी कहा जाता है, क्योंकि यह उसी प्रकार वर्णनात्मक होता है, जिस प्रकार तथ्यात्मक निर्णय होते हैं इस प्रकार के नीतिशास्त्रयों का यह मानना है निर्णय एवं तथ्यात्मक कथन द्वारा अभिव्यक्त गुण एक ही प्रकार के ही होते है। इस प्रकार के नीतिशास्त्री दृष्टिकोण को 'प्रकृतिवाद' कहा जाता है। प्रकृतिवाद भी दो प्रकार का है - व्यक्ति निष्ठवाद एवं वस्तुनिष्ठवाद व्यक्तिनिष्ठवाद के समर्थक नीतिशास्त्री डेविड ह्यूम और बर्टेण्ड रसेल का यह मानना अथवा समुदाय की भावना अभिरूचि अथवा इच्छा का वर्णन करता है। अतएव नैतिक निर्णय व्यक्ति अथवा समुदाय के अनुमोदन का वर्णन करता है। वस्तुनिष्ठवाद के समर्थक नीतिशास्त्रियों में प्रमुख रूप से फिलिपाफूट आर० बी० पेरी, जी० जे० वारनाँक एवं पी० टी०गीच हैं, जिनका यह मानना है कि नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की मनोवृत्ति पर आधारित नहीं होते हैं।

संज्ञानवाद का एक दूसरा रूप भी प्रचलित हुऐ, जिसे निप्रकृतिवाद कहा जाता है । इसके अनुसार नैतिक निर्णय की व्याख्या तथ्यात्मक कथनों के आधार पर नहीं की जा सकती । निप्रकृतिवाद का एक प्रमुख रूप अन्तः प्रजावाद है, जो प्रकृतिवाद का खण्डन करता है। अन्तः प्रज्ञावाद भी दो वर्गों में विभक्त है - परिणाम सापेक्षतावादी अन्तः प्रज्ञावाद एवं परिणाम निरपेक्षतावादी अन्तः प्रज्ञावाद । परिणाम सापेक्षतावादी अन्तःप्रज्ञावाद का समर्थन जे ० ई० मूर ने किया है और परिणाम निरपेक्षता- वादी अन्त: प्रज्ञावाद के समर्थक नीतिशास्त्रियों में प्रमुख रूप से एच० ए० प्रिचर्ड, उब्लू डी० राँस हैं। इन दोनों प्रकार के नीतिशास्त्रियों में उचित कर्तव्य इत्यादि पदों का अर्थ शुभ परिणाम के माध्यम से निगमित करने के कारण सापेक्षतावाद का समर्थन करते है, जबकि प्रिचर्ड रॉस शुभ की ही तरह उचित एवं कर्तव्य को अपारिभाष्य मानते हुए परिणाम निरपेक्षतावाद का समर्थन करते हैं।

4.9 समीक्षा -

पाश्चात्य विचारकों में जॉन लॉक, विलियम पेले ब्रूनर, कार्ल बार्थ इत्यादि ने ईश्वरेच्छा के आधार पर शुभ-अशुभ, उचित, अनुचित के निर्धारण का समर्थन किया है। ये विचारक नैतिक निर्णय को धार्मिक कथन से पृथक नहीं मानते। परन्तु पाश्चात्य जगत में धर्म एवं नीति में विद्यमान भेद को पूर्णतया समाप्त करना संभव नहीं? अतः धर्मशास्त्र के आधार पर नैतिक निर्णय की व्याख्या विवादग्रस्त है।

4.10 निष्कर्ष -

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कोई भी निर्णय किसी न किसी आदर्श या निकष या मानदण्ड पर ही आधारित होता है, जिसके आधार किसी वस्तु, कर्म या घटना का मूल्यांकन किया जाता. उसके सम्बन्ध् में कोई कथन किया जाता है। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णय के स्वरूप को लेकर जो भी विचार व्यक्त हुए हैं; उसमें किसी न किसी रूप में नैतिक निर्णय के स्वरूप की महत्ता को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

4.11 सारांश -

नैतिक निर्णय उचित अनुचित, शुभ-अशुभ के रूप में मानवीय कर्म के ऊपर किया गया कथन है। इसलिए किसी भी मनुष्य के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसके लिए उचित कर्म क्या है? जब तक हम यह नहीं जान लेंगे कि व्यक्ति एवं समाज के लिए उचित क्या है; तब तक मनुष्य द्वारा सत्कर्म को किया जाना भी संभव नहीं होगा। अतएव औचित्य का ज्ञान अच्छे कर्म को करने के लिए आवश्यक है। यदि मानवीय कर्म का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन न हो; तो उसका स्वार्थ ही उसके कर्म का सर्वोपरि अभीष्ट बन जाएगा और उसका कर्म न तो समाज को उस प्रकार प्रोत्साहित करेगा और न ही हतोत्साहित करेगा। इसलिए नैतिक निर्णयों के बोध से व्यक्ति एवं समाज दोनों ही का कल्याण होता है। यही कारण है कि नैतिक निर्णय व्यक्ति एवं समाज दोनों को ही लिए उपयोगी है, क्योंकि उसके कर्तव्य का बोध होता है।

4.12 प्रश्न बोधः-

1- नैतिक निर्णय का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। यह वर्णनात्मक निर्णय से किस प्रकार भिन्न है?

2- अधिनीतिशास्त्र का प्रमुख विवेच्य विषय क्या है? अधिनीतिशास्त्र मानकीय नीतिशास्त्र से किन रूपों में भिन्न है?

4.13 उपयोगी पुस्तकें -

1- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण - डॉ० संगम पाण्डेय

2- नीति दर्शन एक नियामक अध्ययन: श्याम किशोर सेठी नीलिमा मिश्रा

इकाई–5 हेतु अभिप्राय एवं परिणाम

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 नैतिक निर्णय का विषय कर्म या आचरण या चरित्र

5.4 ऐच्छिक एवं अनैच्छिक कर्म

5.5 मनुष्य का ऐच्छिक कर्म ही नैतिक निर्णय का विषय है

5.6 कर्म का प्रेरक तत्व हेतु या फल या प्राय

5.7 हेतुवाद के समर्थक नीतिशास्त्री

5.8 फल या परिणामवाद के समर्थक नीतिशास्त्री

5.9 अभिप्रायवाद के समर्थक नीतिशास्त्री

5.10 समीक्षा

5.11 निष्कर्ष

5.12 सारांश

5.13 प्रश्न बोध

5.14 उपयोगी पुस्तकें

5.1 उद्देश्य:-

मानकीय नीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय के विषय को लेकर नीतिशास्त्रियों में कई वर्ग पाये जाते हैं। सभी नीतिशास्त्र इस बात लेकर परस्पर बँटे हुए हैं कि नीतिशास्त्र का विषय क्या है? नीतिशास्त्रियों में इस बात को लेकर प्रमुख विवाद यह है कि मनुष्य के कर्म, आचरण एवं चरित्र में से किसे नैतिक निर्णय का विषय बनाया जाए? इतना ही नीतिशास्त्रियों में इस बात पर भी परस्पर विवाद है कि मनुष्य के अन्दर कर्म करने के लिए प्रमुख रूप से तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ उसे प्रेरित हेतु (Motives), परिणाम या (Consequences) एवं अभिप्राय फल Intentions) । इन तीन प्रकार के मानवीय प्रवृत्तियाँ एक साथ नैतिक निर्णय का विषय तो बन नहीं सकती। जहाँ तक विषय हेतु (Motives का सवाल है; तो यह वह प्रथम कारण हैं। जो किसी सनुष्य को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और परिणाम किसी कर्म के समाप्ति पर प्राप्त होने वाला तत्व है। इसलिए जहाँ हेतु किसी कर्म का पूर्ववर्ती है वहीं परिणाम किसी कर्म का उत्तरवर्ती है। इसलिए किसी कर्म में यह सुनिश्चित करना बहुत कठिन कार्य है कि मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले किसी कर्म में उसका हेतु और परिणाम दोनों ही शामिल होता है कर्म के 'हेतु' और 'फल' में से किसे नैतिक निर्णय का विषय

बनाया जाए? इस प्रकार नीतिशास्त्रियों के दो वर्ग बन गये, जिसमें एक वर्ग हेतुवादियों का और दूसरा वर्ग परिणामवादियों का है। इन दोनों प्रकार के नीतिशास्त्रियों के परस्पर विवाद का कोई समुचित समाधान न मिलने के कारण नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग विकसित हुआ; जिसे अभिप्रायवादी (Intentionalist) के रूप में जाना जाता है। प्रस्तुत इकाई का प्रमुख उद्देश्य नैतिक निर्णय के विषय से सम्बन्धित इसी समस्या से सम्वन्धित विविध पक्षों पर विचार करना है।

5.2 प्रस्तावना :-

मानकीय नीतिशास्त्रियों में इस बात को लेकर भी परस्पर विवाद है कि नैतिक निर्णय मनुष्य के कर्म पर दिया जाए या आचरण पर दिया जाए या मनुष्य के चरित्र पर दिया जाए। यदि इस विवाद को गहराई से देखा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के कर्म, आचरण एवं चरित्र परस्पर इस प्रकार अन्तःसम्बन्धित हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक करके नहीं देखा जा सकता है। मनुष्य का आचरण उसके कर्मों की ही समष्टि है। यही कारण है कि मनुष्य के अभ्यासजनित कर्म को ही उसका आचरण कहते हैं। आचरण का सारतत्व ही चरित्र कहलाता है। इस प्रकार मनुष्य का चरित्र सबसे अधिक सूक्ष्म तत्व है और उसका कर्म सबसे अधिक स्थूल तत्व है। अतएव यदि नैतिक निर्णय की दृष्टि से विचार किया जाए, तो सबसे अधिक स्थूल तत्व होने के कारण मनुष्य कर्म ही नैतिक निर्णय का विषय बनाया जा सकता है।

5.3 नैतिक निर्णय का विषय कर्म या आचरण या चरित्र -

मनुष्य के चाहे कर्म या आचरण में से किसी को नैतिक निर्णय का विषय बनाया जाए किन्तु कर्मों की समष्टि होने के कारण नीतिशास्त्री आचरण को नैतिक निर्णय के लिए अधिक आयुर उपयुक्त मानते हैं। मनुष्य के अभ्यासजनित ऐच्छिक कर्म को ही आचरण कहते हैं। इसलिए ऐच्छिक कर्म (Moluntary action) ही नैतिक निर्णय का विषय है। मनुष्य का यह ऐच्छिक कर्म उसके अनैच्छिक कर्म है। मनुष्य से भिन्न है। सामान्यत: मनुष्य द्वारा किये जाने वाले समस्त कर्मों को विभाजित किया जाता है - ऐच्छिक और अनैच्छिक (Moluntar and Involuntary Moluntary an action) ऐच्छिक कर्म वह है, जो मनुष्य की अपनी इच्छा से, स्वतंत्र संकल्प से हो। मनुष्य के वे सभी कर्म स्वाधीन संकल्प से प्रेरित होकर किये गये होते है जिसे वह सोच-समझकर विभिन्न विकल्पों में से किसी एक को चुनकर स्वतंत्र रूप से अपनी इच्छा से करता है। मनुष्य द्वारा स्वतंत्र इच्छा से प्रेरित कर्म में किसी प्रकार का बाह्य दबाव या प्रलोभन काम नहीं करता है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा से तात्पर्य स्वतंत्र संकल्प से है। ऐच्छिक कर्म को ही संकल्पित कर्म (vlilled action) भी कहते है।

5.4 ऐच्छिक एवं अनौच्छिक कर्म -

मनुष्य बहुत सारे ऐसे कार्य करता है। स्वतंत्र संकल्प प्रेरित होकर नहीं किया जाता है । हमारे न चाहने पर भी बहुत से कर्म हमारे द्वारा होते है। इस प्रकार के कर्म को अनौच्छिक कर्म कहा जाता है। ऐसे सभी मानवीय कर्म अनौच्छिक कर्म के अन्तर्गत आते है जो किसी विवशता के कारण होता है।या किसी भय अथवा प्रलोभन के कारण होता है। मनुष्य के ऐसे सभी कर्म जो अनैच्छिक हैं। वे सभी नैतिक निर्णय के अन्तर्गत नहीं आते हैं। वास्तविकता यह है कि मनुष्य के ऐच्छिक एवं अनैच्छिक कमों के बीच भेद संकल्प (Mill) को ही लेकर ही है। जिस कर्म को लेकर सनुष्य संकल्प करता है, वह ऐच्छिक या संकल्पित कम (Milled action) है; तथा जिसके लिए संकल्प नहीं करता वह अनैच्छिक कर्म है। अनैच्छिक कर्मो के अन्तर्गत निम्नलिखित कर्मों को को सम्मिलित किया जाता है-

(1) मनुष्य के वे सभी कर्म अनैच्छिक कर्म कहलाते हैं, जो उसके द्वारा सहज या स्वाभाविक रूप में होते हैं; जैसे पलकों का गिरना, साँस लेना, हृदय की धड़कन, रक्त संचार, पाचन क्रिया आदि।

(ii) मानसिक एवं शारीरिक विकारजन्य (Psycho-Physical disposition) कर्म अनैच्छिक कर्म कहलाते हैं। जैसे पागल व्यक्ति का गाली बकना, बीमार व्यक्ति द्वारा अनाप-शनाप शब्दों का प्रयोग करना इत्यादि।

(iii) आकस्मिक कर्म (Accidental actions) भी अनैच्छिक कर्म के अन्तर्गत आता है, जैसे किसी भी व्यक्ति को यात्रा के दौरान दुर्घटना में मृत्यु हो जाना; किसी का किसी अप्रिय व्यक्ति से भेंट का हो जाना इत्यादि।

(IV) मनुष्य के सभी अज्ञानजन्य कर्म (ignorant actions) अनौच्छुक कर्म के अन्तर्गत आते है,जैसे बालक या मूर्ख व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला कोई कर्म।

(V) किसी मनुष्य से भयवश या दवाव या विवशता के कारण किया गया कार्य अनैच्छिक कर्म कहलाता है,जैसे किसी से प्राण का भय दिखाकर कोई को कार्य करवाना। अभी तक ऐच्छिक एवं अनैच्छिक कर्म के भेद का प्रमुख उद्देश्य नैतिक निर्णय के विषय से सम्बन्धित सभी प्रकार के भ्रान्तियों का निराकरण करके यह स्पष्ट करना है कि नैतिक निर्णय का विषय केवल दो प्रकार के कर्म है- ऐच्छिक कर्म तथा अभ्यासजनित कर्म। मानकीय नीतिशास्त्रियों में ऐच्छिक कर्म को नैतिक निर्णय का विषय मानने में कोई विवाद नहीं है। यदि नीतिशास्त्रियों के बीच किसी प्रकार का मतभेद है, तो वह अभ्यासजनित कर्म को लेकर पाया जाता है। कुछ नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि अभ्यासजनित कर्म भी स्वभावतः होने लगते हैं। इसलिए अभ्यासजनित कर्म को भी अनैच्छिक कर्म की कोटि में रखा जाना चाहिए। परन्तु नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो यह मानता है कि अभ्यासजानित कर्म भी बारम्बार किये गये ऐच्छिक कर्म का ही एक रूप है, जिसमें मनुष्य के इच्छा शक्ति का हाथ होता है। अतएव अभ्यासजनित कर्म भी ऐच्छिक कर्म है और इस प्रकार का भी कर्म नैतिक निर्णय के विषय के अन्तर्गत आता है। इसी आधार अरस्तू आदि महान दार्शनिक सभ्यासजनित कर्म को भी ऐच्छिक कर्म मानकर इसे नैतिक निर्णय का विषय बतलाते हैं।

5.5 - मनुष्य का ऐच्छिक कर्म ही नैतिक निर्णय का विषय है

मनुष्य का ऐच्छिक कर्म ही नैतिक निर्णय का विषय है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य का ऐच्छिक कर्म ही नैतिक जटिल प्रक्रिया है। ऐच्छिक कर्म भी किसी इच्छा के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त ऐच्छिक कर्म कभी-कभी किसी अभाव को पूरा करने के लिए भी उत्पन्न होता है। जब हम की पूर्ति के लिए कोई कर्म करने चलते हैं तो उस समय हम कई प्रकार की जटिल प्रक्रियाओं से गुजरते हैं। उस समय सबसे पहले हमें यह सुनिश्चित करना पड़ता है किअभाव की पूर्ति के लिए किस प्रकार के साधन का सहारा लेते है । हमारे समक्ष उस अभाव की पूर्ति के लिए कई प्रकार के विकल्प उपस्थित होते है। जिन सभी विकल्पों पर विचार – विमर्श करते है। इस विभिन्न प्रकार के इच्छाओं के बीच संघर्ष चलता है और इनमें एक इच्छा जो बलवती होती है, उसी का चुनाव करके हम किसी कर्म को करने चलते है। जब हम किसी कर्म को करने का मानसिक रूप से निश्चिय कर लेते है,तो उसके लिए हमारे शरीर में सक्रियता पायी जाती है।

हम शारीरिक रूप से सक्रिय होकर जब किसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं; तो उस कर्म के समाप्ति पर हमें कोई बाह्य फल भी प्राप्त होता है। अतः ऐच्छिक कर्म के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि ऐच्छिक व्यापार होता है-

(A) आन्तरिक या मानसिक व्यापार -

हम किसी चीज की कमी या अभाव का अनुभव करते हैं जिसे दूर करने की इच्छा हमारे मन में उत्पन्न होती है। यह कर्म में प्रवृत्त होने के पहले का मानसिक या आन्तरिक व्यापार है।

(B) शारीरिक व्यापार -

किसी कर्म का सम्पादन शरीर के द्वारा ही होता है। मन में कोई इच्छा बाह्य रूप में तभी फलित होती. है जब उसे पाने के लिए हमारी शरीर सक्रिय होती है। हम अपने साध्य की प्राप्ति के लिए उन साधनों की सहायता लेते हैं, जिससे साध्य की प्राप्ति संभव होता है। अतएव साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों की सहायता से शारीरिक प्रयास की आवश्यकता होती है।

(C) बाह्य-व्यापार -

शारीरिक रूप सक्रिय होने के पश्चात हम साध्य की प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं। जब हमें साध्य की प्राप्ति हो जाती है; तो हम सन्तुष्टि का अनुभव करते है। साध्य की प्राप्ति न होने पर एक प्रकार का मन में असन्तोष होता है।

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि इन तीनों में किसे प्रमुख मानकर नैतिक निर्णय किया जाए? किसी कार्य की प्रेरणा या हेतु (Moteiess) या प्रयास को या फल या परिणाम (Consequences) को किसे नैतिक निर्णय के लिए समुचित विषय माना जाए? यदि किसी कर्म का हेतु या फल नैतिक निर्णय का विषय नहीं हो सकता तो कर्म के अभिप्राय को नैतिक निर्णय का विषय बनाया जा सकता है? इस प्रकार के विविध प्रश्नों को ही समाधान पाने का प्रयास विभिन्न नीतिशास्त्रयां द्वारा किया गया है।

नैतिक निर्णय के स्वरूप के निवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नैतिक निर्णय वर्णनात्मक कथन से पृथक होता है, क्योंकि यह नैतिक मानदण्ड के आधार पर कर्म आचरण, अथवा चरित्र का मूल्यांकन करता है। नैतिक निर्णय के विषय निर्धारित करते समय कुछ विचारक यह मानते हैं कि यह चरित्र पर दिया गया निर्णय है । कुछ अन्य विचारक उसे आचरण का मूल्यांकन कहते हैं। नीहिशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा है जो मानव के ऐच्छिक कर्म को नैतिक निर्णय का विषय मानता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि चरित्र, आचरण एवं कर्म में कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्मों के समुच्चय को ही आचरण कहते हैं और आचरण का सारतत्व चरित्र कहलाता है। इस प्रकार कर्म, कर्म से आचरण एवं आचरण से चरित्र तक पहुंचना संभव है पुनश्च चरित्र का ही स्थूल रूप आचरण है और आचरण का विभाजन कर्म के रूप में होता है। अतः चरित्र आचरण, एवं कर्म को पृथक-पृथक चरित्र मानना उचित नहीं है। चरित्र आचरण एवं कर्म में सबसे अधिक स्थूल रूप कर्म का है। अतएव कर्म को ही नैतिक निर्णय का विषय मानना अधिक उपयुक्त लगता है।

5.6 कर्म का प्रेरक तत्व हेतु या फल या अभिप्राय -

मानव कर्म अनेक प्रकार के होते हैं। मनुष्य का ऐसा कर्म जो सहज एवं यांत्रिक रूप में होता है. अनैच्छिक कर्म कहलाता है। मनुष्य का अनैच्छिक कर्म नैतिक निर्णय का माना जा सकता है। आदतजन्य कर्म भी मनुष्य द्वारा बार-बार किये गये कर्म का हो रूप होता है, इसलिए मनुष्य का आदतजन्य कर्म नैतिक निर्णय का विषय होता है। आदतजन्य कर्म मूलत: ऐच्छिक होते हैं; इसलिए प्रायः हम आदतों को भी उचित-अनुचित शुभ-अशुभ एवं कर्तव्य - अकर्तव्य कहते हैं। मनुष्य द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मों में स्वैच्छिक कर्म ही निर्विवाद रूप से नैतिक निर्णय का विषय है, क्योंकि ऐसे कर्म का संपादन मनुष्य जानबूझकर एवं सोच-समझकर करता है। मनुष्य द्वारा किये गये स्वैच्छिक कर्म को स्पष्ट रूप से नैतिक निर्णय का विषय बनाते हुए शुभ-अशुभ, कर्तव्य- अकर्तव्य एवं उचित-अनुचित घोषित किया जाता है। परन्तु यदि स्वैच्छिक कर्मों का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक स्वैच्छिक

कर्म के पीछे एक प्रेरक' हेतु' पाया जाता है, जो कर्म के संपादन के निमित्त कर्ता को प्रेरित करता है। कर्म के हेतु के साथ-साथ प्रत्येक स्वैच्छिक कर्म का कुछ न कुछ परिणाम होता है। प्रत्येक कर्म का जिस तत्व से प्रभावित होने के कारण आरम्भ होता है। उसे ही (हेतु' (Motives) कहते हैं और कर्म की पूर्णता है, के पश्चात उत्पन्न होने वाला तत्व 'परिणाम' या 'फल' (Consequences) कहलाता है। प्रत्येक कर्म का कोई न कोई प्रयोजन होता है, जिसे अभिप्राय' (Intentions) जाता है। 'अभिप्राय' में कर्म का 'हेतु' एवं 'फल' दोनों सम्मिलित रहता है। नीतिशास्त्रियों में नैतिक निर्णय के विषय को लेकर विवाद यह है,कि नैतिक निर्णय का विषय कर्म के हेतु (Motives)को बनाया जाए या कर्म के फल को या कर्म के अभिप्राय को प्रायः नैतिक निर्णय के विषय को लेकर नीतिशास्त्री कई वर्गों में विभक्त हैं।

5.7 (1) हेतुवाद के समर्थक नीतिशास्त्री -

नीतिशास्त्रयों का एक वर्ग ऐसा है, जो कर्म के "हेतु' को ही नैतिक निर्णय का विषय बनाता है। इस प्रकार के नीतिशानियों में बटलर एवं कांण्ट जैसे सहजज्ञानवादी समेत प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इस वर्ग के नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि किसी कर्म, को उचित समझकर हम उस कर्म में इसलिए प्रवृत्त होते हैं क्योंकि उसका हेतु हमें उचित प्रतीत होता है। हेतु ही किसी कर्म का आरम्भिक प्रेरक तत्व है, जो मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त कराता है। इसलिए हेतु को परिणाम ही नैतिक निर्णय का विषय बनाया जा सकता है। परिणाम को नैतिक निर्णय का विषय इसलिए नहीं बनाया जा सकता है,क्योंकि परिणाम किसी कर्म की समाप्ति के बाद उत्पन्न होने वाला तत्व है; जबकि किसी कर्म को आरम्भ करते समय कर्त्ता उसे उचित मानकर ही उसमें प्रवृत्त होता है। बटलर की दृष्टि में परिणामवाद या फलवाद तर्कत: असंगत है; क्योंकि यह परवर्ती को पूर्ववर्ती पूर्व सिध्द करने का प्रयास है। बटलर के अनुसार किसी कर्म का सत-असत भाव अधिकांशतः उस प्रेरणा पर निर्भर होता है. जिसके लिए उसे किया जाता है।

काण्ट के अनुसार कर्म का हेतु ही कर्म के नैतिक मूल्य का निर्धारक है। काण्ट के अनुसार प्रज्ञा के आदेश ही कर्तव्य हैं। कर्तव्य के पालन एवं अकर्तव्य के त्याग का निर्देश सदिच्छा देती है। इसलिए काण्ट सदिच्छा को स्वतः शुभ मानता है। सदिच्छा के स्वतःशुभ होने के कारण उससे प्रेरित कर्तव्य भी शुभ होते हैं; चाहें इनका परिणाम कुछ भी हो। इसी से काण्ट यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्ग के नैतिक मूल्यांकन में परिणाम की कोई भूमिका नहीं होती है। काण्ट का मानना अन्य दृष्टियों से परिणाम महत्वपूर्ण हो सकता है; किन्तु नैतिक दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है।

हेतुवाद के समर्थक नीतिशास्त्री अपने मत की पुष्टि के लिए उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब कोई चिकित्सक किसी रोगी को रोगमुक्त कर करने हेतु शल्यचिकित्सा के लिए प्रवृत्त होता है, तो वह पूर्णत: विश्वस्त होता है कि उसका कर्म उचित है। उसे इस औचित्य का बोध अपने अन्तःकरण से हो जाता है। शल्यक्रिया का परिणाम इस कर्म के औचित्य को प्रभावित नहीं कर सकता। इस प्रकार सहज ज्ञानादियों स्पष्ट रूप से यह मानना है कि हमारे कर्मों के प्रेरक तत्व ही उसे उचित-अनुचित शुभ-अशुभ या कर्तव्य - अकर्त्तव्य बनाते हैं।

5.8 (2) फलवाद या परिणामवाद के समर्थक नीतिशास्त्रो -

नीतिशास्त्रियों का एक ऐसा भी वर्ग है, जो कर्म के ' परिणाम फल' Consequences) को नैतिक निर्णय का विषय मानता है। इस वर्ग के प्रमुख नीतिशास्त्रियों में सुखवाद का समर्थन करने वाले नीतिशास्त्री हैं। जरमो वे बेन्थम, जे० एस०मिल एवं हेनरी सिजविक ने नैतिक निर्णय के विषय के रूप में परिणामवाद का समर्थन किया है। बेन्थम के अनुसार सुख कर्म का एकमात्र शुभपरिणाम है। सुख ही कर्म के शुभत्व का निर्धारण करता है। बेन्थम ने कहा है कि कोई कर्म उसी अनुपात में शुभ या अशुभ होता है, जिस अनुपात में वह सुख या दुःख को उत्पन्न करता है। बेन्थम के अनुसार कर्म का शुभत्व सुख एवं अशुभत्व दुःख के समानुपाती होता है। इस प्रकार बेन्थम कर्म के शुभत्व निर्धारण

करते समय सुख की मात्रा को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। सुख की मात्रा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'सुखवादी फलन सिध्दान्त' को प्रतिपादित किया है। परिणामवाद की पुष्टि करते हुए बेन्थम ने कहा है कि प्रकृति ने सम्पूर्ण मानव जाति को सुख-दुःख के साम्राज्य में रखा है। मनुष्य का कर्तव्य है- अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना और दुःख से छुटकारा पाना है। बेन्थम के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि कर्म से उत्पन्न होने वाले सुख या दुःख ही शुभ अशुभ, उचित – अनुचित एवं कर्त्तव्य - अकर्त्तव्य के निधारक हैं बेन्थम ने हेतुवाद की आलोचना करते हुए यह भी कहा है कि वास्तव में कर्म का फल ही कर्म का हेतु होता है। फल से प्रेरित होकर ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है।

बेन्थम की ही भाँति जे० एस० मिल भी परिणामवाद का समर्थन करते हैं। जे० एस० मिल बेन्थम की इस मान्यता से सहमत नहीं हैं कि समस्त सुख एक ही प्रकार के होते हैं। बेन्थम में समस्त सुखों को एक ही प्रकार मानकर सुखों के मात्रात्मक भेद को ही मान्यता प्रदान किया और सुखों के गुणात्मक भेद को कोई महत्व नहीं दिया।

जे० एस० मिल का मानना है कि सुखों में गुणात्मक भेद न मानने पर मानवीय सुख एवं पाशविक सुख में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। इस प्रकार यद्यपि जे० एस० मिल इस बात पर बेन्थम से सहमत हैं कि नैतिक निर्णय का विषय कर्म का परिणाम है; किन्तु वे विभिन्न प्रकार के सुखों में गुणात्मक भेद को स्वीकार करते हैं। मिल यह कहते हैं कि किसी कर्म का उचित होना और उसका सुखद होना दोनों एक ही बात है। मिल भी यहाँ यह स्वीकार करते हैं कि किसी कर्म से उत्पन्न वाला परिणाम यदि सुखद है; तो वह उचित या शुभ है। इस प्रकार सुखदता ही कर्म के औचित्य का निर्धारक है। परन्तु जे० एस० मिल सुखों के गुणात्मक भेद को स्वीकार करके सुखवाद की मूल मान्यता से ही विचलित हो जाता है; क्योंकि अधिकतम सुख के स्थान पर वह उच्चतम सुख को मानक के रूप में स्वीकार कर लेता है। किन्तु उस स्थिति में भी नैतिक निर्णय का विषय परिणाम या फल ही बना रहता है, चाहे वह अधिकतम सुख या उच्चतम सुख । जे० एस० मिल का यह प्रसिध्द कथन है कि - "सन्तुष्ट सूकर होने की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना अधिक श्रेयस्कर है।"

जे० एस ० मिल अपने उपर्युक्त कथन में अनजाने में सुखवाद की परिधि को लाँधते हुए मूल्यवाद को दहलीज पर खड़े हो जाते हैं। हेनरी सिजविक को जे० एस० मिल की उपर्युक्त बात स्वीकार्य नहीं है। सिजविक सुखों में गुणात्मक भेद को अमान्य घोषित करते हैं और बौद्धिक सुखवाद की स्थापना करते हैं। सिजविक ने 'सुखों के विरोधाभास' को दिखाते हुए बुध्दिमूलक उपयोगितावाद' का समर्थन किया है। सिजविक के बुध्दिमूलक उपयोगितावाद के विवेक सहानभूति एवं समदृष्टि आधारभूत तत्व है, जिसके द्वारा सिजविक बौध्दिक सुखवाद की पोषण करते हुए नैतिक निर्णय के विषय के रूप में परिणामवाद का ही समर्थन करते हुए दिखायी पड़ते हैं।

परन्तु नैतिक निर्णय का विषय निर्धारित करते समय यदि किसी कर्ग का हेतु एवं परिणाम दोनों ही अच्छा हो, तो उस कर्म शुभ या या उचित कहने में कोई कठिनाई नहीं होती है। इसी प्रकार यदि कर्म का हेतु और परिणाम दोनों ही बुरा हो, उसे अशुभ या अनुचित कहने में कोई विवाद नहीं है। एक ऐसा कर्म जिसका हेतु और परिणाम दोनों ही शुभा या उचित है, उसका उदाहरण इस प्रकार है-

" एक चिकित्सक अच्छे हेतु से प्रेरित होकर किसी रोगी की शल्यचिकित्सा करता है और रोगी रोगमुक्त हो, जाता है; तो चिकित्सक का यह कर्म निर्विवाद रूप से शुभ होगा। एक ऐसा कर्म जिसका हेतु और परिणाम दोनों ही अशुभ है, उसका उदाहरण इस प्रकार है-

एक विद्यार्थी जो प्रतिदिन अपने शिक्षण संस्थान के हेतु से प्रेरित होकर जाता है, और वहाँ जाकर प्रतिदिन किसी विद्यार्थी को मारता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह शिक्षक के द्वारा दण्डित किया जाता है। यहाँ कर्म का हेतु एवं परिणाम दोनों ही अशुभ है।"

किसी कर्म के हेतु एवं परिणाम को लेकर विवाद तब उत्पन्न होता है, जब किसी कर्म का हेतु अच्छा और परिणाम बुरा हो या किसी कर्म का बुरा होने पर भी परिणाम अच्छा होता है। सद् हेतु और बुरे परिणाम का एक उदाहरण इस प्रकार है - "यदि कोई व्यक्ति सत् हेतु से प्रेरित होकर किसी साधु को दान देता है और साधु उस पैसे से, शराब पीकर सड़क दुर्घटना में मर जाता है, तो यहाँ कर्म का हेतु अच्छा होते हुए भी परिणाम बुरा हो जाता है।"

कभी-कभी किसी कर्म का हेतु तो बुरा होता है। किन्तु उसका परिणाम अच्छा होता है, जैसे- यदि किसी व्यक्ति द्वारा किसी भिखारीका सिर फोडने के हेतु से प्रेरित होकर मकान के छत सेपाँच रूपये का सिक्का फेंका जाता है और वह सिक्का भिखारी को न लगकर उसके बगल गिरता है और वह उसे उठाकर दुकान पर जाकर कुछ खाकर अपनी भूख मिटाता है। तो सिक्का फेंकने वाले व्यक्ति का हेतु तो बुरा या,किन्तु उसका परिणाम तो अच्छा है। यहाँ कर्म का हेतु हेतुवादियों के दृष्टि में बुरा है, किन्तु परिणामवादियों की दृष्टि में अच्छा है।

5.9 अभिप्रायवाद के समर्थक नीतिशास्त्री -

हेतुवाद के समर्थकों एवं परिणामवाद के समर्थकों प्रत्यवाय के बीच उत्पन्न नैतिक निर्णय के विषय में विवाद के समाधान के लिए कुछ नीतिशारित्रयों ने अभिप्राय या प्रयोजन का विषय (Intentions) को नैतिक निर्णय का विषय मानने का सुझाव दिया है। इन नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि नैतिक निर्णय व्याक्ति के अभिप्राय या प्रयोजन पर दिया जाता है। इन नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि अभिप्राय या प्रायोजन के अन्तर्गत कर्म का पूर्ववर्ती हेतु और परवर्ती परिणाम दोनों ही सम्मिलित है; जैसे- "यदि कोई विद्यार्थी विद्याध्ययन के अभिप्राय या प्रयोजन से किसी संस्था, में प्रविष्ट होता है , तो उसके अभिप्राय या प्रयोजन में हेतु और परिणाम दोनों का औचित्य सम्मिलित है।"

इस प्रकार हेतु और परिणाम के विवाद को पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों अभिप्रायवाद को प्रस्तावित करके समाप्त करने का प्रयास किया, किन्तु अभिप्राय भी नैतिक निर्णय के विषय की समस्या का पूर्णतया समाधान नहीं कर पाता। अभिप्रायवाद का सूक्ष्म विश्लेषण करने परविवाद नये रूप में उपस्थित होता है। प्रश्न उठता है कि अभिप्राय किसे कहते हैं? यदि म्यूरहेड के उक्ति को उचित माना जा, तो हेतु वह है जिसके लिए कर्म किया जाता है। और अभिप्राय वह है जिसके लिए ताथा जिसके बावजूद भी कर्म किया जाता है।

यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि अभिप्राय में कर्म का हेतु और किसी परिणाम दोनों सम्मिलित है,तो प्रश्न उठता है कि यदि किसी कर्म में एक अच्छा है और दूसरा बुरा है, तो उस अभिप्राय को क्या नैतिक मूल्य दिया जाएगा। एक ही अभिप्राय हेतु की दृष्टि उचित और परिणाम की दृष्टि से अनुचित या हेतु की दृष्टि से अनुचित एवं परिणाम की दृष्टि से उचित हो सकता है। ऐसी स्थिति में समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है।इसलिए नातिक दृष्टि से किसी कर्म के औचित्य एवं अनौचित्य के निर्धारण को कुछ नीतिशास्त्र साध्य एवं साधन के रूप में ग्रहण करते हैं और इसे साध्य एवं साधन की समस्या मान लेते है।

5.10 समीक्षा -

नैतिक निर्णय के विषय का साध्य-साधन की सहायता से समाधान प्रस्तावित करने वाले नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि मनुष्य किसी साध्य की प्राप्ति के लिए ही अपना कर्म करता है और साध्य की प्राप्ति के लिए कुछ साधनों

का उपयोग करता है। इसलिए मनुष्य के कर्म के अनौचित्य का निर्धारण साध्य एवं साधन के रूप में किया जाना चाहिए।

5.11 निष्कर्ष -

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि नैतिक निर्णय विषय कर्म के हेतु को 'मान लिया जाए, तो कर्म फल के अनुचित होने पर कर्म के हेतु को भी अनुचित मानना पड़ेगा।

कभी-कभी कर्म का हेतु तो अनुचित होता; किन्तु कर्म का फल उचित हो जाता है और ऐसी स्थिति में कर्म के हेतु अनुचित ठहराना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता है। इसलिए नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा है, जो इस समस्या का समाधान यह कह कर देते हैं कि नैतिक निर्णय का विषय कर्म का सम्पूर्ण आन्तरिक पक्ष है, जिसमें कर्म अभिप्राय में ही ऐच्छिक एवं अनैच्छिक कर्म का के परिणाम भी समाहित है। मनुष्य का अभिप्राय उसका वह आन्तरिक तत्व है। जिसमें कर्त्ता के सम्पूर्ण चरित्र की ही अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार नैतिक निर्णय का विषय किसे माना जाए यह समस्या पुन: समाधान अपेक्षा करती है। कुछ नीतिशास्त्री नैतिक निर्णय को व्यक्ति सापेक्ष मानते हैं और कुछ नीतिशास्त्रो इसे व्यक्ति निरपेक्ष मानते हैं। इस समय नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो साध्य एवं साधन के आधार पर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किये है। किन्तु अब भी नैतिक निर्णय के विषय पर नीतिशास्तियों के बीच मतभेद बना हुआ है।

5.12 सारांश -

प्रस्तुत इकाई में नैतिक निर्णय के विषय के रूप मैं कर्म के हेतु, फल एवं अभिप्राय का विवेचन करते हुए यह आंकलन करने का प्रयास किया गया है कि नैतिक निर्णय का विषय इनमें किसे माना जाए? अन्तत: यह देखने का प्रयास किया गया है कि याद कर्म के हेतु, फल, और अभिप्राय में से कोई. नैतिक निर्णय के विषय के रूप में उचित नहीं माना जा सकता, तो ऐसी स्थिति में क्या साध्य एवं साधन के द्वारा इसको समुचित व्याख्या संभव है। वास्तविकता यह है कि नैतिक निर्णय के विषय को लेकर नीतिशास्त्रियों में अभी तक कोई सहमाते दिखायो नहीं पड़ती है।

5.13 - उपयोगी प्रश्न -

1- नैतिक निर्णय के विषय के रूप में हेतुवाद का विवेचन कीजिए। क्या कर्म का हेतु नैौतिक निर्णय का विषय हो सकता है? समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

2. नैतिक निर्णय के विषय के रूप में फलवाद उचित व्याख्या हो सकता है? समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

3 - नैतिक निर्णय के स्वरूप का विवेचन कीजिए। क्या अभिप्रायवाद नैतिक निर्णय के विषय के रूप में उचित व्याख्या हो सकता है। समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

5.14 उपयोगी पुस्तकें

1- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण डॉ. - संगम लाल पाण्डेय

2. नीति दर्शनः एक नियामक अध्ययन -श्याम किशोर सेठः नीलिमा मिश्र

इकाई–6 साध्य और साधन

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 साध्य क्या है?

6.4 साधन क्या है?

6.5 साध्य और साधन का अन्तः सम्बन्ध

6.6 साधनवादी नीतिशास्त्री

6.7 साध्यवादी नीतिशास्त्री

6.8 नैतिक निर्णय नीतिशास्त्र सम्बन्धित तथ्य हैं

6.9 परिणाम निरपेक्षतावादी सिध्दान्त के समर्थक नीतिशास्त्री

6.10 परिणाम सापेक्षतावादी सिध्दान्त के समर्थक नीतिशास्त्री

6. 11 नियम आधारित कर्तव्यवाद के समर्थक नीतिशास्त्री

6.12 परिस्थिति आधारित कर्तव्यवाद के समर्थक नीतिशास्ती

6.13 समीक्षा

6.14 निष्कर्ष

6.15 सारांश

6.16 प्रश्नबोध

6.17 उपयोगी पुस्तकें

----------000----------

6.1 उद्देश्य – नैतिक निर्णय से सम्बन्धित एक प्रमुख समस्या साध्य एवं साधन से सम्बन्धित है। मानकीय नीतिशास्त्र में साध्य एवं साधन से सम्बन्धित समस्या को लेकर जो प्रमुख प्रश्न उठता है वह तीन रूपों में हमारे समक्ष प्रकट होता है- क्या साध्य साधन को उचित ठहराता है (Does an end justify the means?)दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या साधन साध्य को उचित ठहराता है Does a mean justify the ends तीसरा प्रश्न यह उठता है कि किसी भी कर्म को नैतिक

दृष्टि से उचित होने के लिए क्या साध्य एवं साधन दोनों का ही पवित्र या उचित होना आवश्यक है।. इस इकाई का उद् देश्य साध्य एवं साधन से सम्बन्धित इस नीतिशास्त्रीय समस्या के विविध पक्षों पर विचार किया गया है।

6.2 प्रस्तावना -

मानकीय नीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय,से सम्बन्धित साध्य एवं साधन से सम्बन्धित समस्या को लेकर नीतिशास्त्री तीन वर्गों में बँटे हुए है। नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा है, जो किसी कर्म के औचित्य के लिए साध्य का उचित होना आवश्यक मानते हैं। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले नीतिशास्त्री यह मानते हैं कि यदि किसी कर्म का साध्य उचित है; तो उसका साधन अपने आप उचित हो जाता है और साध्य यदि पवित्र नहीं है तो साधन कितना भी पवित्र हो उसका हमारे लिए कोई अर्थ नहीं होता है। नीतिशास्त्रियों का दूसरा वर्ग वह है; जो यह मानते हैं कि यदि किसी कार्य में प्रयुक्त साधन उचित है, तो उससे जिस साध्य की प्राप्ति होती है; वह स्वयं ही उचित हो जाता है। परन्तु साध्य एवं साधन के औचित्य को लेकर साध्यवादी एवं साधनवादी जो भी समाधान एवं अपने पक्ष में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वह एकांगी ठहरता है। इसलिए नीतिशास्त्रियों का एक तीसरा वर्ग यह समाधान प्रस्तुत करता है कि किसी कर्म में साध्य एवं साधन दोनों का ही उचित होना आवश्यक है। इस प्रकार के नीतिशास्त्री अपने पक्ष में यह तर्क देते हैं कि अच्छे साधन के द्वारा ही जिस साध्य को प्राप्ति होती है; वह ही स्थायी और सर्व कल्याणकारी होती है। सर्वगत शुभ को प्राप्ति पवित्र साधन के द्वारा ही संभव हो सकती है। परन्तु यदि यह मान लिया जाए कि किसी पवित्र साध्य के लिए साधन का उचित एवं पवित्र होना आवश्यक है, वे इस समस्या को ही यह कहकर समाप्त करना चाहते हैं कि साध्य एवं साधन दोनों का पवित्र होना किसी कार्य औचित्य के लिए आवश्यक हैं, वे वस्तुत: केवल इस विवाद से बचना चाहते हैं। साध्य एवं साधन के औचित्य को लेकर समस्या ही इसलिए उठती है कि इसमें एक दूसरे कौन उचित ठहराता है? इसलिए इस समस्या पर अब भी सम्यक् समाधान की अपेक्षा है।

6.3 – साध्य क्या है?

प्राय: सभी नीतिशास्त्री यह मानते हैं कि मनुष्य अपने सभी कार्य किसी प्रयोजन की सिध्दि के लिए ही करते हैं। मनुष्य के कर्म सम्पादन जिस प्रयोजन को सिध्दि के लिए किया जाता है, वह किसी कार्य का साध्य कहलाता है। ऐसे सभी नीतिशास्त्री जो केवल साध्य को ही नैतिक निर्णय की विषय-वस्तु करेंगे कि मानते हैं, वे यह स्वीकार करेंगे कि साध्य ही साधन का औचित्य निर्धारित ही करता है। ऐसी स्थिति में यदि साध्य को परिभाषित किया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के द्वारा जिसे अपने संकल्प का विषय मान कर उसे प्राप्त करने के लिए जो कर्म किया जाता है; वह अभीष्ट ही उस व्यक्ति के लिए साध्य कहलाता है। प्रायः एक शल्य चिकित्सक जब किसी रोगी की शल्यक्रिया के द्वारा इलाज करता है। तो वह अपने साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में कुछ ऐसे कर्म करता है या ऐसी प्रक्रियाएँ अपनाता है, जिनके परिणाम स्वरूप रोगी को अत्यन्त पीड़ा होती है। अब इन कर्मों को या साधनों को अपने आप में तो उचित नहीं कहा जाएगा; किन्तु उचित आप साध्य के अंग के रूप में अर्थात् एक अच्छे साध्य के प्राप्ति के साधन के रूप में उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे ही अपने बच्चे की भलाई के लिए जब पिता उसे दण्डित करता है; तो भले ही वह दण्ड अपने आप में अच्छा न माना जाता हो, किन्तु, बच्चे की भलाई को दृष्टि में रखकर उसे उचित मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में यदि साध्य की समुचित परिभाषा दी जाए तो यह कहा जा सकता है कि जिसके लिए कर्म किया जाता है,वह साध्य है।

6.4 – साधन क्या है?

साधन का साध्य की सिध्दि में महत्वपूर्ण योगदान होता है। किसी भी कार्य को करने में अनेक साधनों का उपयोग होता है। बिना इन साधनों के जिसे अभीष्ट मानकर अर्थात् जिसे साध्य मानकर उसे पाने का प्रयत्न किया जाता है,वह असिध्द ही रह जाएगा। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि किसी साध्य की सिद्धि के लिए जो उपक्रम किये जाते हैं; जिस, संसाधनों को उसे पाने में उपयोग में लाये जाते हैं। वे सभी साधन कहलाते हैं। इसप्रकार कहा जा सकता है कि साधन वह है, जो साध्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। साधन वह माध्यम है, जिसके द्वारा कर्त्ता अपने साध्य की सिध्दि करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साध्य की प्राप्ति के लिए उपयोग में लाये गये सभी तत्वों को साधन कहा जाता है। अतः यदि साधन की समुचित परिभाषा दिया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि "जिसके रहते तथा जिसके बावजूद कर्म किया जाता है, वह साधन कहलाता है।

6.5 – साध्य और साधन का अन्तः सम्बन्ध -

नैतिक निर्णय के विषय से अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध एक दूसरी समस्या है, जिसे साध्य - साधन की समस्या कहते हैं। साध्य का तात्पर्य है, वह है जिसे संकल्प के विषय के रूप में निश्चित रूप से स्वीकार किया जाय। दूसरे शब्दों जिसके लिए कर्म किया जाता है, वह साध्य है। साधन से तात्पर्य है- जिसे कर्त्ता ने साध्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि जिसके रहते. तथा जिसके बावजूद कर्म किया जाता है, वह साधन इस प्रकार साध्य की प्राप्ति में उपयोग लाये गये कारको को 'साधन कहा साध्य काहा जाता है। यही कारण है कि साध्य एवं साधन दोनों ही नैतिक निर्णय के विषय हैं। प्राय: यह प्रश्न उठता है कि औचित्य या शुभत्व का निर्धारण साधन को दृष्टि में रखकर किया जाता है या साध्य को दृष्टि में रखकर किया जाता है। किसी कर्म का औचित्य उसके साधन पर निर्भर करता है अथवा साध्य पर। इस प्रश्न को लेकर नीतिशास्त्री स्पष्टतः दो वर्गों में विभक्त दिखायी पड़ते है। एक वर्ग यह मानता है कि कार्य व्यापार या साध्य साधन का औचित्य साध्य के औचित्य को प्रमाणित करता है। इसलिए साधन का ही मूल्यांकन होना चाहिए उसके साध्य का नहीं। यदि कर्म में साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त साधन अच्छा है, तो कार्य शुभ होगा और उसे उचित कहा जाएगा, अन्यथा अशुभ होगी और उसे बुरा कहा जाएगा। अतएव साधनवादी कर्म के हेतु पर विचार नहीं करता। दूसरा वर्ग साध्यवादियों का है है जो यह मानता है कि किसी कार्य का नैतिक मूल्यांकन केवल उस कार्य के साध्य के ऊपर किया जाना चाहिए। साध्यवाद एक प्रकार का हेतुवाद है; इसलिए वह किसी कर्म के हेतु को ही नैतिक निर्णय के विषय कमूल्यांकन के रूप में स्वीकार करता है। साध्यवाद कार्य व्यापार को नैतिक मूल्यांकन के लिए स्वीकार नहीं करता है, जिसे साधन के रूप में जाना जाता है।

6.6 – साधनवादी नीतिशास्त्री - साधनवादी यह मानते हैं कि कोई भी कर्म उचित तभी होता है जब उसमें प्रयुक्त साधन उचित हों। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण गाँधी के विचारों में मिलता है। गाँधीजी अहिंसा को सत्य के साक्षात्कार का साधन स्वीकार किया है। उनका यह दृढ विश्वास था कि सत्य के साक्षात्कार का एकमात्र मार्ग अहिंसा है। यदि हिंसा के माध्यम से प्रयास भी किया जाए, तो जिसका साक्षात्कार होगा ,वह सत्य नहीं हो सकता है। यहीकारण है कि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में जब भी हिंसा का प्रयोग हुआ है, गाँधीजी ने स्वतंत्रता आन्दोलन को स्थागत कर दिया है; क्योंकि उनकी मान्यता यह थी कि अनुचित साधन से प्राप्त साध्य कभी भी उचित नहीं हो सकता । यदि हिंसा से स्वतंत्रता प्राप्त भी हो जाय; तो यह सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती। साधन के अपवित्र होते ही साध्य स्वमेव दूषित हो जाता है। साधन के पवित्र होने पर परिणाम कुछ भी हो; उसे अच्छा कहां जाएगा।

6.7 – साध्यवादी नीतिशास्त्री -

साध्यवादी साधनवादियों पर यह आरोप लगाते हैं कि साधन की पवित्रता साध्य को सिध्दि को विलम्बित कर देती है। यह सत्य भी है कि पवित्र साधन से साध्य की सिद्धि तीव्र गति से अहिंसा के द्वारा सर्वोदय सिध्दि का गाँधी का

सपना अपूर्ण रह गया, किन्तु यह भी सत्य हा कि पवित्र साधन से प्राप्त साध्य बिलम्बित एवं आंशिक होते हुए भी नैतिक बल प्रदान करता है और उसमें स्थायित्व अधिक होता है। नैतिक निर्णय नीतिशास्त्र सम्बन्धित तथ्य हैं

6.8 नीतिशास्त्र के साध्य एवं साधन सम्बन्धित समस्या -

नीतिशास्त्र साध्य एवं साधन समाबन्धित समस्या नीतिशास्त्र के विषय-वस्तु से जुड़ी हुई है। जहाँ तक नैतिक निर्णय की बात है; तो इसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि नैतिक निर्णय नीतिशास्त्र सम्बन्धी तथ्य हैं और नैतिक सिध्दान्त नैतिक निर्णय रूपी तथ्यों के तर्काभास हैं। नैतिक सिद्धान्त वे मानदण्ड (Standards) या प्रतिमान (norms) है; जिनके आधार पर ही नैतिक निर्णयों के औचित्य को ठहराया जाता है। समकाल में किसी कार्य को उचित या अनुचित कहने के सन्दर्भ में नीतिशास्त्री स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभक्त है। अधिकांश नीतिशास्त्री यथा: मैकेन्जो अर्बन म्योरहेड, सी० डी० ब्राड इत्यादि नीतिशास्त्रियों में इस बात को लेकर भी परस्पर मतभेद है कि नैतिक निर्णय परिणाम निरपेक्ष है या परिणाम सापेक्ष है। इस प्रकार नैतिक निर्णय की दृष्टि नैतिक प्रतिमानों के आधार पर मानवीय कर्मों के मूल्यांकन को लेकर भी नीतिशास्त्री दो वर्गो' में विभक्त हैं।

6.9 परिणाम निरपेक्षवादी सिध्दान्त (Deontological theories) के समर्थक नीतिशास्त्रियों का यह कहना है कि कर्म के परिणाम का विचार न होकर केवल कर्तव्य-पालन का विचार होता है इसी कारण इन सिध्दान्तों को शुद्ध कर्तव्यवाद भी कहा जाता है और इस सिध्दान्त के अनुसार कर्तव्य का निर्धारण या तो किसी नैतिक आधार पर किया जाता है अथवा विशिष्ट्र कर्तव्य सम्बन्धी सहजबोध उसका आधार हो सकता है। इमान्यूल काण्ट ए०सी० विंग, रॉस, ई०एफ० कैरिट, थॉमस रीड, एच० ए० प्रिचई शैक्ट्सबूरी, फ्रांसिस हचिसन, कडवर्थ सैमुअल क्लार्क जोसेफ बटलर इत्यादि इसी सिध्दान्त के समर्थक नीतिशास्त्रो है

6.10 परिणाम सापेक्षतावादी सिध्दान्त (Jeloological Theories) समर्थक वे नीतिशास्त्री है, जिन्होनें कर्मो के नैतिक औचित्य निर्धारण हेतु कर्म के सम्भावित परिणाम के विचार को ही प्रासंगिक माना है। इस प्रकार के नीतिशास्त्रों को - फलवादी (Consequentialism) भी कहा जाता है। इन नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि कर्म का साध्य किसी शुभ परिणाम की प्राप्ति होता है और एसे परिणाम की प्राप्ति का विचार (Idea of end) ही कर्म का प्रेरक हेतु होता है। जॉन स्टुअर्ट मिल जेरमी बेन्थम, हेनरी सिजविक, हर्बर्ट स्पेन्सर, जी ई० मूर प्रेडरिक विल्हेम नीत्शे,हीगल एफ० एच० ब्रैडले, हेस्टिंग्स रेशडल, सैमुअल अलेक्जेण्डर टी०एच०ग्रीन इत्यादि इस वर्ग के प्रमुख नीतिशास्त्री है। परिणाम निरपेक्षतावादी सिध्दान्त अर्थात शुद्ध कर्तव्यताद पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि इसके भी दो रूप प्रचलित हैं-

6.11 नियम आधारित कर्त्तव्य के समर्थक नीतिशास्त्री - परिणाम निरपेक्षतावादी का पहला रूप वह है। जिसमें किसी कार्य को नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित ठहराने का एक आधार या कारण कुछ नियम या रीतियों (Lanes or Customs) हैं, जो या तो किसी वाह्य शक्ति या संस्था से यथा ईश्वर समाज, राजा द्वारा प्रदत्त हैं अथवा व्यक्ति के भीतर के किसी भी शाक्ति, यथा बुद्धि या अन्तश्चेतना से उद्भूत है। यह एक प्रकार से नैतिकता परम्परागत (Conventional) स्वरूप है। कुछ लोग इन नियमों को ऐसे नैतिक आदेशों (Moral Commandments) के रूप में भी ग्रहण करते हैं और इसे ही नैतिकता का मूल आधार मान लेते हैं उदाहरणार्थ, चोरी करना पाप है, सदैव सत्य बोलना चाहिए, हमें सदैव ईमानदारी का जीवन व्यतीत करना चाहिए, इत्यादि कुछ ऐसे नैतिक नियम है, जिन्हें हम अपने सामान्य व्याहारिक जीवन में अपना कर जीवन व्यतीत करते है। यही कारण है कि नियम व्याहारिक दृष्टि से हमारे जीवन में मान्यता प्राप्त करने के कारण नैतिकता के निरपेक्ष प्रतिमान (Unconditional Standards) के रूप में जाने जाते हैं। इनके सम्बन्ध में नीतिशास्त्रयों का यह कहना है कि ये नियम बिना शर्त अनुकरणीय हैं और इनका उल्लघंन अनैतिक हैं। इस सन्दर्भ में जर्मन दार्शनिक जोहन गाटलीब फिक्टे का उदाहरण लिया जा सकता है। जब फिक्टे से यह पूछा गया कि क्या तुम यह

जानते हो कि सत्य सुनने पर तुम्हारी पत्नी की जान जा सकती है, उससे झूठ बोलोगें, तो उसका उत्तर था नहीं, कभी नहीं, यदि मेरे सत्य बोलने से उसकी जान चली जाती है, तो ऐसा ही हो। शुध्द कर्त्तव्य के इस रूप को नियम आधारित कर्त्तव्य (Rule of Deontological Theories) कहा जाता है, जिसके अनुसार कर्म की नैतिकता नियमों पर आधारित है। इसके ही एक विशेष रूप को काण्ट के नैतिक दर्शन में आकारगत सिध्दान्त (Formalistic Theory) के रूप में जाना जाता है। नियम आधारित कर्तव्यवाद मानता है कि शुभत्व या नैतिक मूल्य वस्तुओं या कर्मों में अन्तर्निहित एक ऐसा गुण, सार या आकार है; जो किसी प्रचलित नैतिक 'नियम से अनुकूलता होने या उसे आत्मसात करने से वह हमारे कर्मों में दिखायी पड़ती है अर्थात वह वस्तु या कार्य अपने स्वरूप से शुभ हो जाते हैं। इसलिए उस सिध्दान्त के समर्थक विचारकों का यह कहना है कि जो उचित हैं वह सभी समान परिस्थितियों व दशाओं में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित है और वह सभी लोगों के लिए उन दशाओं एवं परिस्थतियों में सार्वकालिक रूप से अनुचित है।

6.12 परिस्थिति आधारित कर्तव्यवाद के समर्थक नीतिशास्त्री के शुद्ध कर्तव्यवाद का दूसरा रूप किसी विशेष कर्म के नैतिक औचित्य के तात्कालिक बोध से सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोण के समर्थक नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि नैतिक मूल्यांकन हेतु किसी स्वीकृत नैतिक नियम का सन्दर्भ नहीं लिया जाता, बल्कि विशेष कर्म के नैतिक औचित्य का निर्धारण सीधी अन्तःप्रशा (Direct Intuitions) से कर लिया जाता है। इसे ही परिस्थिति पर आधारित (Act Deontological Theory); कर्तव्यवाद कहा जाता है। क्योंकि इसके अनुसार किसी विशेष कर्म की नैतिकता विशिष्ट परिस्थिति के सापेक्ष है, न कि किसी नियम के सापेक्ष है। कुछ नीतिशास्त्री उसे "परिस्थिति नीतिशास्त्र' भी कहते हैं। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले नीतिशास्त्रयों का यह मानना है कि विशिष्ट कर्म सम्बन्धी निर्णय ही मूलभूत हैं और उनसे ही सामान्य नैतिक नियम निःसृत किये जा सकते है,जो भावी परिस्थितियों में हमारे कर्त्तव्य निर्धारण में उपयोगी होंगे,किन्तु यह कभी भी स्वीकार्य नहीं होगा कि एक सामान्य नैतिक नियम कभी भी कर्त्तव्य सम्बन्धी विशिष्ट निर्णयों को विस्थापित कर दे। इस प्रकार,कर्मों की नैतिकता के सीधे बोध के पश्चात ही तदनुरूप सामान्य नैतिक नियमों की स्थापना होती है, न कि पहले नियम की स्वीकृति हो, तत्पश्चात उनसे विशिष्ट कर्मों का औचित्य सिध्द किया जाए। इस प्रकार यह परिस्थिति पर आधारित कर्त्तव्य नैतिक मूल्याकंन की एक ऐसी विधि प्रदान करता है। जिसमें किसी विशेष परिस्थिति के तथ्यों का स्पष्ट आकलन करके फिर यह निर्णय लिया जाता है, कि हमें क्या करना चाहिए? यह साधारणतः एक अपरोक्षानुभूति या सहज बोध होता है। कभी कभी इस अपरोक्षानुभूति के अतिरिक्त दैवी प्रकाशना (Revelation) अथवा ईश्वरीय आज्ञा का उल्लेख भी मिल जाता है।

परिणाम निरपेक्षतावाद के विपरीत नैतिक निर्णय से सम्बन्धित परिणाम सापेक्षतावादी या फलवादी सिध्दान्त है। जिनके अनुसार कोई भी कर्म अपने आप में शुभ – अशुभ नहीं होता है,बल्कि कर्म में सम्भावित परिणाम एवं उसमें निहित तुलनात्मक मूल्यों के दृष्टि कोण से कर्म को नैतिक या अनैतिक ठहराया जाता है। इस दृष्टि से नैतिकता का कोई नियम कठोर व अनुल्लंघनीय नहीं है। यह दृष्टि कोण थोड़ा सरलता लिये हुए है, क्योंकि इसमें यह माना जाता है कि नौतिक निर्णय देने में परिस्थिति एवं सम्भावित परिणामों की महत्व पूर्ण भूमिका होती है। दूसरे शब्दों में इस दृष्टि के अनुसार परिस्थिति अपवादपूर्णता (exceptinality) या विशिष्टता (Uniqueness) को दृष्टि में रखते हुए कर्म के सम्भावित परिणाम या फल की वांछनीयता या शुभत्व (Desirablity or goodness of possible result or consequence) ही वह मानदण्ड है, जिसके कारण उस कार्य को उचित कहा जाता है। यानी नैतिकता का आधार कार्य के फल या परिणाम का विचार (Idea of the end) है। इस सिध्द्रान्त के अनुसार शुभत्व - अशुभत्व वस्तुतः इस अर्थ में सापेक्षक मूल्य (relative value)रखते है,क्योंकि यह परिस्थिति पर निर्भर करता है कि उनमें किस चुनावसे तुलनात्मक रूप से श्रेयस्कर परिणाम अथवा मूल्य प्राप्त होने की संभावना है। यो श्रेयस्कर परिणाम या मूल्य अलग-अलग नैतिक दर्शनों में अलग- अलग हो सकते है।

6.13 अभी तक नैतिक निर्णय के साध्य एवं साधन के औचित्य के विमर्श से जो बात उभर कर आती है उससे यह स्पष्ट होता है कि परिणाम निरपेक्षवादी, या शुध्द कर्तव्यवादी नीतिशास्त्रियों की मान्यता है कि किसी कर्म के औचित्य निर्धारण में उचित' का सम्प्रत्यय मूलभूत सम्प्रत्यय है और शुभत्व उसका परिणाम है अर्थात यदि कोई कर्म उचित होगा; तो उससे अनिवार्य रूप से शुभत्व प्रतिपन्न या उत्पन्न होगा। इसके विपरीत परिणाम सापेक्षतावादी या फलवादी नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि अभिप्रेत (Intented) परिणाम का शुभत्व मूलभूत नैतिक प्रत्यय उचित होना इस बात पर निर्भर करता है कि उस कर्म से शुभ परिणाम प्राप्त होने की सम्भावना है।दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि परिणाम निरपेक्षतावादी सिध्दान्त के समर्थक नीतिशास्त्रियों के अनुसार उचित कर् द्वारा ही शुभत्व का निर्धारण होता है, जबकि परिणाम सापेक्षतावादी नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि शुभ के द्वारा ही उचित कर्म का निर्धारण होता है। ऐसी स्थिति यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है कि 'उचित' व 'शुभ दोनों में से कौन सा विचार मूलभूत है? अब तक के साध्य एवं साधन के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि है कि साध्य साध्यवादी विचारक यह मानते है कि साध्य के उचित होने पर प्रत्येक साधन स्वयं उचित हो जाता है। इस मान्यता का समर्थन अनेक प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारधाराओं में मिलता है। किन्तु इसका स्पष्ट रूप से समर्थन कार्ल मार्क्स के विचारों में दिखलायी पड़ता ता है।

कार्ल मार्क्स का उद्देश्य एक वर्गहीन समाज को स्थापना करना था, जो कार्ल मार्क्स के अनुसार एक उत्कृष्ट साध्य है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह मानना था कि इस की सिद्धि के निमित्त रक्त क्रान्ति एवं वर्ग संघर्ष जैसे साधन उचित हैं। परन्तु साध्यवादी जिस प्रकार के पादित करते हैं, उससे आतंक जैसे गर्हित साधनो को भी औचित्य प्राप्त हो जाता है। राष्ट्र, संस्कृति, अथवा धार्मिक पंथ के विकास को साध्य के रूप मंक स्वीकार करके के यह तर्क दिया जा सकता है । कि इसकी सिध्दि के लिए आतंकवाद को साधन रूप में प्रयुक्त करना उचित है साध्यवाद की कमजोरी हमारे बीच तब और स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। जब कोई परीक्षार्थी अच्छे अंकों के साथ परीक्षा उत्तीर्ण करने के नकल जैसे गर्हित साधन को उचित ठहराने लगत है और यह कहता है कि परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने को उसका साध्य, शुभ और पवित्र है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न तो साध्य का शुभत्व साधन के औचित्य का निर्धारक हो सकता है और न ही साधन के उचित होने से कोई भी साध्य शुभ हो सकता है।

6.14 निष्कर्ष - साध्य और साधन के औचित्य पर विचार करने के उपरान्त निस्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि साध्यवाद एवं साधनवाद दोनों ही संकल्पनाएं नैतिक दृष्टि से एकांगी अपूर्ण एवं अतार्किक है। साध्यवाद एवं साधनवाद दोनों की ही जहाँ अपनी कुछ विशेषताएं है। वही उनकी कुछ कमियाँ भी है, जो उसे नैतिक दृष्टि से एक युक्तिसंगत निचार के रूप में स्थापित होने में एक प्रवल बाधा है। वास्तविकता यह है कि न तो साध्य साधन को उचित ठहराता है और न ही साधन का औचित्य साध्य के शुभत्व को निर्धारित करता है। यदि यह मान लिया जाए कि साधन एवं साध्य दोनों का ही शुभत्व एक दूसरे का निर्धारक तत्व है, तो साध्य एवं साधन से सम्बन्धित समस्या ही समाप्त हो जाती है। वस्तुतः यह समस्या ही तब उत्पन्न होती है, जब इन दोनों में से एक उचित एवं दूसरा अनुचित होता है। इसीलिए समकालीन नीतिशास्त्रियों ने परिणाम निरपेक्ष एवं परिणाम सापेक्ष नैतिकता के सिद्धान्त के आधार पर उस समस्या का समाधान खोजने का प्रयास किया है।

6.15 सारांश: - साध्य एवं साधन के औचित्य से सम्बन्धित समस्या नीतिशास्त्र की एक प्रमुख समस्या रही है। साध्य उसे कहते है, जिसके कर्ता कोई कर्म करता है अर्थात कर्ता जिसे अपना लक्ष्य बनाकर पाने के लिए प्रयास करता है, वह साध्य कहलाता है और साध्य की प्राप्ति के लिए वह जिन साधनों का उपयोग करता है: वह साधन कहलाता है। प्रायः साध्य एवं साधन से सम्बन्धित इस समस्या पर विचार करते हुए। इस विषय पर भी विचार किया गया, कि यदि साध्य एवं साधन एक दूसरे के शुभत्व का निर्धारक तत्व नही हो सकता, तो इन दोनों के शुभत्व का निर्धारक रोगा। इसीलिए नैतिक निर्णय के विषय वस्तु पर विचार करते हुए कर्म के परिणाम निरपेक्षतावाद सिद्धान्त एवं परिणाम सापेक्षता वाद

सिध्दान्त पर भी विचार किया गया। परन्तु अभी तक साध्य एवं साधन से सम्बन्धित समस्या अनसुलझी हुई ही बनी हुई है।

6.16 प्रश्नबोध -

1. क्या साध्य साधन को उचित ठहरता है? विवेचन कीजिए।

2. क्या साधन का उचित होना साध्य के शुभत्व को निर्धारित करता है? विवेचन कीजिए।

3. परिणाम निरपेक्षतावादी नीतिशास्त्री सिध्दान्त एवं परिणाम सापेक्षतावादी नीतिशास्त्रीय सिध्दान्त के बीच भेद करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि किसे

खण्ड–3 सुखवाद

इकाई–7 सुखवाद का परिचय

सुखवाद का परिचय

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 सुख स्वतःसाध्य है

7.4 सुखवाद की परिभाषा

7.5 सुख एवं आनन्द में अन्तर

7.6 मनोवैज्ञानिक सुखवाद

7.7 नैतिक सुखवाद

7.8 सुखमूलक उपयोगितावाद

7.9 समीक्षा

7.10 निष्कर्ष

7.11 सारांश

7.12 प्रश्न बोध

7.13 उपयोगी पुस्तकें

----------00----------

7.1- उद्देश्य –

मनुष्य अपने सभी कर्म किसी इच्छा की पूर्ति के लिए करता है। जब उसके इच्छा की तृप्ति होती है, तो उसको एक विशेष अनुभूति होती है, जिसे 'सुख' के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार मनुष्य का प्रत्येक कर्म सुख की इच्छा से प्रेरित होता है। वह उसी कर्म को करता है, जिस कर्म से उसे सुख प्राप्त होता है। मनुष्य ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहता है, जिससे उसे सुख न मिलता हो। इसलिए पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों ही परम्परा में यह विचारधारा प्रचलित रही है कि हमें सुख की ही विशेष रूप से करनी चाहिए। वास्तविकता यह है कि दुःख से ब्रह्माण्ड के सभी प्राणी उद्धिग्न होते हैं और सुख सभी प्राणियों के लिए अभीष्ट है।

सृष्टि के भी विकास विकास के क्रम में मानव समाज को नैतिकता के भी विकास के तीन सोपानों से गुजरना पड़ा है। इन तीन सोपानों में प्रारम्भिक दो सोपानों में पहले व्यक्ति बाह्य विधानों के अनुसार चलता है और फिर वह अपनो अन्तरात्मा के विधान के अनुसार चलता है। परन्तु इन दोनों सोपानों में मनुष्य स्वैच्छिक रूप से नैतिकता को नहीं अपनाता है अपितु ऐसा लगता है कि नैतिकता उस पर थोपी गयी है और इस कारण आरम्भिक दो चरणों में मनुष्य जिस प्रकार की नैतिकता को अपनाता है. वह अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं।

अपने नैतिक जीवन के विकास क्रम मनुष्य एक ऐसे तीसरे सोपान पर पहुंचता है; जब वह अपने सम्पूर्ण कर्मों को अपने जीवन के साध्य के अनुसार करता है। इसीलिए इस सोपान को साध्यवाद के रूप में जाना जाता है। साध्यवाद के अनेक सिध्दान्त प्रचलित हुए हैं, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण सिध्दान्त सुखवाद है, जिसके अनुसार मानव जीवन का एकमात्र साध्य सुख प्राप्त करना है। इसलिए इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य इस बात पर विचार करना है कि हमारे जीवन में सुब कहाँ तक महत्वपूर्ण है? हम क्यों सुख की इच्छा से ही प्रेरित होकर अपने सभी कर्मों को करते हैं? सुख के आधार पर हमारे समस्त कर्मो का मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है? सुख के भी विविध रूप है और इन विविध रूपों में कौन से की सुख प्रेरित होकर क्रिया गया कर्म सर्वगत कल्याण की दृष्टि से अधिक उपादेय है? प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य सुखवाद का परिचय देते हुए इस प्रकार के अनेक प्रश्नों पर विचार करना है।

7.2 - प्रस्तावना : -

मनुष्य जब अपने सभी कर्मों को सुख को साध्य बनाकर करता है तो उसके द्वारा जिस सिध्दान्त को सामाजिक जीवन में मान्यता दी जाती है, वह सुखवाद (Hedonism) के रूप में जानी जाती है। सुखवाद में यह माना जाता है कि मनुष्य स्वभावतः सुखी जीवन व्यतीत करना चाहता है,क्योंकि सुख ही मनुष्य की इच्छा का स्वाभाविक विषय है, स्वभाव से मनुष्य उसी कार्य को करता है।जिससे उसे सुख प्राप्त हो। मानव स्वभाव का विश्लेषण करने पर यह स्पषट होता है कि मानव का मुख्य उद्देश्य, दो ही है- सुख को प्राप्त करना और दुःख से बचना है। वह कोई भी कर्म इसलिए करता है कि उसे सुख मिले तथा दुःख न मिले। मानव स्वभाव के इसी विश्लेषण के आधार पर अनेक नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि सुख को ही नैतिकता का मानदण्ड मानकर मानवीय कर्मों का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सकता है।मानवीय कर्मों को सुख को ही मानदण्ड मानकर मूल्यांकन करने वाले नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग है, जो यह मानता है कि सुख प्राप्त करना ही शुभ है और यही जीवन का परम साध्य है। इसीलिए इस सिध्द्रान्त के समर्थक नीतिशास्त्रियों के नैतिक सिध्दान्त को सुखवाद (Hedonism) के नाम से जाना जाता है।

7.3- सुख स्वतः साध्य है -

सुखवाद के अनुसार मानव जीवन का साध्य एकमात्र सुख प्राप्त सुखवाद है सुख ही मनुष्य के प्रकार ऐच्छिक कर्म का विषय है। नैतिक दृष्टि मनुष्य का वही कर्म मूल्याकंन या शुभ है, जिसके परिणामस्वरूप उससे अधिक सुख उत्पन्न होता है।प्रत्येक मनुष्य सुख या अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है। या अधिक से अधिक दुःख से छुटकारा पाना चाहता है। मनुष्य के लिए जो कार्य सुखद होता है। वह अच्छा या शुभ है। और जो कार्य दुःखद होता है, वह बुरा या अशुभ है। इसलिए मानवीय कर्मों का मापदण्ड उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला सुख या दुःख ही है। सुख ही मानव जीवन का परम शुभ या परम मूल्य है। मानवीय कर्मों का औचित्य या शुभत्व उससे उत्पन्न होने वाले सुख या दुःख पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार सुखवाद के अनुसार शुभ या मूल्य (Happiness or value) स्वतः साध्य (Intrinsic) हैं अर्थात् यह अपने आप में शुभ या मूल्यवान है तथा साधन रूप (Instrumental) में भी सुख ही वह तत्व है, जो किसी उच्च शुभ या मूल्य की प्राप्ति में सहायक के रूप में उपयोग लाया जाता है। इसीलिए सुखवाद के समर्थक नीतिशास्त्रियों ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि मानव जीवन में एकमात्र सुख (Happiness) ही अन्तिम

शुभ या मानदण्ड है और यह स्वतः मूल्यवान है, और यही नैतिक जीवन का साध्य है। सुखवाद के समर्थक सभी नीतिशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि एकमात्र सुख ही स्वयं साध्य शुभ है तथआ सुख के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ऐसा नहीं है,जिसे अपने आप में शुभ कहा जा सके। सुख के अतिरिक्त अनय सभी वस्तुएं,चाहे वह सद्गुण हो या ज्ञन या शक्ति हो,जीवन प्रकृति या सौन्दर्य हो संसार की कोई भी ऐसी चीज हो या फिर ईश्वर की प्राप्ति ही क्यों न हो,वस्तुतः ये सभी सुख के साधन के रूप में ही शुभ या मूल्यवान है।

संसार की ऐसी सभी वस्तुएं जो सुख प्राप्ति या सुख की वृधेदि में जितनी अधिक सहायक है,वह सुख के रूप में उतनी ही उपयोगी है। अतएव सुखवाद में सुख को ही परम साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है। सुखवाद अंग्रेजी के शब्द (Hedonism) का हिन्दी रूपान्तरण है। अंग्रेजी शब्द(Hedonism) ग्रीक शब्द(Hedone) से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ सुख या आनन्द(Pleasure or Happiness) है। इसीलिए इस सिध्दान्त को सुखवाद के नाम से जाना जाता है। सुखवाद को ठीक प्रकार से समझने के लिए हमें सुख शब्द वास्तविक अर्थ और सुख के स्वरूप को समझना होगा। पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों ने सुख शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो में किया है। कुछ पाश्चात्य नीतिशास्त्री दुःख के अभाव को ही सुख मानते है। कुछ पाश्चात्य नीतिशास्त्री आनन्द की प्राप्ति को ही सुख कहते है। कुछ पाश्चात्य नीतिशास्त्री है, जो प्रसन्न होने को ही सुख की संज्ञा देते है। कुछ पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों का यह कहना है कि सुख एक भावना है, तो कुछ नीतिशास्त्री सुख को एक आनन्ददायक विचार कहते हैं। इसलिए पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों के समक्ष सुखवाद को परिभाषित करना एक कठिन कार्य बन गया था।

7.4- सुखवाद की परिभाषा –

मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्य दुःख से बचना और सुख को प्राप्त करना है। सुख ही मनुष्य के प्रत्येक कर्म का प्रवर्तक है। ऐसी स्थिति मनुष्य का वह कर्म ही शुभ है,जो सुख उत्पन्न करता है। यदि मनुष्य कोई कर्म दुःख उत्पन्न करता है ,तो वह अशुभ है। सुखवाद के समर्थक नीतिशास्त्रियों का यह मानना है कि मनुष्य के आत्मा की प्रकृति विशुध्द रूप से इन्द्रियपरक है। मनुष्य की आत्मा संवेदन,भाव,वासना और मूल प्रवृत्तियों की एक समष्टि है। मनुष्य में बुद्धि अवश्य है, किन्तु मानवीय स्वभाव में इसका स्थान सर्वोपरि नहीं है। वास्तविकता यह है कि बुद्धि वासनाओं की सेविका मात्र है। बुद्धि केवल वासनाओं के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सर्वोत्तम साधन की खोज करती है। डेविड ह्यूम ने इसी बात को व्यक्त करते हुए यह कहा है कि " बुद्धि वासनाओं की सेविका है और होनी भी चाहिए।"पाश्चात्य एवं प्राच्य दर्शन में अनेक नीतिशास्त्री सुख को ही मानव जीवन एकमात्र लक्ष्य माना है और इससे सुख मानवीय कर्मों के शुभत्व का मापदण्ड माना है।

पाश्चात्य दर्शन में यूनान में सर्वप्रथम अरिस्टिपस की शिक्षाओं में सुखवाद के संस्करण प्राप्त होते हैं। अरिस्टिपस यूनान के सिरेने का निवासी था। इसलिए जिस सम्प्रदाय को उसने स्थापना की उसे सिरैनैक मत कहा जाता जाता है। अरिस्टिपस का कहना कि सभी संवेदनाएँ गति (Movement) है, जब गति मन्द रहती है; तब सुख भावना पैदा होती है; जब वह प्रचण्ड होती है, तब हमें दुःख होता है और जब गति बिल्कुल शान्त या मन्द रहती है; तब हमें न सुख होता है और न ही दुःख होता है। संवेदना गति की इन तीन अवस्थाओं स्वभावतः केवल सुख ही काम्य है। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपने सभी कर्मों का लक्ष्य केवल अधिक से अधिक सुख उपभोग को बनाना चाहिए। पुनश्च अरिस्टिपस यह कहते हैं कि सुख से उनका तात्पर्य वर्तमान क्षण का सुख है, अतीत और अनागत सुख नहीं। अरिस्टिपस ने मानव कर्मों से उत्पन्न होने वाले इस सुख को मापने के लिए दो आयाम बताये हैं। ये आयाम सुख की मात्रा (Intensity) को इसकी प्रगाढ़ता और तात्कालिकता से मापने को संभव बताते हैं। परन्तु अरिस्टिपस का यह कहना है कि अधिक से अधिक युख पाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को अपनी भावनाओं पर नियंत्रण अर्थात आत्मसंयम करना

चाहिए अन्यथा उसकी भावनाएँ प्रचण्ड होगी, और दुःख देंगी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सिरैनैक सम्प्रदाय में वर्तमान क्षण का सुख सभी कामनाओं का लक्ष्य है, किन्तु इसके बावजूद भी इसमें आत्मसंयम का विधान किया गया है। वर्तमान सुख का उपभोग करना और आत्मसंयम करना -ये दो परस्पर विरोधी बातें हैं, क्योंकि आत्मसंयम का अर्थ है- भावनाओं को वश में करना, जो वर्तमान क्षण के सुख के त्याग पर ही निर्भर है। सिरैनैक मत के इस अन्तर्विरोध को एवीक्यूरस ने दूर किया और उसने सुखवाद के एक दूसरे प्रकार की स्थापना की, जिसे एपीक्यूरियनिज्म अर्थात- एवीक्यूरियनवाद कहा जाता है।

एपीक्यूरस ने अरिस्टिपस के द्वारा दी गयी सुख को परिभाषा में विद्यमान कमियों को दूर करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि सुख का अर्थ वर्तमान का क्षण के सुख के स्थान पर समग्र जीवन का सुख किया। फिर उसका कहना है कि सुख मन्द गति नहीं है, अपितु शान्त अवस्था है। चित्त का शान्त होना ही प्रसन्नता है और इसी चित्त की प्रसन्नता को सुख कहा जाता है। पुनश्च एपीक्यूरस का यह कहना है कि सुख केवल शारीरिक सुख ही नहीं है अपितु सुख एक मानसिक अवस्था भी है। इतना ही नहीं मानसिक सुख शारीरिक सुख से श्रेयस्कर है। इस कारण एपीक्यूरस मानसिक सुख शान्ति को प्राप्त करने के लिए शारीरिक सुखों के त्याग को भी आवश्यक बताया है।

एपीक्यूरस का यह कहना है कि हमारा लक्ष्य मात्र सुख पाना ही नहीं, किन्तु दुःख की निवृत्ति भी हैं। यदि कोई भी सुख बाद में दुख को उत्पन्न करता है, तो वह व्याज्य है; यदि कोई दुःख बाद में अपने से अधिक सुख उत्पन्न करता है; तो वह ग्राह्य है। सुख को नापने के लिए केवल उसको प्रगाढ़ता एवं वर्तमान कालिकता को नापना पर्याप्त नहीं है, उसको स्थिरता, चिरकालिकता और दुःख हीनता को भी नापना चाहिए। इस प्रकार एवीक्यूरस ने सिरैनैक मत के स्वार्थमूलक सुखवाद को काफी संस्कृत एवं परिष्कृत किया।

कालान्तर में एवीक्यूरस के सुखवाद से सम्बन्धित विचार का प्रभाव लोगों पर बना रहा। अरिस्टिपस में सुखों में केवल मात्रात्मक भेद माना था, किन्तु एपीक्यूरस सुखों में गुणात्मक भेद करता है। इसी कारण एपीक्यूरस यह प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक सुख वांछनीय नहीं होता; क्योंकि कुछ सुख अपने साथ कई गुना दुःख भी लाते हैं, जैसे अत्यधिक भोग - - विलास तथा उपभोग से मानसिक थकान और ऊब पैदा होती है। ऐन्द्रिक सुखों की प्राप्ति में ज्यादा लगे रहने से उनके तृष्णा या लालसा बढ़ती ही जाती है; जो अन्ततः दुःख को ही उत्पन्न करती है, क्योंकि यह मानसिक शान्ति में बाधक है। एपीक्यूरस का मानना है कि असीमित ऐन्द्रिक उपभोग सामान्य रूप से सुख को बढ़ाता नहीं। इसी कारण उसने ऐन्द्रिक सुखों के स्थान पर अनैन्द्रिक, बौध्दिक सुखों को श्रेयस्कर समझा; क्योंकि ये सम्पूर्ण जीवन को सुखमय बनाते हैं। साथ ही, उसके अनुसार व्यक्ति को भविष्य में प्राप्त होने वाले कमोबेश स्थायी अनैन्द्रिक सुख के लिए तात्कालिक तीव्र इन्द्रिय सुख का परित्याग करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि एपीक्यूरस की दृष्टि में सुख की वांछनीयता का मापदण्ड उसकी तात्कालिकता या तीव्रता नहीं है अपितु उसका स्थायित्व व सुनिश्चितता (Duration and Certainity) तथा उस सुख के उपरान्त प्राप्त होने वाली मानसिक शान्ति है, जो अत्यधिक सुखदायक है। यही कारण कि एवीक्यूरस ने साहित्य कला, चिन्तन-मनन, ज्ञान, सत्य की खोज इत्यादि से प्राप्त होने वाले बौध्दिक सुख को ऐन्द्रिक इच्छाओं की तृप्ति से प्राप्त सुख की तुलना में अधिक महत्व दिया है। विशेष रूप से दार्शनिक चिन्तन को उसने बहुत श्रेष्ठ समझा है, क्योंकि उनके अनुसार दार्शनिक ज्ञान जीवन की समझ पैदा कर सकता है, जीवन के प्रति एक सन्तुलित दृष्टि दे सकता है; एक ऐसा निरासक्त भाव उत्पन्न कर सकता है, जिससे जीवन के दुःख से छुटकारा मिल सकता है और जीवन शान्तिमय बन सकता है क्योंकि इसी से अत्यधिक भोग-विलास से उत्पन्न होने वाले क्लेशों से उद्विग्न मन को अशान्ति को दूर किया जा सकता है।

एपीक्यूरस की मान्यता है कि मृत्यु का भय मनुष्य की प्रबलतम भयपूर्ण मनःस्थितियों में से एक का विश्वास है कि दार्शनिक-विमर्श इस भय से भी मुक्ति दिलाता है।

एपीक्यूस ने अपने सुखवाद के विवेचन में यह स्पष्ट किया है कि अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, आनन्द-पीड़ा इत्यादि है तो अनुभूति के रहने पर ही होते हैं; किन्तु जब मृत्यु में कोई अनुभूति शेष नहीं रहती, तो मृत्यु से डरने की आवश्यकता भी नहीं रहती। मृत्यु हमारे लिए कुछ नहीं है, इसको ठीक से समझ लेने के पश्चात जीवन सुखमय बन जाता है। मृत्यु का सही ज्ञान हमारे मन से अमरता की लालसा को भी निकाल देता है। चूंकि मृत्यु दुःखद नहीं है, तो उसका विचार या ख्याल भी दुःखदायी नहीं होता है, अतः उससे डर भी नहीं लगना चाहिए। वस्तुतः ज्ञानी पुरुष के लिए मृत्यु अर्थहीन है, क्योंकि जब तक व्यक्ति जीवित रहता है, तब तक मृत्यु नहीं रहती और जब मृत्यु रहती हैं; तब व्यक्ति नहीं रहता। इस प्रकार एपीक्यूरस के अनुसार सच्चा सुख या सुखी जीवन गम्भीर सोच-विचार व चुनाव करने के उद् देश्य की विवेचना आदि से मिलता है, न कि भोग-विलास आमोद-प्रमोद से, क्योंकि सुख दार्शनिक चिन्तन से उत्पन्न होने वाला मनःप्रसाद ही है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एपीक्यूरस ने ऐन्द्रिक सुखों का पूर्णतया निषेध किया है। उसका मत है कि मूलभूत या स्वस्थ शारीरिक इच्छाओं को पूर्ति अवश्य की जानी चाहिए; किन्तु गुणात्मक रूप से बौध्दिक अनैन्द्रिय सुख श्रेयस्कर व वांछनीय है। सुख सम्बंधी एपिक्यूरस के इस दृष्टिकोण को एपिक्यूरियनवाद या एपिक्यूरियनिज्म (Epicurianism) कहा जाता है, जिसका लक्ष्य है कि -मन एक ऐसी शान्तिमय सुख की दशा है, जिसे उसने (Ataraxia) का नाम दिया है, जो भय, वासनाओं और पीड़ से मुक्त है। स्वार्थमूलक या स्वसुखवाद को अपने विशुद्ध रूप से मानने वाले प्रमुख विचारक सिरैनैकवादी एवं एपिक्यूरियन वादी ही हैं। आधुनिक काल में हॉब्स ने एपिक्यूरियमनाद को प्रचण्ड स्वार्थवाद में परिणत कर दिया और स्वार्थ को नियंत्रित के लिए राष्ट्रीय सरकार की संस्था को आवश्यक माना। डेविड ह्यूम ने विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर पसन्द और ना पसन्द तथा सहानुभूति की भावनाओं के द्वारा कर्तव्य के निर्धारण पर जोर दिया। उसने सुविचारित सहानुभूति को लोक - उपयोगिता (Public Utility) कहा और फिर इसे नैतिकता का प्रतिमान माना। इसीलिए ह्यूम को उपयोगितावाद का जनक कहा जाता है।

टूकर (Tucker) ने स्वार्थनिष्ठ सुखों के उपभोग के साथ संसार के रचयिता के द्वारा निर्धारित सामान्य श्रेय (General Good) को भी मान्यता दी। पेले ने टूकर सिध्दान्त को विकसित किया और यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य स्वभावतः अपना निजी सुख चाहता है। और परमात्मा के आदेश से वह उसको सृष्टिमात्र का सुख चाहता है। बेन्थम ने यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य अधिक से अधिक लोगों का अधिकतम सुख चाहता है, जिसे उपयोगितावाद के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार स्वार्थमूलक सुखवाद को अपने विशुद्ध रूप में मानने वाले सिरैनैक सम्प्रदाय एवं एपिक्यूरियनवादो नीतिशास्त्री अपने सुखवादी सिद्धान्त को उतना लोकप्रिय नहीं बना सके, जितना कि वे उसके लोकप्रिय होने की अपेक्षा किये थे। यही कारण है कि आधुनिक काल के ईसाई धर्मावलाम्बयों ने सुखवाद में आत्मत्याग के उपदेश को ही परित्याग कर दिया। इस स्वार्थवाद की आलोचना करते हुए कुछ नीतिशास्त्री यह विचार व्यक्त करते हैं कि यह नैतिक प्रतिमान को प्रस्तावित करने वाला कोई गम्भीर सिध्दान्त नहीं है। यह एक व्यावहारिक जीवन का सिद्धान्त हो सकता है, जो यह स्थापित करने का का प्रयास किये है कि व्यावहारिक जीवन की माँग यही है कि हम अपने सुख को अपने कर्मों का लक्ष्य बनायें।

वस्तुत: अपने कर्मों के परिणाम स्वरूप अपना सुख प्राप्त करने की कामना अत्यन्त स्वाभाविक है, किन्तु इसे नैतिक या अनैतिक कहने का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए अनेक नीतिशास्त्री यह मानते हैं कि स्वार्थमूलक सुखवाद नैतिक दृष्टि से एक अनुप- युक्त सिध्दान्त है। यद्यपि स्वार्थमूलक सुखवाद में विद्यमान कमियों को बेन्थम मिल एवं

सिजविक ने दूर करने का प्रयास किया और सुख को उपयोगिता के आधार परिभाषित करने का प्रयास किया। परन्तु ये सभी नीतिशास्त्री भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर सुख को परिभाषित करने का प्रयास किया है। इन सभी नीतिशास्त्रियों के उपयोगितावादी मत एक दूसरे से भिन्न हो गया है। बेन्थम ने जहाँ अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को अपने उपयोगितावाद का आधार बताया है; वहीं जान स्टुअर्ट मिल एवं हेनरी सिजविक ने बेन्थम के उपयोगितावाद को अधिक युक्तिसंगत, संस्कृत एवं सुसंगत रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। बेन्थम के द्वारा रचित नीतिशास्त और विधान के सिध्दान्त की भूमिका (An Introduction to the principle of morals and legislation) मिल के द्वारा रचित (Utilitarianism) यूटिलिटेरि यनिज्म अर्थात उपयोगितवाद और सिजविक द्वारा रचित (Method of ethics) मेथड ऑफ एथिक्स अर्थात नीतिशास्त्र की पद्धतियाँ उपयोगितावाद के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं, जिसमें ये सभी नीतिशास्त्री अपने-अपने ढंग से अपने उपयोगितवादी सिध्दान्त का निरूपण किये हैं। बुध्दिमूलक उपयोगितावाद के समर्थक हेनरी सिजविक ने सुख को परिभाषित करते हुए कहा है कि- "सुब वह भावना है, जिसे बुध्दिशील प्राणी अनुभव करने पर कम से कम निहित रूप में वांछनीय समझते हैं और अन्य भावनाओं की तुलना में वरीय मानते हैं।"

7.5 सुख एवं आनन्द में अन्तर -

हेनरी सिजविक ने जिस रूप में सुख को परिभाषित किया है, उसमें आंशिक सत्यता ही निहित है। प्रत्येक दशा में उसमें सुख की अनुभूति को वांछनीय नहीं माना जा सकता। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक सुखवाद की दी गयी परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि आरम्भिक सुखवादियों ने व्यक्तिगत सुख को ही मानव जीवन का लक्ष्य मान लिया था । कालान्तर में उस दुष्टिकोण में परिवर्तन हुआ तथा व्यक्तिगत सुख के स्थान पर सामाजिक सुख को मानव जीवन का लक्ष्य बनाया गया। प्रायःसभी सुखवादी नीतिशास्त्री प्रमुख रूप से यह भूल करते हैं, कि वे 'सुख' एवं आनन्द में कोई भेद नहीं करते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि 'सुख' एवं 'आनन्द' एक ही नहीं है। सुख से तात्पर्य इच्छाओं एवं इन्द्रियों को तृप्ति से है, जबकि आनन्द से तात्पर्य मनुष्य के समग्र रूप में सन्तुष्ट होने से है। सुख ऐन्द्रिक तृप्ति से सम्बन्धित होने के कारण क्षणिक और अस्थायी होता है; जबकि आनन्द मानसिक से बौध्दिक पक्ष से सम्बन्धित होने के कारण कम तीव्र और अधिक स्थायी होता है । यद्यपि सर्वार्थभूलक उपयोगितावाद के समर्थक जॉन स्टार्ट मिल के अनुसार आनन्द एवं सुख में कोई भेद नहीं है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि आनन्द का अर्थ सुख का होना और दुःख का न होना है। सुखवादी मान्यता के आधार पर सुखवाद के दो रूप प्रचलित हुए हैं- मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद (Psychological Hedonism and Ethical Hedonism) सुखनाद के ये सिद्धान्तत: इस प्रकार हैं' -

7.6 -

मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism) के अनुसार सुख मनुष्य की इच्छा का स्वाभाविक विषय है। मनुष्य स्वभाव से ही सुख की इच्छा करता है। मनुष्य सुख की इच्छा के साथ-साथ दुःख से छुटकारा भी चाहता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद यह मानता है कि मनुष्य सदैव सुख की खोज करता है तथा दुःख से बचना चाहता है। नैतिक सुखवाद यथार्थवादी है। यह वास्तविक रूप में इच्छाओं एवं इन्द्रियों तृप्ति से उत्पन्न सुख को ही वास्तविक सुख मानता है। इसलिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद वर्तमान कालिक सुख को ही सुख की कोटि में मानता और इसका सम्बन्ध ' है' से होता है। नैतिक सुखवाद का मनोवैज्ञानिक सुखवाद के पृष्ठभूमि पर ही विकसित होता है। कालान्तर में नीतिशास्त्र में नैतिक- सुखवाद अधिक लोकप्रिय सिध्दान्त के रूप में जाना जाने लगा; क्योंकि यह यथार्थ की अपेक्षा आदर्श पर आधारित था। नैतिक सुखवाद में 'चाहिए' पर अधिक बल दिया गया है और 'चाहिए' में जहाँ मानव के संकल्प स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति होती है; वहीं 'चाहिए' में एक आदर्श भी सन्निहित है, जो लक्ष्य को तो निर्धारित करता ही है; साथ-साथ हमारे कर्मों का उस आदर्श के आधार पर मूल्यांकन हेतु मापदण्ड भी प्रस्तुत करता है।

7.7 नैतिक सुखवाद -

नैतिक सुखवाद भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित होते हुए भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद से अधिक सुसंगत एवं सुसंस्कृत है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित होने के कारण यह भी यह स्वीकार करता है कि मनुष्य कि इच्छा का विषय होने के कारण सुख सभी मनुष्य के लिए काम्य है। परन्तु नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुख पर आधारित होते हुए भी सैध्द्धान्तिक रूप से उससे भिन्न है। यद्यपि नैतिक सुखवाद यह मानता है कि सुख मनुष्य जीवन का परम साध्य है। इसलिए सुख काम्य होने के कारण हमारे जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति होनी चाहिए। नैतिक सुखवाद यह मानता है कि मनुष्य को सुख की खोज तथा दुःख का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार जहाँ मनोवैज्ञानिक सुखवाद 'है' पर बल देता है। वहीं नैतिक सुखवाद 'चाहिए' पर बल देता है। 'चाहिए' की बात करने के कारण नैतिक सुखवाद आदर्श का निर्देश करता है। यह मानव के संकल्प स्वातंत्र्य का मान्यता देता है और यह स्वीकार करता है कि सुख प्राप्त करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। परन्तु कालान्तर में यह नैतिक सुखवाद दो रूपों में प्रचलित होता है- स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद एवं सर्वार्थभूलक या परार्थमूलक सुखवाद (Altruistic Hedonism).

7.8 सुखमूलक उपयोगितावाद -

सामान्य रूप से मनुष्य के सुख को ही स्वतः शुभ माना गया है, किन्तु नीतिशास्त्रियों ने सुख की व्यापकता को भी नैतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। नीतिशास्त्रियों को एक वर्ग का यह कहना है कि मनुष्य का उद्देश्य केवल अधिकतम सुख नहीं है, अपितु अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है। वास्तव में अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख सर्वार्थमूलक या परार्थमूलक सुखवाद का मूल आधार है, जिसे सुखमूलक उपयोगितावाद के नाम से जाना जाता है। इसके समर्थकों में प्रमुख रूप से बेन्थम, मिल तथा सिजविक आते हैं। बेन्थम का उपयोगितावाद में यह बात निहित है कि मनुष्य का वह प्रत्येक कर्म शुभ है, जो अधिक व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्रदान करता है। वेन्थम ने सभी प्रकार के सुखों में परिमाणात्मक भेद को ही स्वीकार करते है और वे सुखों की परिगणना के लिए सुखवादी कलन सिध्दान्त को प्रस्तावित करते है। मिल ने बेन्थम के सर्वार्थमूलक सुखवाद को और परिष्कृत कि उन्होंने सुख के परिमाणात्मक भेद को भी मान्यता दी। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना हैं कि यदि एक व्यक्ति का शुभ हैं, तो समस्त व्यक्तियों का शुभ सभी व्यक्तियों का शुभ होगा। अतएव सभी व्यक्तियों का शुभ प्रत्येक व्यक्ति का शुभ होगा। इस प्रकार बेन्थम के सर्वार्थमूलक सुखवाद को मिल ने परिष्कृत उपयोगितावाद में परिणत कर दिया। मिल का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि मनुष्य में गौरव की भावना पायी जाती है, जो उसके शारीरिक सुख की अपेक्षा बौद्धिक सुख को अधिक श्रेयस्कर मानती है। क्योंकि बौद्धिक सुख शारीरिक सुख होता है।

सिजविक के सर्वार्थमूलक सुखवाद को बुध्दिमूलक उपयोगितावाद के रूप में जाना जाता हैं। सिजविक ने अपने बुद्धिमूलक उपयोगितावाद में बेन्थम एवं मिल से भिन्न दृष्टिकोण को अपनाते हुए विशेष रूप से यह प्रतिपादित किया कि एकमात्र सुख ही नैतिक दृष्टि से स्वरूपत: शुभ है, और जिसकी स्थापना के लिए उन्होंने अन्तश्चेतना के द्वारा प्रदत्त स्वतः सिद्ध अन्तः प्रज्ञा (Intuition) का सहारा लिया। उनका स्पष्ट रूप से यह कहना है कि सुख के ही एकमात्र स्वतः सिध्द होने सम्बन्धी मान्यता का ही अन्तर्बोध होता हैं, न कि विशिष्ट नियमों का नहीं' । अतएव मनुष्य के लिए प्रत्येक दृष्टि से मूल्यवान सुख ही हमारे समस्त कर्मों की नैतिकता का एकमात्र मानदण्ड है। उनका यह मानना है कि व्यावहारिक बुद्धि से हमें समता एवं न्याय का सिध्दान्त प्राप्त होता है, जो समस्त मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण है तथा सभी को इसे अपने जीवन में अपनाकर मनुष्य के समग्र सुख में वृध्दि करना चाहिए।

इस प्रकार सुखमूलक उपयोगितावाद के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि बेन्थम, मिल और सिजविक ने नैतिक प्रतिमान के सिध्दान्त के रूप में सर्वार्थभूलक सुखवाद की स्थापना हेतु सर्वप्रथम मनुष्य के स्वार्थी सुखमूलक

स्वभाव को एक वर्णनात्मक एक सिध्दान्त के रूप में प्रस्तुत करके मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मान्यता प्रदान की गयी और उसके पश्चात तथ्यात्मक सिध्दान्त के आधार पर नैतिक सिध्दान्त स्वसुखवाद को अपनाया गया और पुन: उसी के आधार पर सर्वार्थमूलक सुखवाद को सिध्द्ध करने का का प्रयास किया गया है।

7.9 समीक्षा -

नीतिशास्त्र में नैतिक मानदण्ड को निर्धारित करने के लिए सुखवाद में सुख एवं स्वार्थ की भावना को इतना अधिक महत्व दिया गया, जिससे किसी न किसी रूप में अधिकांश नैतिक सिद्धान्तों में इसे नैतिकता के आन्तरिक तत्व के रूप मैं मान्यता दी जाने लगी। परन्तु यदि समग्र दृष्टिकोण को अपनाते हुए देखा जाए; तो यह स्पष्ट होता है कि जीवन के सम्पूर्णता में सुख ही सब कुछ नहीं है। अतएव सुख मानव के लिए प्रेय के रूप में भले ही मान्य हो, किन्तु इसे परमश्रेय नहीं माना जा सकता। उपयोगितावादी नीतिशास्त्रियों ने सुख को ही परम शुभ मान लिया, जो कि उनकी सबसे बड़ी भूल कही जा सकती है।

7.10 निष्कर्ष :-

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक सभी सुखवादी नीतिशस्त्रियों ने यह विचार व्यक्त किया है कि सुख के अतिरिक्त अन्य कुछ भी स्वतः शुभ नहीं है। परन्तु अपने सुखवादी दृष्टिकोण को लेकर सभी सुखवादी नीतिशास्त्री एकमात्र नहीं है। इसीलिए सुखवाद के अनेक रूप प्रचलित हुए। यदि मानवीय कर्मों के मूल्यांकन हेतु अन्तिम मानदण्ड कर्मों के सुख उत्पन्न करने की संभावना है, तो यह प्रश्न उठना स्वाभविक है कि यह सुख किसका हो ? क्या कर्त्ता के स्वयं के सुख के वृद्धि की संभावना मानदण्ड है अथवा सामान्य रूप से अन्य "व्यतियों का दुख नैतिक कसौटी है। ऐसे ही कई प्रश्न सुखवाद के सम्बन्ध में उठते हैं, जिसके कारण सुखवाद के कई रूप विकसित हुए हैं।

7.11 सारांश -

सुखवाद में मानव इच्छा का विषय सुख है। इस प्रकार सुख अनुकूल भावना है; जो मानव के कर्मों का प्रेरकतत्व है। हम कोई भी कर्म सुख की भावना से ही प्रेरित होकर ही करते हैं। सुख का भाव मनुष्य के अन्दर इच्छा की पूर्ति के बाद उत्पन्न होता है। इसीलिए सुख को प्राप्त करना मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है। यही मनुष्य के जीवन का परम साध्य है, जिस साध्य को ही पाने के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा कर्म किया जाता है। प्रायः नीतिशास्त्र में सुख को दुःख का अभाव, आनन्द की प्राप्ति, प्रसन्नता, इच्छा का स्वाभाविक विषय, सुख को उत्पन्न करने वाले कर्मों को शुभ मानते हुए सुख का प्रमुख स्रोत मानना, इत्यादि रूपों में स्वीकर किया गया है। अधिकांश नीतिशास्त्री सुख को वासनात्मक तृप्ति मानते हैं, जिसके कारण सुखवाद को परिणामवादी और भावना प्रधान नीतिशास्त्र कहा जाता है।

7.12 प्रश्नबोध -

1- सुखवाद पर एक निबन्ध लिखिए।

2- सुखवाद की परिभाषा दीजिए। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद का भेद बताइए।

7.13 उपयोगी पुस्तकें -

1- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण - डॉ० संगम लाल पाण्डेय

2- नीति दर्शनः एक नियामक अध्ययन - श्याम किशोर सेठ : नीलिमा मिश्रा

इकाई–8 सुखवाद का वर्गीकरण

सुखवाद का स्वरूप और उसका वर्गीकरण

(Nature of Hedonism and its classification)

8.1- उद्देश्य

8.2- प्रस्तावना

8.3- सुखवाद का स्वरूप

8.4- सुखवाद का वर्गीकरण

8.5- मनोवैज्ञानिक सुखवाद

8.6- नैतिक सुखवाद - स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद और परार्थमूलक नैतिक सुखवाद

8.7- संस्कृत स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद

8.8- परार्थमूलक नैतिक सुखवाद

8.9- उपयोगितावाद

8.10- विकासवादी सुखवाद

8.11- निष्कर्ष

8.12- सारांश

8.13- प्रश्न बोध

8.14- उपयोगी पुस्तकें।

--------00-------

8.1- उद्देश्यः- मानकीय नीतिशास्त्र स्वतंत्र इच्छा से किये, गये मानवीय कर्मों का उन आदर्शों या मानदण्डों या मानको के आधार मूल्यांकन करता है, जिसे नीतिशास्त्र में मान्यता दी गयी है। मानकीय नीतिशास्त्र अपने स्थापित आदर्शों के आधार पर मनुष्य के किसी भी कर्म को शुभ-अशुभ उचित-अनुचित या कर्तव्य के रूप में घोषित करती है और मनुष्य से ऐसे नैतिक कर्मों को करने की अपेक्षा करती है, जिससे समाज के सभी लोग सामान्य सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकें और सुख का अनुभव कर सकें। प्राय मानव जीवन में सुख को दो रूपों में देखा जाता है। लौकिक सुख और पारलौकिक सुखा पारलौकिक सुख सामान्य सुख की श्रेणी नहीं आता है, इसलिए इसे सर्व सामान्य का सुख नहीं माना जा सकता है। मानव समाज के लिए पारलौकिक सुख की अपेक्षा लौकिक सुख अधिक वांछनीय हो जाता है

क्योंकि इसके बिना हमारा लौकिक जीवन संभव नहीं है। इसलिए जब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के जीवन के लिए क्या सबसे अधिक मूल्यवान है अथवा मानव जीवन का लक्ष्य क्या है? इस प्रश्न के सन्दर्भ में सुखवाद को नैतिक आदर्श के रूप में मानने वाले सुखवादी नीतिशास्त्री यह कह सकते हैं कि किसी भी व्यक्ति के कर्मों पर दिया जाने वाला नैतिक निर्णय उसके द्वारा किये गये कर्म के वास्तविक परिणाम पर निर्भर करता है।

सुख को नैतिक आदर्श के रूप में मान्यता के रूप में मान्यता देने वाले नीतिशास्त्री यह मानते हैं कि मानव जीवन का एकमात्र उद्देश्य अपने लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना है। मनुष्य के प्रत्येक ऐच्छिक कर्म के पीछे अपने सुख का विचार ही प्रेरक हेतु होता है; क्योंकि व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का एक तथ्य है कि वह किसी भी दशा में अन्ततः केवल सुख पाना चाहता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी चीज को नही। प्रायः अरिस्टिपस एपीक्यूरस बेन्थम,मिल, हेनरी सिजविक इत्यादि सुखवादी नीतिशास्त्री सुख को ही मानव जीवन का उददेश्य मानते है। और सुख को ही परमसाध्य या परम शुभ माना है। और प्रत्येक ऐच्छिक कर्म के परिणाम परिणाम स्वरूप प्राप्त सुख को ही अपने जीवन का उददेश्य माना है। ये सभी सुखवादी नीतिशास्त्री इस बात पर सहमत है कि प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का लक्ष्य तो सदैव सुख ही रहेगा। बेन्थम और मिल स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि मनुष्य का अन्तिम साध्य केरल अपना सुख ही है। इसलिए सुखवाद के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि सुख ही अन्तिम शुभ या स्वत : साध्य है। यह स्वतः मूल्यवान है और नैतिक जीवन का सुख ही प्रमुख उद्देश्य है। हेनरी सिजविक तो स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि- "एकमात्र सुख ही स्वयं साध्य शुभ है तथा सुख के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे अपने आप में शुभ माना जा सके।"

8.2- सुखवाद के स्वरूप और वर्गीकरण की प्रस्तावना- मानकीय नीतिशास्त्र में सुखवाद के अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि मानव जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्त करना है। इसलिए सुखवाद के समर्थक सभी नीतिशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का जो कर्म सुख की प्राप्ति में सहायक होता है, नैतिक दृष्टि से उसे शुभ या उचित माना जाता है और जो इसकी प्राप्ति में बाधक हैं, उसे अशुभ या अनुचित माना जाता है।

अतएव सुखवाद नैतिक मानदण्ड के रूप में वह सिध्दान्त है, जिसके अनुसार मनुष्य के जीवन का परम साध्य सुख को प्राप्त करना है। सुखवाद के पाश्चात्य नीतिशास्त्र में प्रथम प्रचारक प्राचीन यूनान के सिरैनैक सम्प्रदाय के नीतिशास्त्र ऐरिस्टिपस, को माना जाता है और इन्हें सुखवाद के रूप में जाना जाता है। एरिस्टियस के बाद संशोधित रूप में एपीक्यूरस ने सुखवाद समर्थन किया है। आधुनिक युग में हॉब्स, ह्यूम,बेन्थम मिल और सिजविक का नाम सुखवादी नीतिशास्त्री के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुखवाद दो प्रकार की मान्यताओं पर आधारित है- एक तात्विक और दूसरा मनोवैज्ञानिक । सुखवाद, की सात्विक विचारधारा के अनुसार मनुष्य केवल इन्द्रियों से युक्त प्राणी है। मनुष्य में विवेक और बुध्दि अवश्य है, किन्तु वह केवल भावनाओं या वासनाओं की सेविका है। अतएव इन्द्रिय या वासनामय मनुष्य की इच्छा की तृप्ति ही परम शुभ है। इन्द्रिय सुख प्राप्त करना ही मनुष्य का प्रमुख उद्देश्य है।

सुखवाद की दूसरी मान्यता का आधार मनोवैज्ञानिक है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार मनुष्य स्वभावतः सुख चाहता है तथा दुःख से छुटकारा चाहता है। मनुष्य के इच्छा का प्रयोजन और विषय सुख है। संसार की सभी वस्तुएं इस सुख की प्राप्ति के लिए साधन मात्र है। सुखवाद की विचारधारा नीतिशास्त्र में कई रूपों में प्रचलित एवं विकसित हुई है। सर्वप्रथम सुखवाद को दो प्रकार का माना गया है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद । नैतिक सुखवाद के भी दो भेद किये गये हैं- स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद (Egoistic ethical Hedonism) और परार्थमूलक नैतिक सुखवाद (Altruistic ethical) स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के अनुसार व्यक्तिगत सुख ही नैतिक आदर्श माना जाता है। परार्थमूलक नैतिक सुखवाद के अनुसार समष्टि का सुख ही नैतिक आदर्श है। इसका मूल सिध्दान्त है- अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख। पुनः सुख की प्रकृति के आधार पर भी स्वार्थमूलक एवं परार्थमूलक सुखवाद

के दो भेद किये गये- निकृष्ट या स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद (Gross egoistic Hedonism) और परिष्कृत स्वार्थमूलक सुखवाद (refined egoistic Hedonism) परार्थमूलक सुखवाद भी दो रूपों में प्रचलित हुआ- स्थूल या निकृष्ट परार्थ मूलक सुखवाद (Gross Altruistic Hedonism), निकृष्ट उपयोगितावाद (or Gross utilitarianism) और परिष्कृत या उत्कुष्ट परार्थमूलक सुखवाद या परिष्कृत या उत्कृष्ट उपयोगितावाद (Refined Altruistic or Refined utilitarianism) सुखवाद के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त सुखवाद के भेद प्रचलित हुए है, जैसे विकासात्मक सुखबाद (evolutionary Hedonism) बुध्दिमूलक उपयोगितावाद (Rational Hedonism) और आदर्शमूलक उपयोगितावाद (Ideal utilitarianism)|

8.3 - सुखवाद का स्वरूप-

सुखवाद अंग्रेजी के Hedonism शब्द का हिन्दी रुपान्तरण है। Hedonism शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के Hedone शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है - आनन्द या सुख । इस प्रकार शाब्दिक अर्थ को दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि "सुखवाद वह नैतिक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार मानव जीवन का एकमात्र साध्य सुख प्राप्त करना है।" सुखवाद के अनुसार सुख ही मनुष्य के प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का विषयहै। सुख ही मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों का प्रवर्तक है। सुख ही नैतिक का अन्तिम मापदण्ड है। मनुष्य का कोई भी कर्म यदि सुख उत्पन्न करता है, तो वह शुभ है और यदि दुःख उत्पन्न करता है तो वह अशुभ है। अतएव सुखवाद के अनुसार मानव के नैतिक जीवन में शुभ-अशुभ,उचित - अनुचित और कर्तव्य- अकर्तव्य इत्यदि का निर्धारक तत्व सुख ही है। सुखवाद के अनुसार सुख ही परम शुभ हैं। इस सिध्दान्त के अनुसार आत्मा की प्रकृति इन्द्रियपरक है। आत्मा संवेदन भाव, वासना और मूल प्रवृत्तियों की एक समाष्टि है। मनुष्य में बुद्धि अवश्य है किन्तु मानवीय स्वभाव में इनका स्थान सर्वोपरि नहीं है। वास्तविकता यह है कि बुद्धि वासनाओं की सेविका मात्र है।- बुध्दि केवल वासनाओं के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सर्वोत्तम साधन की खोज करती है। डेविड ह्यूम ने इसी बात को व्यक्त करते हुए यह कहा है कि- "बुध्दि वासनाओं की सेविका है और होनी भी चाहिए। "

पाश्चात्य एवं प्राच्य दर्शन, में अनेक नीतिशास्त्रयों ने सुख को ही मानव के नैतिक जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना है। पाश्चात्य दर्शन में यूनान में सर्वप्रथम अरिस्टिपस की शिक्षाओं में सुखवादी विचारधारा के संस्करण प्राप्त होते हैं। अरिस्टिपस के अनुसार सुख की भावना एक मन्द गति है। उनका यह कहना है कि अधिक से अधिक सुख पाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को अपनी भावनाओं पर संयम करना चाहिए, क्योंकि जब यह प्रचण्ड होगी, तब दुःख उत्पन्न करेगी। अरिस्टिपस सुख की परिगणना के लिए तीव्रता और वर्तमान कालिकता के रूप में दो आयाम मानें हैं। भारतीय नीतिशास्त्र में महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्तम अर्थात दुःख से उद्विग्न होते हैं,और सुख सभी को अभीष्ट है। भारतीय नीतिकारों का यह सिध्दान्त भी पाश्चात्य नीतिशास्त्री अरिस्टिपस के विचारों का ही पोषण करता हुआ दिखायी पड़ता है। परन्तु अरिस्टिपस द्वारा यह कहना कि हमें वर्तमान क्षण के सुख का उपभोग करना चाहिए तथा दुःख से बचने के लिए आत्मसंयम करना चाहिए,ये दोनों ही बातें परस्पर आत्मविरोधी है।

अरिस्टिपस के सुखवाद की परिभाषा में विद्यमान कमियों को दूर करते हुए एपीक्यूरस ने सुख की परिभाषा देते हुए यह कहा कि – हमारा लक्ष्य सुख पाना नहीं ,अपितु दुःख की निवृत्ति है अर्थात दुःख का अभाव ही सुख है। परन्तु एपीक्यूरस द्वारा दी गयी सुख की परिभाषा को उचित नही माना जा सकता, क्योंकि सुख केवल दुःख का अभाव ही नहीं है, अपितु इसके अतिरिक्त कुछ और भी है।

एपीक्यूरस के पश्चात् हॉब्स ने विशुध्द स्वार्थवाद के आधार पर सुख को परिभाषित करने का प्रयास किया। डेविड ह्यूम ने सुख को लोकोपयोगिता के आधार पर सुख को परिभाषित करने का प्रयास किया । लोकोपयोगिता के

आधार पर सुख को परिभाषित करने के काऱण उन्हें उपयोगितावाद का जनक कहा जाता है।कालान्तर में बेन्थम,मिल एवं सिजविक जैसे नीतिशास्त्रयों ने भी सुख को उपयोगिता के आधार पर ही परिभाषित करने का प्रयास किया है,किन्तु दृष्टिकोण सम्बन्धी भिन्नता के कारण इन सभी नीतिशास्त्रयों का उपयोगितावाद एक दूसरे से भिन्न हो गया है। बुध्दिमूलक उपयोगितावाद के समर्थक हेनरी सिजविक ने सुख को परिभाषित करते हुए कहा है कि – सुख वह भावना है, जिसे बुध्दिशील प्राणी अनुभव करने पर कम से कम निहित रूप में वांछनीय समझते हैं,और अन्य भावनाओं की तुलना में वरीय मानते है।

परन्तु हेनरी सिजविक द्वारा दी गयी सुख की परिभाषा में आंशिक ससत्यता ही विहित है। प्रत्येक दशा में सुख की अनुभूति को वांछनीय नही माना जा सकता है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक सुखवाद की दी गयी आरम्भिक सुखवादियों ने व्यक्तिगत सुख को ही मानव जीवन का लक्ष्य मान लिया था। कालान्तर में इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ तथा व्यक्तिगत सुख के स्थान पर सामाजिक सुख को मानव जीवन का लक्ष्य बनाया गया़। प्रायः सभी सुखवादी नीतिशास्त्री प्रमुख रूप से यह भूल करते हैं कि वे सुख एवं आनन्द में कोई भेद नहीं करते .जबकि वास्तविकता यह है कि सुख एवं आनन्द एक ही है। सुख से तात्पर्य इच्छाओ और इन्द्रियों की तृप्ति से है,जबकि आनन्द से तात्पर्य मनुष्य के समग्र रूप से सन्तुष्ट होने से है। सुख ऐन्द्रिक तृप्ति से सम्बन्धित होने के कारण क्षाणिक और अस्थायी होता है,जबकि आनन्द मानसिक एवं बौध्दिक पक्ष से सम्बन्धित होने के कारण कम तीव्र और अधिक स्थायी होता है। यद्यपि सवार्थमूल उपयोगितावाद के समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार आनन्द एवं सुख में कोई भेंद नहीं है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि आनन्द का अर्थ सुख का होला है और दुःख का न होना है।

8.4 – सुखवाद का वर्गीकरण -

सैध्दान्तिक रूप में सुखवाद के दो रूप प्रचलित हुए हैं- मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद।

5.4.1 – मनोवैज्ञानिक सुखवाद – मनोवैज्ञानिक सुखवाद वह परिकल्पना है, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य सदैव सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने सभी कर्म सुख प्राप्ति की इस स्वाभाविक इच्छा से प्रेरित होकर ही करता है। यह मानव स्वभाव का विश्लेषण ज्यों का त्यों अर्थात-यथार्थ में करता है। स्वभावतः सुख के लिए ही सब कुछ करता है। इसलिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद को तथ्यात्मक सिध्दान्त के रूप में जाना जाता है। कि मनुष्य के सभी कर्मों का एक मात्र लक्ष्य सुख ही है। मनुष्य के सभी इच्छाओं का स्वाभाविक विषय सुख की भावना है। सुख की भावना इच्छाओं का विषय होने के अतिरिक्त सभी ऐच्छिक कर्मों का प्रेरक भी है।

मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा या भावना की इस सुखवादी व्याख्या को ही मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा जाता है। प्रायः कुछ लोग यह समझने की भूल करते है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद और स्वार्थपरक सुखवाद अभिन्न है। वास्विकता यह है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद और स्वार्थपरक सुखवाद में पर्याप्त भेंद है। कोई भी मनुष्य बिना स्वार्थपरक सुखवाद को माने मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मान सकता है। जैसे डेविड ह्यूम स्वार्थपरक सुखवाद को नहीं मानता, किन्तु मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मानता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देख जाए, तो यह स्पष्ट है, कि स्वार्थपरक सुखवाद एक नैतिक सिध्दान्त है और मनोवैज्ञानिक सुखवाद सुख-दुःख का मनोविज्ञान है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें समाहित होती है- मनुष्य के प्रत्येक कर्म का हेतु सुख है। मनुषअय के प्रत्येक इच्छा की तृप्ति या फल सुख है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद सुख को कर्मों का हातु या विषय या फल या तीनों मानता है। किन्तु वह सुख को जीवन का साध्य नहीं मानता या सुख को श्रेय नहीं समझता।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थक नीतिशास्त्रयों में प्रमुख रूप से जेरेमी बेन्थम व जॉन स्टुअर्ट मिल मारिट्ज श्लिक प्रमुख हैं। इन सभी नीतिशास्त्रियों ने मनुष्य के लिए सुख को ही एकमात्र शुभ है। अपनी इस मान्यता को सिध्द करने के लिए ये सभी नीतिशास्त्री मनुष्य के स्वभाव के बारे में यह तथ्यात्मक सिध्दान्त प्रतिपादित किया है ,कि मृनुष्य को मूल प्रकृति है कि वह सुख के लिए ही सभी कार्य करता है और यह सुख वह स्वयं के लिए ही अनुसन्धान करता है। बेन्थम इसे आत्म- वरीयता का सिध्दान्त (Principles of self Preferece)कहता है।

मारिट्ज श्लिक कहते हैं कि "मनुष्य आधिकतम सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही कोई कर्म करता है।" मारिट्ज श्लिक के ही विचार का समर्थन करते हुए जेरेमी बेन्थम कहते हैं कि - प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाभाविक इच्छा से इस प्रकार कार्य करता है कि उस कार्य से उसे अत्यधिक सुख की प्राप्ति हो सके, चाहे उस काम का असर दूसरों के सुख पर कैसा ही क्यों न हो। इस प्रकार बेन्थम के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए अधिकाधिक सुख और कम से कम दुःख को पाने के लिए ही अपने प्रत्येक कार्य को करता है। बेन्थम ने यह स्पष्ट रूप कहा है कि प्रकृति ने मनुष्य जाति को सुख और के साम्राज्य में रखा है उसका एकमात्र लक्ष्य सुख की प्राप्ति और दुःख से छुटकारा पाना है यह वही स्थिर करते हैं कि क्या हमें करना चाहिए और क्या हम करेगें।

जे० एस ० मिल भी अपने विचार व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रदता पाना,किसी वस्तु से विरक्त होना और उसे दुःखप्रद पाना दोनों पूर्णत: अवियोज्य तथ्य है। किसी वस्तु के सुखप्रदता के अनुपात में उसकी कामना न करना एक एक स्वभाविक और दार्शनिक असंभावना है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद के वर्णनात्मक तथ्यात्मक सिध्दान्त (Discriptive factual theory) को ही आधार बनाकर बेन्थम और मिल ने अपने नैतिक आदर्श सम्बन्धी सिध्द्धान्त के रूप में सुखवाद को प्रतिपादित करने की दिशा में आगे बढ़ते हैं। इन नीतिशास्त्रियों ने अपने सुखवाद की मान्यता को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य अपने सभी कर्म सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही करता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक सुखवाद को एक उचित सिध्दान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है और इसके विरुद्ध गयी है अनेक आपत्तियां उठायी गयी है।

1- अनेक नीतिशास्त्रियों ने मनोवैज्ञानिक सुखवा सुखवाद को अमनोवैज्ञानिक मानते हैं। इन नीतिशास्त्रियों यह कहना है कि हम उस स्वभावतः सुख की खोज नहीं करते, अपितु अपनी उस आवश्कता की पूर्ति की वस्तु खोजते है। जिसकी प्राप्ति से सुख होता है। अतएव सुख इच्छा का स्वाभाविक विषय न होकर इच्छापूर्ति का विषय है।

2- मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह उठायी जाती है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सुख के विचार और 'सुखप्रद विचार' को एक समझने की भूल करता है। सुख चुनाव का निमित्त कारण या प्रवर्तक है; उसका अन्तिम कारण या उद्देश्य नहीं। हमें वस्तु की इच्छा होती है। जब वस्तु की प्राप्ति हो जाती है; तो इच्छा की तृप्ति हो जाती है और तब हमें सुख मिलता है। इस प्रकार सुख इच्छा का स्वाभाविक विषय नहीं है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता सदैव इच्छा तृप्ति की पूर्वगामिनी है। बटलर के अनुसार यदि सुख से पहले से पहले वस्तुओं की इच्छा नहीं होती; तो विविध प्रकार के सुखों की सत्ता नहीं होती।" मैकेन्जी के अनुसार सुख का उदय किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है और आवश्यकताओं को इच्छा तृप्ति के पूर्व होना चाहिए। अतएव यह कहा जा सकता है कि सुख इच्छा "पूर्ति का परिणाम है; इच्छा का प्रवर्तक नहीं ।

3- प्रायः सुख शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है-

(i) सुखकर या इच्छित वस्तु की प्राप्ति के पश्चात इच्छा-तृप्ति की अनुभूति

(ii) (ii) सुखप्रद या सन्तोष देने वाली वस्तु

सुख के उपर्युक्त दोनों अर्थों से यह बात उभरकर सामने आती है कि जिसके लिए हमारी इच्छा होती है. वह सदैव कोई वस्तु होती है। जब इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, तब सुखप्रद अनुभूति का उदय होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हम वस्तुओं की इच्छा करते हैं। सुख की इच्छा नहीं।

4- कभी -कभी सुख को चुनाव करने के अर्थ में ग्रहण किया जाता है और यह कहा जाता है कि जैसा तुम चाहो या जैसा करने से तुम्हें सुख मिले वैसा कुरो ।" इस प्रकार का कथन एक निरर्थक पुनरूक्तिमात्र है।

5- हेनरी सिजविक ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद में एक बहुत बड़ा विरोधाभास दिखाया है, जिसे सुख के विरोधाभास के रूप में जाना जाता है। उनका कहना है कि यदि सुख विषयक इच्छा बहुत अधिक बलवती हो, तो वह अपने ही उद्देश्य के लिए घातक सिद्ध होती है जितना ही अधिक हम सुख का अनुसन्धान करते है, उतना ही कम हमें सुख की प्राप्ति होती है। यह सुखवाद का मौलिक विरोधाभास है।

6- मनोवैज्ञानिक सुखवाद में "एक सुख' और 'अनेक सुखों की बात करता है। वास्तविकता यह है कि एक सुख, एक सुखप्रद वस्तु है और अनेक सुख अनेक सुखप्रद वस्तुएँ हैं। अतएव मनोवैज्ञानिक सुखवाद द्वारा एक सुख और 'अनेक सुख 'सम्बन्धित बातें करना उपयुक्त नहीं लगता है।

7- कुछ नीतिशास्त्रियों ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद के इस विचार पर भी आपत्ति की है कि मनुष्य प्रत्येक कार्य केवल आत्मप्रेम या सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही करता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण मनुष्य के अन्दर सम्निहित विशुध्द कर्तव्य भावना या परोपकार वृत्ति को पूर्णतः अस्वीकार करके मनोवैज्ञानिक सुखवाद के मानव स्वभाव के एक महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा कर बैठता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता कि मानव स्वभाव के केवल एक पक्ष सुख' को अत्यधिक महत्व देने तथा मनुष्य के द्वारा किये गये कर्म के उद्देश्य के अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण मनोवैज्ञानिक सुखवाद सभी परिस्थितियों में हमारे समस्त कर्मों की सुन्तोषप्रद व्याख्या करने में असफल हो जाता है। मनोवैज्ञानिक की विद्यमान कमियों से बचने के लिए कुछ नीतिशास्त्रयों ने नैतिक सुखवाद को अधिक उपयुक्त सिध्दान्त के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

8.4.2- नैतिक सुखवाद (ethical Hedonism)-

नैतिक सुखवाद आदर्शमूलक या मूल्यात्मक सिध्दान्त कहा जा सकता है। नैतिक सुख को ही परम शुभ मूल्य मानता, है,या सुख को ही ही स्वतःसाध्य शुभ के रूप में आदर्श मानता है और इसी आदर्श या मूल्यू या मापदण्ड को समस्त मानवीय कर्मों का निर्धारक तत्व मानता है। समस्त मानवीय कर्मों का मूल्यांकन सुख को ही मापदण्ड मानकर होना चाहिए। मनुष्य का वह कर्म उसके लिए शुभ है, जो उसके लिए सुख उत्पन्न करता है, या सुख उत्पन्न करने में सहायक है। नमनुषअय का वह कर्म अशुभ है, जो सुख नहीं उत्पन्न करता है, या सुख उत्पन्न करनें में सहायक नही है। इस प्रकार नैतिक सुखवादी मनुष्य के कर्तव्य निर्धारण के लिए सुख को ही एक मात्र अनिवार्य मानदण्ड मानते है।इनके अनुसार सुख ही अपने आप में वांछनीय है तथा सुख ही अपने आप में शुभ है। दुःख ही अपने आप में अवांछनीय है तथा दुःख ही अपने आप में अशुभ है। इस प्रकार नैतिक सुखवाद प्रमुख रूप से इस मान्यता में विश्वास करता है कि-

(i) प्रत्येक सुखद अनुभव अपने आप में वांछनीय है और शुभ है।

(ii) प्रत्येक दुःखद अनुभव अपने आप में अवांछनीय और अशुभ है।

(iii) दो अनुभवों में जो अधिक सुखद है, वह अपने आप में अधिक वांछनीय है।

(V) दो अनुभवों में जो अधिक दुःखद है, वह अपने आप में अधिक अवांछनीय है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद से भिन्न है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथ्यात्मक है, जबकि नैतिक सुखवाद आदर्शात्मक है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद मनुष्य के स्वभाव का वर्णन करता है और वह यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज करता है। नैतिक सुखवाद यह मानता है कि हमारा परमश्रेय सुख है। वह इस बात पर बल देता है कि मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए।

मनोवैज्ञानिक, सुखवाद इस प्रश्न का उत्तर देता है कि मनुष्य क्या करता है या क्या करना चाहता है। मनुष्य को क्या करना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर से मनोवैज्ञानिक सुखवाद का कोई सम्बन्ध नहीं है। नैतिक सुखवादियों कायह कहना है कि प्रत्येक मनुष्य अपने लिए अधिक से अधिक सुख प्राप्ति की कामना करता है। यही कारण है कि नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद से भिन्न मानते हुए अपने नैतिक सुखवाद की व्याख्या मनोवैज्ञानिक पर ही आधारित करता है। नैतिक सुखवाद भी दो प्रकार का हैं-

(i) स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद और (Egoistic ethical Hedonism)

(ii) सर्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद या परार्थमूलक नैतिक सुखवाद - या उपयोगितावाद (Altruistic ethical Hedonism)

स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद (egoistic ethical Hedonism)स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद का यह मानना है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना ही अधिकतम सुख प्राप्त करने के लिए अधिकतम प्रयास करना चाहिए ऐसी स्थिति में मनुष्य का जो कर्म उसके सुख में सहायक है; वह शुभ है और जो इसमें बाधक है,वह अशुभहै। इस प्रकार स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के अनुसार सभी परिस्थितियों में मनुष्य के समस्त कर्मों के शुभ या अशुभ होने का एकमात्र मानदण्ड उस कर्म के परिणाम स्वरूप उसे प्राप्त होने वाला सुख-दुःख ही है। चार्वाक सम्प्रदाय के आचार्यों तथा पाश्चात्य जगत् के अरिस्टिपस एपीक्यूरस हॉब्स, मारिट्ज श्लिक इत्यादि नीतिशास्त्रियों ने स्वार्थमूलक सुखवाद का समर्थन एवं पोषण किया है। स्वार्थमूलक सुखवाद भी दो प्रकार का है-

(a) स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद (gross egoistic ethical Hedonism) - सिरैनैक सम्प्रदाय के प्रवर्तक अरिस्टिपस को स्वार्थमूलक नैतिक सुख का जनक और प्रचारक माना जाता है। अरिस्टिपस जिस प्रकार सुखवाद का प्रतिपादन किया वह विशुद्ध इन्द्रियपरक स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद है। स्थूल या निकृष्ट स्वार्थभूलक सुखवाद के अनुसार मनुष्य का अपना सुख ही सभी कर्यों का मापदण्ड है। सर्वाधिक सुख देने वाला कार्य ही शुभ तथा कर्त् व्य है। अरिस्टिपस का कहना है कि सुखी जीवन ही नैतिक जीवन है। इस सिध्दान्त मानने वाले सभी नीतिशास्त्री सुखों में गुणात्मक भेंद को नहीं मानते हैं। और गुणात्मक दृष्टि से सभी सुखों को एक समान मानते है। इनके अनुसार ऐन्द्रिक सुख और बौध्दिक सुख में कोई भेंद नहीं है। दोनों प्रकार के सुख एक सामन है। अतएव किसी सुख को उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं कहा जा सकता, किन्तु भविष्य के सुख की अपेक्षा हमें वर्तमान सुख को जीवन में विशेष महत्व देना चाहिए। ये नीतिशास्त्री यह मानते है कि विभ्न्न सुखों में केवल तीव्रता (Intensity)और स्थायित्व (duration) के आधार पर ही भेद किया जा सकता है। जो सुख अधिक तीव्र हो और अझिक समय कत रहे, वही सच्चा सुख है। अधिक तीव्र होने के कारण शारीरिक सुख या इन्द्रियपरक आध्यात्मिक एवं मानसिक सुख की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है ऐसा इसलिए इस प्रकार के नीतिशास्त्री मानते है, क्योंकि शारीरिक सुख मानसिक सुख की अपेक्षा अधिक तीव्रतर होते है। इसलिए स्थूल

स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के समर्थक नीतिशास्त्र स्वष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं। कि वर्तमान को भविष्य के लिए बलिदान करना अनुचित है। वर्तमान ही हमारा है, भविष्य का भरोसा नहीं। सरल संवेदनाओं के अनुसार जीना ही आदर्श है। इस सिध्दान्त के समर्थक दार्शनिकों का यह स्पष्ट मत है कि -

"अतीत मर चुका है और भविष्य संशयात्मक या अनागत है। इसलिए भविष्य अनिश्चित है। वर्तमान ही कुछ है।" स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के समर्थक सभी नीतिशास्त्री तात्कालिक अधिकतम इन्द्रिय सुख के अनुसार जीना ही नैतिक जीवन मानते हैं। इनका स्पष्ट रूप से मानना है,कि वर्तमान से ही हमें अधिक से अधिक सुख लाभ करना चाहिए। भारतीय दर्शन में चार्वाक भी इसी प्रकार के इन्द्रियपरक सुख को शुभ माना है। चार्वाक का स्पष्ट रूप से यह कहना है कि वर्तमान को सुखी बनाना ही मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है। भविष्य की चिन्ता व्यर्थ है। उनका कहना है कि जब तक जीवन है, मनुष्य को इसको सुख से जीना चाहिए, कर्ज लेकर भी घी पीना चाहिए। भविष्य के सुख के लिए वर्तमान सुख को छोड़ना केवल मूर्खता है। इसलिए चार्वाक दर्शन यह कहता है कि - खाओ,पीओ, और मौज उड़ाओं, क्योंकि कल तो मरना ही है।

स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के प्रमुखसमर्थक हॉब्स सब चरित्र गुणों को आत्मप्रेम में विघटिकर देता है। मैन्डेविल और हैलोविल भी इसी मत अनुयायी हैं। इन नीतिशास्त्रियों का यह कहना है कि आनन्द का अर्थ इन्द्रियों की तृप्ति से उत्पन्न सुख की उच्चतम मात्रा है। स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के विश्लेषण से जो बात उभरकर आती है, उसके के आधार पर यह कहा जा सकता है आज के युग में अधिकांश लोग स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद के ही समर्थक हैं। सामान्य मनुष्य वस्तुतः सुख प्राप्ति के लिए ही कोई कार्य करता है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि सुख ही मानव कर्मों का लक्ष्य है; क्योंकि सुख ही शुभ है। परन्तु अनेक नीतिशास्त्रियों ने इस मत की आलोचना की है, जो निम्नलिखित है –

1- स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद मानव स्वभाव को पूर्णतः स्वार्थी सिध्द करता है तथा यह बतलाता है कि सुख ही प्रत्येक दशा में वांछनीय होने के कारण शुभ है। परन्तु व्यक्ति का अपना ही सुख प्रत्येक दशा में वांछनीय नहीं हो सकता। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। और सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज के सुख में ही उसका अपना भी सुख साम्नहित होता है। वास्तविकता यह है समाज के अन्य लोगों के सुखी होने पर ही सच्चा सुख मिल सकता है।

2- मानव के सभी कर्मों का एकमात्र लक्ष्य स्वयं का सुख ही नहीं हो सकता। इस सिध्दान्त में मनुष्य के त्याग, परोपकार, सहमुभूति, विश्व बन्धुत्व, करूणा जैसे श्रेष्ठ गुणों का प्रकाशन नहीं हो पाता, जबकि ये सभी गुण आदर्श मानव समाज के लिए आवश्यक है।

3- स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता का समर्थक होने के कारण यह मानता है कि व्यक्ति ने अपने हितों के रक्षा के लिए ही समाज का निर्माण किया। इस प्रकार इस मत के अनुसार व्यक्ति एवं समाज का सम्बन्ध यांत्रिक है।

4- स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित होने के कारण यह प्रतिपादित करता है कि कोई भी व्यक्ति कोई कार्य स्वतः सुख प्राप्त करने लिए ही करता है। परन्तु मनुष्य दूसरों के सुख प्रदान करके भी सुख की अनुभूति करता है।

5- सिजविक ने स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद में मौलिक विरोध भास को दिखाया और यह कहा है कि यदि मनुष्य सुख के बारे में ही सोचता रहे, तो सुखद वस्तु उससे दूर हो जाएगी।

6- स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद का आधार भौतिक है, किन्तु केवल भौतिक सुख को ही सुख मान लेना अनुचित है।

7- स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद शारीरिक, या ऐन्द्रिक सुख को ही साध्य मान लेता है, जबकि वास्तविकता यह है कि मनुष्य एक बौध्दिक प्राणी है, इसलिए शारीरिक या ऐन्द्रिक सुख उसे पूर्णतया सन्तुष्टि नहीं प्रदान कर सकते।

8- शारीरिक या ऐन्द्रिक सुख तक मनुष्य के द्वारा अपने को सीमित करना पशुता के स्तर पर उतर जाना है, क्योंकि यह स्थिति मनुष्य की पशु से भिन्न नहीं रह जाती है।

9- स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्कृष्ट या सुसंस्कृत नैतिक पर परार्थमूलक सुखवाद या उपयोगिता का विकास हुआ। बुध्दि को इस सिद्धान्त में विशेष गुण माना गया है। इस सिद्धान्त का यह मानना है कि बौध्दिक मानव केवल अपने ही सुख के लिए कार्य नहीं करता है। समाज के अन्य लोगों को भी सुखी बनाना ही बौध्दिक समाज का लक्ष्य होता है। इसीलिए इस प्रकार के सुखवाद को परार्थमूलक नैतिक सुखवाद या उपयोगितावाद कहा गया है।

8.7 - संस्कृत स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद - (Refined egoistic ethical Hedonism)

संस्कृत स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के प्रमुख समर्थक 'एपीक्यूरस है। इनका यह मानना है कि हमारे नैतिक जीवन में बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान है। सच्चे आनन्द की प्राप्ति के लिए बुद्धि ही उपयुक्त पथ-प्रदर्शक है। सुखी जीवन विचारपूर्ण जीवन है। अतएव क्षणिक सुख से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। इस सिध्दान्त में यह स्वीकार किया जाता है कि "सुख दुःख का अभाव है।" इस सिध्दान्त में यह माना जाता है कि जीवन का लक्ष्य भावात्मक अनुभूति अथवा विषयाभोग की अपेक्षा अनुभूति शून्यता, तटस्थता अथवा उदासीनता है। यही कारण है कि संस्कृत स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के समर्थक नीतिशास्त्री शारीरिक सुख या इन्द्रियपरक सुख को बौध्दिक सुख की अपेक्षा निकृष्ट कोटि का मानते हैं।

- स्वार्थमूलक नौतिक सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। इसलिए स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दोषों से दूषित है।

- स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद हमें नैतिकता का समान मापदण्ड प्रदान करने में असमर्थ है। जो कार्य एक के लिए सुखद है, वही दूसरों के लिए दुःखद् हो सकता है।

- स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद हमें सुखों की न्यूनाधिक परिगणना के लिए कहता है; किन्तु यह कार्य कष्ट साध्य है। आन्तरिक अनुभूतियों के पारमाज को भापा नहीं जा सकता।

- स्वार्थभूलक सुखवाद की एक प्रमुख कठिनाई यह है कि आत्मगत अनुभूतियां जैसे उमंग, स्वभाव और परिस्थितियों के परिवर्तन के परिणामस्वरूप परिवर्तित हो जाती है। इसलिए भी स्वार्थमूलक सुखवाद की परिगणना करने की प्रक्रिया अव्यावहारिक है।

- स्वार्थमूलक सुखवाद में वर्णित इन्द्रियपरक स्वार्थवाद को नैतिक कहना युक्तिसंगत नहीं है। यह निलज्ज होकर वासना तृप्ति एवं विषय भोग को ही नैतिक जीवन सिध्द करना चाहता है। यह नैतिकता का स्थान दुराचार को देना चाहता है और विवेकयुक्त जीवन या आत्मसंयम को ही तुच्छ समझ बैठता है जबकि वास्तविकता यह है कि विवेकयुक्त और आत्मसंयमित जीवन में ही नैतिकता सन्निहित है।

- यद्यपि एपीक्यूरस ने सुख को दुःख अभाव क् रूप में परिभाषित कर स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद को परिष्कृत करने का प्रयास कीया है, किन्तु उसका यह सिध्दान्त सक्रिय जीवन को प्रोत्साहित न कर निष्क्रिय,वेदना-रहित जीवन को प्रोत्साहित करता है। वास्तविकता यह है कि एपीक्यूरस सुख को परिभाषित करते समय यह भूल जाता है कि नैतिकता निरन्तर क्रियाशीलता में सन्निहित है।

- स्वार्थमूलक सुखवाद की सबसे बड़ी गलती, यह है कि वह वैयक्तिक सुब को ही मनुष्य का सर्वोच्च शुभ मान बैठता है। वह यह भूल जाता है कि वैयक्तिक सुख ही मनुष्य का सर्वोच्च शुभ नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद परोपकार जैसी मानवीय प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ हो जाता है। इसीलिए स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के सन्दर्भ में प्राय: यह कहा जाता है कि यह मानवीय कर्मों के शुभत्व के सम्बन्ध में कोई समुचित एवं सन्तोषप्रद समाधान देने में असफल रहा है। यही कारण है। कि कालान्तर में स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के स्थान पर परार्थमूलक या सर्वार्थमूलक का विकास हुआ।

8.8 - परार्थमूलक नैतिक सुखवाद - (Altruistic ethical Hedonism)

परार्थमूलक नैतिक सुखवाद में सुख ही मानव जीवन का साध्य है, किन्तु यह सुख व्यक्ति का सुख न होकर समाष्टि का सुख है। परार्थमूलक नैतिक सुखवाद में व्यक्तिगत सुख के स्थान पर समाष्टि के सुख ही अपना लक्ष्य मानता है। स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद की आलोचना करते हुए ये नीतिशास्त्रीयह कहते हैं कि केवल निजी सुख के लिए कोई कार्य करना तो पशु के समान आचरण करना है। मनुष्य एक विवेकशील सामाजिक प्राणी और मनुष्य का सच्चा सुख समष्टि के सुख में है। इसलिए मनुष्य केवल अपने सुख तक सीमित न रहकर अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के लिए कोई कर्म करता है। स्वार्थमूलक सुखवाद की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि वह अपने लिए ही नहीं; वरन् सभी के लिए (The Each one for all)है। इसे हम बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त के रूप में व्यक्त कर सकते हैं। कालान्तर में इस प्रकार के सुखवाद की ही परिणति उपयोगितावादी (Utilitarianism) सिध्दान्त में होती है, जिसके प्रमुख समर्थक नीतिशास्त्री बेन्थम, मिल और सिजविक हैं। उपयोगितावाद में यह स्वीकार किया जाता है कि सुख की वास्तविक उपयोगिता समाज के सभी लोगों को है। अतएव उपयोगिता ही नैतिकता का मापदण्ड हैं, जिसके आधार पर मानवीय सुख के शुभत्व का निर्धारण होना चाहिए।

8.9 – उपयोगितावाद - (Utilitarianism)

उपयोगितावाद के समर्थक नीतिशास्त्री बेन्थम, मिल और सिजविक है, मनुष्य के ऐसे कर्म को नैतिक दृष्टि से शुभ माना है, जो मानव जीवन में उपयोगी है। ये सभी नीतिशास्त्री यह मानते हैं कि मानव मात्र के लिए उपयोगी केवल सुख है। और अनुपयोगी क़ल दुःख है। मनुष्य जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है ,उसकी प्राप्ति ही उसके लिए सुख उत्पन्न करती है, और मनुष्य जिस वस्तु से दूर भागना चाहता है, वह उसके लए दुःख उत्पन्न करती है। अतएव उपयोगितावाद भी इस मान्यता को सिवीकार करता है कि सुख ही हमारे कर्मों का मूल प्रेरक है।

सुख ही मानव के लिए परम उपयोगी है। इसलिए हमें वही कर्म करना चाहिए जिस कर्म से अधिक सुख मिले और ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिए जो दुःख को उत्पन्न करता है। इस सिध्दान्त में यह बात भी स्वीकार की जाती है कि हमारे लिए अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख उपयोगी है और कम से कम लोगों कादुःख ही अनुपयोगी है। इसलिए अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख (greatest happiness of greatest number) ही हमारे लिए साध्य है। इसीलिए उपयोगितावाद में अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही उपयोगिता का आधार माना गया है। उपयोगितावाद को कुछ लोग सर्वार्थवाद भी कहते है, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार सार्वजनिक सुख

ही वांछनीय है। कुछ लोग इसे परार्थवाद(Altruism) कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार दूसरे व्यक्तियों का सुख साध्य बतलाया गया है।

8.10 - विकासवादी सुखवाद (evolutionary Hedonism) -

विकासवादी सुखवाद के समर्थक नीतिशास्त्री जीवन और जगत में होने वाले विकास को, ही माना है और इसे ही सुखी जीवन का मूल माना है। इस सिध्द्धान्त के अनुसार प्रकृति निरन्तर विकासशील है और विकास का यह कर्म निम्मतर अवस्था में उच्चतर अवस्था की ओर निरन्तर चलता रहता है। विकास को ही सुख का मूल आदर्श मानने के ही कारण इस सिध्दान्त का नाम प्राकृतिक विकासवाद (Natural evolution) के रूप में जाना जाता है क्योंकि इस सिध्दान्त के अनुसार सभी जीवों की उत्पत्ति प्रकृति के विकास क्रम से हुई है | इस सिध्द्धन्त के प्रमुख समर्थक नीतिशास्त्री चार्ल्स डार्विन, लेस्ली स्टीफेन और हर्बर्टस्पेन्सर हैं। डार्विन ने अपनी पुस्तक (origin of species)में यह प्रतिपादित किया कि जीवन संग्राम वातावरण से समायोजन स्थापित करने वाले जीव ही अन्ततोगत्वा बचे रह गये। और डार्विन इसे योग्यतमावशेष या योग्यतम की विजय (Survival of fittest) के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार के विकास को ही डार्विन सुखवाद की संज्ञा दी है। लेस्ली स्टीफेन भी विकासात्मक सुखवाद को स्वीकार करते हैं। लेस्ली स्टीफेन अपने विकासात्मक सुखवाद में यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के कारण सामाजिक परिवेश में ही अपनी क्षमताओं और योग्यताओं का विकास कर सकता है। अतएव स्टीफेन यह प्रतिपादित करते हैं कि सामाजिक कल्याण में वृद्धि करने के प्रत्येक कार्य शुभ है और इसे ही नैतिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। स्टीफेन स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि मनुष्य को वातावरण से समायोजन में जो कार्य सहायक है, वही शुभ है और उसे ही सुखद माना जा सकता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने विकासवादी सुखवाद में व्यक्तिगत एवं सामाजिक नैतिकता की व्याख्या विकासवाद के ही आधार पर करते हैं। इसीलिए हर्बर्ट स्पेन्सर का सुखवाद विकासवादी सुखवाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार अपने और दूसरों के जीवन संरक्षण में सहायक सभी कर्म शुभ और इसके विपरीत अशुभ है। हर्बर्ट स्पेन्सर अधिक विकसित जीवन को ही सामाजिक समायोजन के अनुकूल होने के कारण इसे ही शुभ और सुखद माना है। इसीलिए हर्बर्ट, स्पेन्सर को विकासवादी सुखवाद का पोषक माना जाता है।

स्पेन्सर ने दो प्रकार की नैतिकता को ही स्वीकार करते हैं - सापेक्ष और निरपेक्ष। सापेक्ष नैतिकता सामाजिक तथा संघर्षरत व्यक्ति नैतिकता है। सापेक्ष नैतिक नियम व्यक्ति की स्वाभविक इच्छआ से उत्पन्न होकर बाह्य दबाव के कारण उत्पन्न होते हैं। विकास की पूर्ण अवस्था में आदर्श समाज की स्थापना हो जाएगी और सभी नैतिक नियम निरर्थक हो जाएंगे,क्योंकि नैतिक नियम तो अपूर्ण समाज की देन है। पूर्ण और आदर्श समाज में कर्त्तव्य बोध की भावना ही समुत हो जाएगी। इस प्रकार के समाज में स्वार्थ और परार्थ का भेंद गिर जाएगा और पूर्णतः समाज में पारस्परिक सहयोग और सौहार्द होगा। सैमुअल अलेक्जेण्डर ने भी विकासवादी सुखवादी का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया है, कि जो आदर्श सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित रहता है,उसकी अन्ततः विजय होती है और यह सामाजिक कल्याण के सन्तुलन में सहायक होता है। यही अलेक्जेण्डर के विकासवादी सुखवाद का मूल आधार है।

8.11 - निष्कर्ष : - निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सुखवाद एक ऐसा नैतिक आदर्श है, जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि मनुष्य का वह कर्म उसके लिए शुभ है, जो सुख उत्पन्न करे और वह कर्म अशुभ है,जो दुःख उत्पन्न करे। अतएव मानव के नैतिक जीवन का साध्य तथा विषय सुख है। हमारे सभी कर्मों के शुभत्व और अशुभत्व का मापदण्ड सुख ही है। यह सुख मानव के लिए अनुकुल भावना या वासना है। सुख ही मानव के सभी कर्मों का प्रेरक तत्व है। सुख मानव इच्छा की तृप्ति में ही निहित है। सुख ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिए । इसीलिए सुखवाद को

भावना प्रधान नीतिशआस्त्र के रूप में जाना जाता है। सैध्दान्तिक रूप से यह सुखवाद आरम्भ में दो प्रकार का पाया जाता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद जिसकी स्पष्ट रूप से यह मान्यता है कि मनुष्य स्वभावतः सुख के लिए ही सब कुछ करता है।

सुखवाद का दूसरा रूप नैतिक सुखवाद का है, जिसकी यह मान्यता है कि सुख प्राप्त करना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए।सुख ही हमारे जीवन के नैतिक मूल्य हैं। नैतिक सुखवाद के भी दो रूप विकसित हुए है- स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद एवं परार्थमूलक नैतिक सुखवाद। स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद में मनुष्य के निजी सुख को ही प्रमुखता दी गयी है।और यह भी दो प्रकार का है- स्थूल स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद और संस्कृत स्वार्थमूलक सुखवाद। कालान्तर स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद में पायी गयी कमियों के परिणामस्वरूप परार्थमूलक नैतिक सुखवाद का विकास हुआ, जो बाद में उपयोगितावाद में परिणत हो गया था। सुखवाद को विकासवादी नीतिशास्त्री विकास से जोड़कर विकासवादी सुखवाद की स्थापना किये। सुखवाद के विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण के मूल में जो बात पायी जाती है, उसके अनुसार सुख ही मानव जीवन का नैतिक आदर्श है। यही मानवीय कर्मों का मूल प्रेरक तथा नैतिक मापदण्ड है।

8.12 – सारांश –

सुखवाद के विभिन्न रूप प्रचलित हुए है। आरम्भ में सुखवाद का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में किया गया। तत्पश्चात नैतिक सुखवाद के अनुसार मानव के नैतिक जीवन का साध्य सुख होना चाहिए। नैतिक सुखवाद भी सर्वप्रथम दो भेंद किये गये – स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद और परार्थमूलक नैतिक सुखवाद । आगे चलकर स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के भी दो भेंद किये गये – स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद संस्कृत स्वार्थमूलक सुखवाद स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद में ऐन्द्रिक सुख को ही प्रमुखता दी गयी है,जबकि संस्कृत स्वार्थमूलक सुखवाद में बुध्दि के भी महत्व को स्वीकार किया गया है। स्वार्थमूलक सुखवाद निजी सुख तक ही सीमित था और इसमें सबके लिए सुख की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसलिए स्वार्थमूलक सुखवाद के विरूध्द प्रतिक्रिया के रूप में परार्थमूलक का विकास हुआ। यह परार्थमूलक सुखवाद ही आगे उपयोगितावाद में परिणत हो गया ,जिसके अनुसार मनुष्य का वही कर्म शुभ हैं, जो सुख में सहायक हैं, क्योंकि ऐसा सुख सबके लिए उपयोगी है।

8.13 – प्रश्नबोध -

1- सुखवाद को परिभाषित कीजिए और इसके विभिन्न भेंद की व्याख्या कीजिए।

2- सुखवाद को स्पष्ट कीजिए तथा मनोवैज्ञानिक सुखवाद एवं नैतिक सुखवाद के भेद को स्पष्ट कीजिए।

3 सुखवाद के विभिन्न प्रकार पर एक निबन्ध लिखिए।

8.14 – उपयोगी पुस्तकें :-

1- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण : डॉ० संगम लाल पाण्डेय

२. नीति दर्शन: एक नियामक अध्ययन श्याम किशोर सेठ । नीलिमा मिश्रा

इकाई–9 बेन्थम का उपयोगितावाद

बेन्थम का सर्वार्थमूलक सुखवाद या परार्थमूलक सुख वाद

(Altruistic, Hedonism of Jo Bentham)

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 उपयोगितावाद और परार्थवाद

9.4 बेन्थम का सुखमूलक परार्थवाद

9.5 मनोविज्ञान पर आधारित बेन्थम का उपयोगितावाद

9.6 बेन्थम का उपयोगितावाद परक उपयोगितावाद

9.7 बेन्थम का इन्द्रियपरक उपयोगितावाद

9.8 बेन्थम का अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख पर आधारित उपयोगितावाद

9.9 बेन्थम के उपयोगितावाद की समीक्षा

9.10 बेन्थम का सुखवादी कलन सिध्द्धान्त

9.11 निष्कर्ष

9.12 सारांश

9.13 प्रश्नबोध

9.14 उपयोगी पुस्तकें।

----00------

9.1 उद्देश्य :- मनुष्य स्वभावतः सुख की कामना करता है। इसलिए मनुष्य स्वभावतः उसी कार्य को करता है; जिससे उसे 'सुख प्राप्त हो। मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करने पर भी यह स्पष्ट होता हैं कि मनुष्य का प्रमुख रूप से दो ही उद्देश्य है - सुख की प्राप्ति तथा दुःख का परिहार। कोई भी मनुष्य जो कार्य करता है, उसका उद्देश्य ही होता है कि उस कार्य से उसे सुख मिले तथा दुःख न मिले। मानव स्वभाव के इसी विश्लेषण के आधार पर सुखवादी नीतिशास्त्रियों ने यह प्रतिपादित किया कि सुख ही नैतिकता का मापदण्ड है और यही जीवन का परम साध्य है। सुख ही मनुष्य के जीवन के लिए परम शुभ है। वास्तविकता यह है कि सुख ही वह प्रेरक तत्व है, जो कि हमें किसी कर्म को करने के लिए प्रेरित करता है। इसलिए हमारा वह सभी कर्म शुभ है। जो सुख की प्राप्ति में सहायक और हमारा बाधक है। अतएव हमारे कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारक मापदण्ड सुख ही है। सुखवादी नीतिशास्त्र के विकास क्रम में बेन्थम का सर्वार्थमूलक या परार्थमूलक सुखवाद वह नैतिक सिद्धान्त हैं,जो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को

अपने सुखवाद का आदर्श बनाता है। इसीलिए बेन्थम का सुखवाद सर्वार्थमूलक या परार्थमूलक सुखवाद (Altruistic Hedonism) के रूप में जाना जाता है।

9.2 प्रस्तावना :- नैतिक सुखवाद अपने विकासक्रम में दो रूपों में प्रचलित हुआ है-स्वार्थमूलक सुखवाद (egoistic Hedonism) परार्थमूलक सुखवाद (Altruistic Hedonism) स्वार्थमूलक सुखवाद यह मानता है कि व्यक्ति निजी स्वार्थ ही उसके समस्त कर्मों के मूल में है। अतः व्यक्ति के लिए उसका स्वार्थ ही उसके लिए साध्य है। व्यक्ति कोई कर्म इसलिए करता है कि उससे उसे व्यक्तिगत सुख मिले। मनुष्य जिस व्यक्तिगत सुख की कामना करता है, उसका यह व्यक्तिगत सुख निकृष्ट एवं उत्कृष्ट दोनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु इन दोनों ही प्रकार के सुख में व्यक्ति का निजी सुख ही साध्य है। इसीलिए इस प्रकार के सुखवाद को स्वार्थमूलक सुखवाद कहते हैं।

स्वार्थमूलक सुखवाद के विरुद्ध परार्थमूलक सुखवाद एक प्रतिक्रिया के रूप में जाना जा सकता है, जिसमें भी यद्यपि सुख को ही साध्य माना गया है; किन्तु यह सुख व्यक्ति का निजी सुख न होकर समष्टि का सुख है। यह व्यक्तिगत सुख के स्थान पर समष्टि के सुख को अपना लक्ष्य मानता है। परार्थमूलक सुखवाद के समर्थक नीतिशास्त्री यह मानते हैं कि यदि मनुष्य अपने समस्त कर्मों को केवल अपने निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर करने लगता है; तो मनुष्य का आचरण पशु के आचरण के समान हो जाएगा ।मनुष्य को ईश्वर ने बुद्धि प्रदान की है; जो उसे पशु से अलग करता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जिसके कारण प्रत्येक मनुष्य के कर्मों से उत्पन्न होने वाले दुःख का प्रभाव उसी तक सीमित न रहकर पूरे समाज को प्रभावित करता है।

इसलिए मनुष्य का वह सुख उसके लिए अधिक अभीष्ट है। जिससे अधिक से अधिक लोगों को सुख प्राप्त हो। परस्तु यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि अधिक से अधिक लोगों का ही सुख क्यों प्रत्येक मनुष्य के लिए अभीष्ट होना चाहिए, क्यों न सबका सुख अभीष्ट होना चाहिए। मनुष्य का उद्देश्य सबको सुखी बनाना होना चाहिए। इस प्रश्न के सम्बन्ध में "परार्थमूलक सुखवादियों का यह कहना है कि सबको सुखी बनाना संभव नहीं है। हम केवल अधिक से अधिक लोगों को सुखी बना सकते हैं। अतः हमारे जीवन का सिध्दान्त होना चाहिए - अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख (Greatest Happiness of the Greatest number) । इस प्रकार अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख ही उपयोगिता है और यही उपयोगिता का सूत्र (Formula or Principles of utility) इस उपयोगितावाद को कुछ लोग सर्वार्थवाद (universal)भी कहते हैं; क्योंकि इनके अनुसार सार्वजनिक सुख ही वांछनीय है। कुछ लोग इसे परार्थवाद (Altruism) कहते है; क्योंकि क्या इनके अनुसार उपयोगितावाद में दूसरे व्याक्तयों के सुख को विशेष महत्ता दी गयी है और दूसरे व्याक्तियों के सुख को साध्य बताया गया है।

उपयोगितावाद को अन्य भी अनेक नामों से जाना जाता है; किन्तु सभी नीतिशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि उपयोगितावाद अधिक से अधिक लोगों का सुख, उच्चतम सुख (Maximum Happiness) सामान्य सुख (General Happiness) और सामाजिक सुख (Social Happiness), बहुसंख्यकों का सुख (Happiness of Majority) सार्वभौम सुख (Universal Happiness) आदि का ही नाम है। उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का अपना सुख नहीं, वरन् समष्टि का कल्याण ही शुभ है। जिस कार्य से अधिक से अधिक लोगों को सुख मिलें तथा कम से कम लोगों को कम से कम दुःख मिले वही कार्य शुभ है, उचित है, कर्त्तव्य है।

9.3 उपयोगितावाद और 'परार्थवाद (Utilitarianism and Altruism) -

अधिकांश लोग उपयोगितावाद को परार्थवाद या सर्वार्थवाद की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इन नीतिशास्त्रियों के की द्वारा उपयोगितावाद को परार्थवादया सवार्थवाद के रूप में समझना आंशिक रूप में सत्य है; किन्तु

उपयोगितावाद को परार्थवाद या सर्वार्थवाद के रूप में समझना उपयुक्त नहीं है। नैतिक सुखवाद स्वार्थमूलक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवाद के रूप में प्रचलित हुआ है। स्वार्थमूलक सुखवाद में जहाँ व्यक्तिगत सुख को साध्य माना जाता है। वहीं परार्थमूलक सुखवाद में दूसरों के सुख को साध्य माना जाता है। इसलिए स्वार्थमूलक सुखवाद में जहाँ व्यक्तिवाद प्रमुख है,वही परार्थमूलक सुखवाद में समष्टिवाद प्रमुख है। स्वार्थमूलक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवाद में विद्यमान इस प्रकार के भेदों के बावजूद भी यह दोनों सिध्दान्त सुख को मनुष्य के सभी कार्यों का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं, इसीलिए इन्हें स्वार्थमूलक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवाद के रूप में जाना जाता है।उपयोगितावाद के अनुसार सुख मानव के लिए उपयोगी अवश्य है, किन्तु यह एक मात्र उपयोगी नहीं है। मनुष्य सुख के अतिरिक्त अन्य आदर्शों को पाने के लिए भी कार्य करता है। अतएव मानव जीवन में सुख नहीं,अपितु आदर्श उपयोगी हैं। इससे यह स्ष्ट होता है,कि उपयोगितावाद परार्थमूलक सुखवाद या सर्वार्थमूलक सुखवाद से अधिक व्यापक है।बेन्थम का सुखवाद उपयोगितावाद पर ही आधारित हैं, क्योंकि बेन्थम ने अपने उपयोगितावाद के द्वारा यह प्रतिपादित किया है, कि जिस कार्य से सुख की उत्पत्ति होती हैं, वहीं उपयोगी कार्य है।

9.4 बेन्थम का सुखमूलक परार्थवाद (Bentham's Hedonistic Altruistism) -

बेन्थम का सुखवाद उपयोगितावाद की स्थापना करता है। उन्होंने अपने सुखवादी सिध्दान्त में यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य स्वभावतः सुख चाहता है। इसलिए मनुष्य अपने सभी कार्य सुख के लिए करता है । मनुष्य उसी कार्य को करता है, जिससे सुख की उत्पत्ति होती है, क्योंकि जिस कार्य से सुख की उत्पत्ति होती है, वही कार्य मनुष्य के लिए उपयोगी होती हैं। मनुष्य के जिस कार्य से दुःख की उत्पत्ति होती है, वह उसके लिए अनुउपयोगी है। बेन्थम जिस रूप में सुख को ही साध्य मानकर उपयोगितावाद की स्थापना करते है,उसमें व्यक्ति के लिए उपयोगी सिध्दानत केवल अपना ही सुख नहीं है, अपितु यह मानते है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी और अन्य व्यक्तियों को सुखी बनाकर उसे सच्चे सुख का अनुभव होता हैं, किन्तु समाज के सभी व्यक्तियों को सुखी नहीं बनाया जा सकता है। सबको सुखी बनाना मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर है। कोई भी मनुष्य केवल अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुखी बना सकता है तथा कम से कम व्यक्तियों को कम से कम दुःख देने का प्रयास कर सकता है। इस प्रकार बेन्थम ने अपने सुखवाद में अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही मानव जीवन का आदर्श मान है।

9.5 मनोवैज्ञानिक पर आधारित बेन्थम का उपयोगितावाद -

बेन्थम के उपयोगितावाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। बेन्थम का यह कहना है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख नामक दो शाक्तिशाली शासकों के अधीन रख दिया है। हमें निश्चय करना चाहिए कि हमें क्या करना चाहिए और हम क्या करेंगे। इससे सपष्ट है कि बेन्थम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के कार्य का मापदण्ड सुख है अर्थात् वह सुख प्राप्त करने के लिए ही कोई कार्य करता है। बेन्थम का यह कहना है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अपने से अधिक निकट है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना चाहता है । त्याग, परोपकार आदि कार्य कार्य भी मनुष्य अपने सुख के लिए ही करता है। वह परोपकार इसलिए करता है कि उसे यह अपेक्षा रहती हैं कि दूसरे लोग भी उसके साथ वैसा ही आचरण करेंगे।

अतः सभी प्रकार के परोपकार को पीछे स्वार्थ की भावना ही प्रमुख है। यही बेन्थम के उपयोगितावाद का मनोवैज्ञानिक आधार है। स्वार्थमूलक सुखवाद की भी संज्ञा दी जाती है। बेन्थम यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि संसार में जितनी भी वस्तुएं हैं, उनका महत्व सुख के साधन के रूप में ही है। अतः कोई वस्तु अपने आप में शुभ नहीं है। वह शुभ इसलिए है, क्योंकि वह सुख के साधन के रूप में उपयोगी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव जीवन में सुख ही शुभ है और दुःख ही अशुभ है। परन्तु एक आवश्यक प्रश्न यह है कि हमारे लिए केवल अपना ही सुख साध्य है या

दूसरे का भी सुख साध्य है। इस प्रश्न के उत्तर में बेन्थम का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि कोई कार्य किसी लाभ के बेन्थम का यह कहना है कि मनुष्य बिना अपने किसी लाभ के ऊंगली भी नही हिलाता। इसलिए स्वार्थ ही कर्म का प्रेरक तत्व है। बेन्थम का यह भी कहना है कि मनुष्य अपने सभी कर्म केवल निजी स्वार्थ से ही प्रेरित होकर नहीं करता, अपितु मनुष्य ऐसा भी कर्म करता हैं, जिससे अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्राप्त हो। यही बेन्थम का सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित होते हुए भी परार्थवादी सुखवाद के आदर्श की ओर उन्मुख हो जाते हैं और उनका सुखवाद परार्थवादी सुखवादी सुखवाद के रूप में जाना जाने लगा। बेन्थम स्पष्ट रूप से इस बात का समर्थन करते हुए दिखायी पड़ते हैं कि मनुष्य का वही कर्म शुभ हैं, जिसके कारण अधिक से अधिक लोग सुखी हों।

9.6 बेन्थम का उपयोगितावाद -

सभी उपयोगितवादी नीतिशास्त्रियों की ही भाँति अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही उपयोगितावाद का मूल आधार मानते हैं। यद्पि अधिकांश विचारकों ने बेन्थम के उपयोगितावाद को नैतिक सुखवाद का ही एक रूप माना है। किन्तु सुख को ही उपयोगिता का अनिवार्य आधार नहीं माना जा सकता; क्योंकि कोई भी व्यक्ति सुखवादी न होते हुए उपयोगितावादी हो सकता है। बेन्थम के अनुसार किसी कर्म अथवा नियम की उपयोगिता का एकमात्र मापदण्ड उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाला सुख ही है। इसका अर्थ यही है कि जो कर्म अथवा नियम सुख की उत्पत्ति अथवा वृध्दि में जितना ही अधिक सहायक है, वह उतना ही अधिक उपयोगी है। इस प्रकार केवल सुख को ही उपयोगिता का मापदण्ड मानने के कारण ही बेन्थम के उपयोगितावादी सिध्दान्त को 'सुखमूलक उपयोगितावाद' की संज्ञा दी गयी है।

9.7 बेन्थम का इन्द्रियपरक उपयोगितावाद -

बेन्थम का उपयोगितावाद, स्थूल या इन्द्रियपरक उपयोगितावाद के रूप में जाना जाता है; क्योंकि बेन्थम सुखों में गुणात्मक भेद को न स्वीकार कर केवल परिमाणात्मक भेद को ही स्वीकार करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि गुण की दृष्टि से सभी सुख समान हैं। बेन्थम का स्पष्ट रूप से यह कहना है कि - सुख के परिमाण समान होने पर पुष्पिन का उतना ही शुभ है, जितनी ही शुभ है, जितनी की कविता। अर्थात यहाँ बेन्थम के पुष्पिन के खेल से आशय आलपिन के चुभोने से है। इस प्रकार पुष्पिन के खेल से बेन्थम का तात्पर्य आलपिन का चुभोना ही है। इसलिए बेन्थम के कथन के विषय में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सुख के परिमाण समान होने पर आलपिन से चुभाना उतना ही अच्छा है, जितना कविता । यहाँ बेन्थम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि गुण की दृष्टि से क्रीड़ा और कविता में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार सुख में गुणात्मक भेद (Qualtative difference) नहीं है, किन्तु परिमाणात्मक भेद है। इस सिध्दान्त को परिमाणात्मक भेद और गुणात्मक अभेद का सिद्धान्त कहते हैं।

बेन्थम का यह स्पष्ट अभिमत है कि प्रत्येक व्यक्ति के समस्त कर्मों का एकमात्र मूल उद्देश्य अपने लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना ही है। इस प्रकार बेन्थम मनुष्य के स्वाभाविक स्वार्थपरता को मानता है और उसका यह कथन है कि अपने लिए सुख के महत्तम अंश की प्राप्ति ही विचारवान मनुष्य का उद्देश्य है। स्वार्थ में ही मनुष्य की स्वाभाविक रूचि है। बेन्थम अपने इस प्रकार के द्वारा मनुष्य के नैसर्गिक स्वार्थपरता को ही स्पष्ट करता है। वह यह मत व्यक्त करता है कि तुम्हारी सेवा वह तभी करेगा, जब उससे उसकी अपनी सेवा हो। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बेन्थम ने जिस उपयोगितावाद का प्रतिपादन किया है, उसके अन्तर्गत वे मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मान्यता प्रदान करते हुए दिखायी पड़ते हैं। वे नैतिक सुखवाद को स्वीकार करते हैं और इसके साथ-साथ उपयोगितावाद को भी स्वीकार करते हैं। वे सुखों में गुणात्मक भेद को न मानकर इन्द्रिय सुख को ही परम शुभ मानने के कारण इन्द्रियपरक सुखवाद के पोषक बन जाते हैं।

9.8 बेन्थम का उपयोगितावाद अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का समर्थन करता है। उनके उपयोगितावाद के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिकतम सुख का निर्णय कैसे हो। अधिक से अधिक सुख और कम से कम दुःख तो परिमाण 'से जाना जा सकता है। परन्तु सवाल यह उठता है कि सुखों के परिणाम को कैसे जाना जाए। बेन्थम सुखों की परिगणना के लिए सुखवादी कलन सिध्दान्त की स्थापना करते हैं। बेन्थम सुखवादी परिगणना में आस्था रखते हैं। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना है कि सुखों और दुःखों को तौलो, दोनों की तुलना की प्रकिया से ही सत्-असत् का प्रश्न हल हो जाएगा। सत्-भाव सुख प्रदान करने में और असत् - भाव दुःख प्रदान करने में निहित है। यहाँ एक सवाल यह उठता है कि सुख के परिमाण को मापा कौसे जाए। इस प्रश्न के समाधान के लिए बेन्थम ने एक विशेष सिद्धान्त की स्थापना की है, जिसे सुखवादी कलन (Hedonistic Calculation) के रूप में जाना जाता है। सुखवादी कलन सिध्दान्त के अनुसार सुख की कमी या अधिकता को तीव्रता (Intensity), अवधि (Duration) निश्चितता (Certainity) निकटता (Proximity) उत्पादकता (Recundity), शुद्धता (Purity) एवं व्यापकता (extension): इन सात तत्वों के द्वारा ही मापा जा सकता है। बेन्थम का यह स्पष्ट रूप से मानना है कि परिणाम भेद से ही सुख और दुःख की गणना हो सकती है।

बेन्थम का सुखवाद परोपकारी प्रवृत्ति का है; क्योंकि वह सुखों की व्यापकता का अर्थात् उनसे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या का ध्यान रखता है। यदि किसी सुख का उपभोग की बहुसंख्यक व्यक्ति करते हैं, तो उसकी व्यापकता अधिक है और इसी कारण वह उस सुख की अपेक्षा अधिक वरणीय है। जिसका उपभोग केवल एक ही व्यक्ति कर सकता है। बेन्थम यह कहते है कि – हर एक की गिनती एक है, एक से अधिक किसी की नही, अर्थात् सुख में प्रत्येक समान अंश का अधिकारी है। इस सिध्दान्त के अनुसार नैतिक मानदण्ड व्यक्ति का अधिकतम सिख नही,बल्कि बहुसंख्यक समुदाय का अधिकतम सुख हैं, जिसकी गणना सबके समान अधिकार के आधार पर की जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है और प्रत्येक कार्य अपने सुख के लिए करता है, तो वह अधिक ये अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख कैसे प्रदान कर सकता है? वह स्वार्थ से परार्थ ओर कैसे उन्मुख हो जाता है मनुष्य स्वार्थी होते हुए भी सामाजिक हित के लिए कार्य क्यों करने लगता है। नैतिकता की वह कौन सी शक्ति है,जो उसे स्वार्थ से परार्थ की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है? बेन्थम ने मनुष्य के स्वार्थ से परार्थ की ओर अग्रसर होने के चार कारणों का उल्लेख किया है-

1- भौतिक (natural)

2. सामाजिक (Social)

3- राजनीतिक (Political) धार्मिक (Religious) इन चारों कारणों को बेन्थम नैतिक अंकुश (Moral Sanctions) कहते हैं।

1- बेन्थम के अनुसार व्यक्ति पर जो भौतिक दबाव है। वह प्राकृतिक अंकुश है। प्राकृतिक नियमों को न मानने से शरीर को कष्ट होता है। अतः भौतिक स्वास्थ्य का नियम है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए प्राकृतिक या भौतिक नियमों को मानना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, आहार में संतुलन स्वास्थ्य का नियम है। इस नियम को न मानने से मनुष्य रोगी होगा।

2- सामाजिक दबाव सामाजिक अंकुश का कार्य करते हैं। समाज के नियम न मानने पर समाज में मनुष्य प्रतिष्ठा नहीं पाता है तथा उसे नाना प्रकार सामाजिक कष्टों का सामना करना पड़ता है। समाज में वह व्यक्ति निन्दीय होता है, जो

सामाजिक नियमों का पालन नहीं करता है। अतएव सामाजिक अंकुश व्यक्ति को स्वार्थी से परार्थी होने के लिए बाध्य करता है।

3- राजनीतिक दबाव राजनीतिक अंकुश है। इसके अन्तर्गत राज्य के कानून है। राजकीय कानूनों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति राज्य के द्वारा दण्डित किया जाता है और राजकीय नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति राज्य द्वारा पुरस्कृत किया जाता है। अतएव राजनैतिक दबाव के कारणभी मनुष्य स्वार्थी से परार्थी बन जाता है।

4- प्रायः मनुस्य अपने जीवन में किसी न किसी धर्म से सम्बद्ध होता है। धर्मशास्त्र के अपने नियम है, जिससे मानव आचरण नियमन होता है। इस प्रकार प्रत्येक धार्मिक. व्यक्ति अपने धर्मशास्त्र से ही निर्देशित और शासित होता है। इस प्रकार के धार्मिक दबान को ही धार्मिक अंकुश कहा जाता है। उदाहरणार्थ, धर्मशास्त्र के नियमों को मानने वाला व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करता है और धर्मशास्त्र के नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति नरक का भोग करता है।

इस प्रकार बेन्थम ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि मानव के ऊपर उपर्युक्त चार प्रकार के अंकुशों के कारण ही मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होते हुए भी परार्थी हो जाता है।

9.9 बेन्थम के उपयोगितावाद की समीक्षा -

बेन्थम का उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक नैतिक सुखवाद पर आधारित होते हुए भी उससे बढ़कर है। ऐसा इसलिए है; क्योंकि मनोवैज्ञानिक सुखवाद मानव के स्वभाव का विश्लेषण कर यह बतलाता है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है; वह स्वभाव से ही सुख इच्छा करता है। नैतिक सुखवाद सुख को प्राप्त करने को ही मनुष्य का आदर्श बताता है। बेन्थम का उपयोगितावाद सुखमूलक है और इसका आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। परन्तु बेन्थम सुख को मनुष्य के सभी कार्यों का मूल नहीं मानते हैं, बल्कि सभी कार्यों का लक्ष्य भी नहीं बतलाते हैं। यह लक्ष्य या आदर्श नैतिक सुखवाद है। बेन्थम का उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक सुखवाद से बढ़कर है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक सुखवाद में उपयोगिता पर ध्यान नहीं दिया गया है। बेन्थम के उपयोगितावाद में सुख को अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम उपयोगी बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि बेन्थम का उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक सुखवाद से श्रेयस्कर है, किन्तु उनके उपयोगितावाद में निम्नलिखित कमियाँ पायी जाती हैं -

1- बेन्थम का उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। अतएव मनोवैज्ञानिक सुखवाद सभी दोष बेन्थम के उपयोगितावाद में भी विद्यमान है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य सुख की इच्छा करता है। अपितु सुखद वस्तु इच्छा करता हैं, जिसकी प्राप्ति से वह सुख की अनुभूति करता है।

2- बेन्थम के अनुसार अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही शुभ है। परन्तु अधिकतम व्यक्तियों का निर्णय कैसे हो। सुख व्यक्तिगत अनुभूति है, इसकी मात्रा का निश्चय करना बहुत कठिन कार्य है। केवल भौतिक वस्तुओं में ही मात्रा का निश्चय हो सकता है। हम यह नहीं बतला सकते कि वह कौन सा कर्म है, जिसके कारण अधिक से अधिक व्यक्ति सुखी हों ?

3- बेन्थम के अनुसार तीव्रता तथा दीर्घकालिकता आदि से अधिकतम, का निश्चय हो सकता है। और अधिकतम सुख ही वांछनीय है। सुस्वाद भोजन में तीव्र सुख मिलता है और उपन्यास को पढ़ने में तीव्र सुख की अनुभूति तो नहीं होती; किन्तु वह कम तीव्र सुख होते हुए भी दीर्घकालिक है। ऐसी स्थिति यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि तीव्र और दीर्घकालिक सुख में किसे अधिक वांछनीय माना जाए ? अतएव बेन्थम ने सुखों एवं दुःखों की परिगणना के लिए जो

सुखवादी कलनका सिध्दान्त प्रस्तुत किया है, क्योंकि सुख-दुख के भाव मन को आन्तरिक अवस्थाएँ है, जिनको पारिगणना संभव नहीं हैं।

4- बेन्थम के उपयोगित्मवाद में अस्पष्टता पायी जाती है। उनका यह मानना है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है, किन्तु वह अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के लिए कर्म करता है, जिसके कारण मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होते हुए भी परार्थी बन जाता है। | परन्तु यदि स्वभावतः स्वार्थी है, तो वह परार्थी कैसै बन जाता है। वह अपने व्यक्तिगत सुख को छोड़कर सामाजिक सुख की ओर क्यों प्रवृत्त, है, इसके पक्ष में बेन्थम कोई समुचित कारण नहीं बताते हैं। मनुष्य अपने सुख को छोड़कर सामान्य सुख की प्राप्ति के लिए क्यों प्रयत्न करेगा ? इस प्रश्न का कोई समुचित समाधान बेन्थम के उपयोगितावाद में कहीं मिलता है।

5- स्वार्थ से परार्थ की और प्रवृत्ति का कारण बेन्थम के अनुसार नैतिक अंकुश है। परन्तु सभी नैतिक अंकुश बाह्य दनाव हैं। बाह्य दबाव के कारण किया गया कर्म ऐच्छिक कर्म नहीं हो सकता। यदि हमारा कोई कर्म ऐच्छिक कर्म नहीं होगा, तो वह नैतिक निर्णय का विषय नहीं बन सकता। दबाव में किया गया कर्म भय के कारण किया गया कर्म होगा और उसे नैतिक मूल्यांकन का विषय नहीं बनाया जा सकता।

6- बेन्थम सुख में गुणात्मक भेद नहीं मानते। उनके अनुसार सभी सुथ एक समान हैं। ऐसी स्थिति में क्रीड़ा का सुख और कविता का सुख समान है। इस प्रकार के दृष्टिकोण की अनेक नीतिशास्त्रियों ने आलोचना है और यह कहा है कि शारीरिक सुख और मानसिक सुख को एक समान नहीं माना जा सकता है। कार्लाइल ने इसीलिए बेन्थम के उप योगितावाद शूकर दर्शन (Pig - Philosophy) कहा है क्योंकि कार्लाइल के अनुसार शूकर का क्षुधा तृप्ति सुख भी अन्य सुखों के समान ही होगा। परन्तु जानवर और आदमी के सुख को एक ही प्रकार का नहीं माना जा सकता। इस प्रकार बेन्थम सुर्खों के गुणात्मक या प्रकारान्तर भेद को मान्यता न देकर अनुचित किया है, क्योंकि सुख की व्यापकता उसके गुण की ओर संकेत करती है। 7- बेन्थम का उपयोगितावाद वस्तुतः स्थूल सुखवाद है। इसे निकृष्ट सुखवाद भी कहा जा सकता है; क्योंकि यह सिध्द्रान्त मानता है कि शारीरिक एवं मानसिक सुख समान ही है। जबकि ऐन्द्रिक और बौध्दिक सुख एक ही नहीं हो सकता है। भौतिक सुख एवं आध्यात्मिक आनन्द को एक नहीं माना जा सकता है। भोजन से प्राप्त सुख काव्य के आनन्द के बराबर नहीं हो सकता है।

8- सुख का निश्चय परिमाण के आधार पर नहीं हो सकता। सुख एक मानसिक अनुभूति है। अनुभूति में परिमाण नहीं हो सकता। बेन्थम ने परिमाण मापने का जो आधार बताया है, वह अव्यावहारिक है। कोई भी व्यक्ति अपने सुख का परिमाण नहीं माप सकता। अन्य लोगों के सुख का परिमाण को मापना तो बिल्कुल असंभव चीज हैं।

9- बेन्थम ने सुखों के व्यापकता को मान्यता को स्वीकार कर सुखवादी परिगणना को अत्यधिक जाटेल बना दिया है। क्या हमें अपने सुखों की अपेक्षा दूसरों के सुखों को अधिक महत्व क्या देना चाहिए। सुखवादी दृष्टिकोण से ऐसा करना अनुचित है। इसके अतिरिक्त हम सम्पूर्ण मानवजाति के सुखों की परिगणना नहीं कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि बेन्थम ने स्वार्थ एवं परार्थ में भेद किया है, किन्तु मनुष्य के स्वभाव में स्वार्थ एवं परार्थ दोनों ही प्रकार की प्रवृत्ति पायी जाती है।

10- सिजविक का यह कहना है कि बेन्थम के उपयोगितावाद में सुखवाद का मौलिक विरोधाभास पाया जाता है, क्योंकि जितना ही अधिक हम सुख, का पीछा करते हैं, उतना ही कम सुख हमें प्राप्त होता है।

इस प्रकार बेन्थम अपने उपयोगितावाद में यह बताने में असमर्थ रहे हैं कि. हमें कम व्यापक सुख की अपेक्षा अधिक व्यापक सुख क्यों चुनना चाहिए? वास्तविकता यह है कि बौध्दिक या सौन्दर्यजन्य सुखों का उपभोग बहुसंख्यक

व्याक्ति कर सकते हैं; स्थूल दैहिक सुखों का उपभोग बहुसंख्यक व्यक्ति नहीं कर सकते। अतएव बेन्थम का उपयोगितावाद स्वार्थमूलक सुखवाद की अपेक्षा अधिक सन्तोषप्रद होते हुए भी पूर्णतः एक लोकप्रिय नैतिक सिध्दान्त नहीं बन सका है।

9.10 बेन्थम का सुखवादी कलन का सिध्दान्त (Theory of Bentham Hedonistic Calculus) - बेन्थम ने सुख एवं दुःख की गणना नैतिक अंकगणित (Moral Arithmatic) कहा है। इसे सुखवादी आकलन या सुखपरक कलन (Felicific Calculus) या उपयोगितावादी कलन भी कहा जाता है। बेन्थम ने सूबों में केवल मात्रात्मक भेद माना है। यहीकारण है कि वे सुखों एवं दुखों को मापने के योग्य मानते है। सुखवादी कलन सिध्दान्त सुख एवं दुख को नापने मी प्रणाली बतलाता है और यह कहता है कि जो कार्य जितना ही अधिक सुख देता है, वह उतना ही अच्छा है और जो कार्य जितना ही आधिक दुःख देता है, वह उतना ही अधिक बुरा है। इस प्रकार बेन्थम ने सुख के परिमाण को नापने के लिए सुखवादी कलन सिध्दान्त का प्रतिपादन किया है, जिसके सात आयाम हैं- तीव्रता (Intensity), अवधि (Duration) निश्चितता (Certainity) निकटता (Proximity) शुद्धता (Purity) उत्पादकता (Fecundity) एवं व्यापकता (extension) बेन्थम ने यह प्रतिपादित किया है कि सुख को नापने के ये सात आयाम सुख की मात्रा के साथ-साथ सुख की वांछनीयता को भी निर्धारित करते हैं। बेन्थम ने यह दिखाया है कि अधिक तीव्र सुख कम तीव्र सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय हैं। इसी प्रकार क्षणिक सुख की अपेक्षा अधिक समय तक बने रहने वाला सुख, अनिश्चित की अपेक्षा निश्चित सुख, दुःख मिश्रित सुख की अपेक्षा विशुद्ध सुख अधिक वांछनीय है। उत्पादकता सुख के अन्दर होती है, जो अनेक सुखों को जन्म देता है। उत्पादक सुख अनुत्पादक सुख से अधिक वरणीय है; क्योंकि अनुत्पादक सुख अन्य सुखों को उत्पन्न नहीं करता । बहुजन का सुख अल्पजन के सुख की अपेक्षा अधिक वरणीय है।

बेन्थम की मान्यता के अनुसार सुखवादी कलन सिध्दान्त के सभी सात तत्व सुख की मात्रा एवं वांछनीयता, दोनों का ही निर्धारण करते हैं। बेन्थम के सुखवादी कलन में व्यापकता को छोड़कर शेष सभी तत्व व्यक्ति के लिए सुख की मात्रा एवं वांछनीयता का निर्धारण करते हैं। सुखवादी कलन सिध्दान्त का अन्तिम तत्व व्यापकता ही सामाजिक सुख की मात्रा एवं वांछनीयता को महत्व देता है। सुखवादी कलन सिध्दान्त में व्यापकता से बेन्थम ने यह प्रतिपादित किया है। कि जिस सुख को जितने अधिक व्याक्त उपभोग करेंगे, वह उतना ही अधिक शुभ और वांछनीय होगा। निश्चय ही बेन्थम का सुखवादी कलन सिध्दान्त का व्यापकता' ही वह तत्व है; जो उनेक उपयोगितावाद को स्वार्थवाद से परार्थवाद में परिणत कर देता है। इस तत्व के द्वारा बेन्थम अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को सर्वार्थवादी सुखवाद की प्रतिष्ठा करने वाला तत्व मानते हुए स्वार्थवाद परार्थवाद की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

परन्तु बेन्थम के सुखवादी कलन सिध्दान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि उसके द्वारा सुख की परिगणना के लिए प्रस्तुत सुखवादी कलन का सिद्धान्त अव्यावहारिक और असन्तोषजनक है, क्योंकि इसके आधार पर सुख की मात्रा को निर्धारित नही किया जा सकता। किसी भी की व्यक्ति के लिए निश्चत रूप से यह कहना बहुत ही कठिन है कि उसे किस वस्तु या कर्म से कितना अधिक या कितना कम सुख प्राप्त होता है। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बहुत से व्यक्तियों में से प्रत्येक व्यक्ति को हमारे किस कर्म द्वारा कितना कम या अधिक सुख होता है या हो सकता है। इसके अतिरिक्त बेन्थम ने सुख की वांछनीयता को मापने के लिए जो आयाम बताये हैं, उनके आधार पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि कौन सी सुखद अनुभूति अधिक वांछनीय है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सुखवादी कलन सिध्दान्त के आधार पर न तो सुख की मात्रा को ही ठीक से नापा जा सकता है और न ही सुख के वांछनीयता को ही निर्धारित किया जा सकता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सुखवादी कलन सिध्दान्त के द्वारा यह सुनिश्चित करना बड़ा ही कठिन है कि दो सुखद अनुभूतियों में एक क्षणिक तथा बहुत तीव्र है और दूसरी अधिक स्थायी, किन्तु कम तीव्र है। ऐसा स्थिति में

इन दोनों में कौन सी अनुभूति अधिक वांछनीय है। अतएव सुखवादी कलन सिध्दान्त में सुख की गणना से अधिक महत्वपूर्ण दुःख की गणना है। किसी कर्म से कितने लोगों को कीतना दुःख कितने समय होता है, इसका विचार करके जो कर्म किया जाए, वह निस्सन्देह रूप से नैतिक दृष्टि से शुभ होगा। अतएव बेन्थम का सुखवादी कलन सिध्दान्त उचित नहीं है, क्योंकि अधिक से अधिक लोगों का सुख सर्वजन का सुख नहीं है, बल्कि बहुजन का सुख है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बेन्थम का सुखवादी कलन का सिध्दान्त सदैव कुछ लोगों के सुख की उपेक्षा करता है और ऐसा करना नैतिक दृष्टि कदापि उचित नीं कहा जा सकता है।

9.11 निष्कर्ष – बेन्थम का उपयोगितावाद मानव प्रकृति समुचित व्याख्या करने में असफल रहा है। उनके उपयोगितावाद की सबसे कमी यह रही है कि वे मनुष्य को स्वभावतः स्वार्थी मान लेते हैं। उन्होंने स्वार्थ को मनुष्य का स्वाभाविक गुण मान लिया, जिसके कारण स्वार्थ और परार्थ का भेद उनके उपयोगितावाद में एक प्रमुख दोष बनकर प्रकट होता है। इस प्रकार के स्वार्थ एवं परार्थ का द्वैत को उत्पन्न करके बेन्थम ने एक बहुत बड़ी भूल की हैं, जबकि उन्हें स्वार्थ एवं परार्थ की खाई को समाप्त कर इनके बीच समन्वय स्थापित करना चाहिए था। वास्विकता यह है कि मनुष्य में जिस प्रकार स्वार्थमूलक भावना पायी जाती है, उसी प्रकार परार्थमूलक भावना भी पायी है। बेन्थम इस बात को भूल जाते है कि मनुष्य में आत्मरक्षण एवं तथा जातिरक्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति पहले से विद्यमान रही है, जिसके कारण यह कहा जा सकता है कि मनुष्य स्वार्थी ही नहीं बल्कि परार्थी भी है। बेन्थम अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को अपने उपयोगितावाद का आदर्श बताया है, किन्तु अधिकतम लोगों का सुख सभी का सुख नहीं हो सकता ।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख होना चाहिए। बेन्थम अपने उपयोगितावाद में अधिकतम लोगों अधिकतम सुख को आदर्श मानकर कुछ लोगों को अधिकतम सुख से वंचित कर दिया है। बेन्थम इस प्रकार दृष्टिकोण का नैतिक दृष्टि से समर्थन नहीं किया जा सकता है। इन सबके बावजूद बेन्थम का उपयोगितावादी सिध्दान्त निस्सन्देह स्वार्थमूलक सुखवाद की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक एवं श्रेष्ठ कहा जा सकता है; क्योंकि इस सिध्दान्त के अनुसार अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के लिए किया गया आचरण ही नैतिक कर्त्तव्य माना गया है। बेन्थम का यह दृढ़ मत है कि कर्म का आन्तरिक कारण कोई होना चाहिए और वह कारण बेन्थम के अनुसार उपयोगिता का विचार हो सकता है। इस सिध्दान्त में सुख की अधिकतम मात्रा के साथ ही साथ न्यायपूर्ण वितरण को भी स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं निष्पक्षता और समानता भी इस सिध्दान्त के मूलभूत मनातव्य हैं, जो व्यक्ति, समाज और नैतिकता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इन सभी विशेषताओं को अपने उपयोगितावाद में समाहित करने के बावजूद भई व्यावहारिक जीवन में आचरण की दृष्टि से बहुत कठिन है, क्योंकि बेन्थम का उपयोगितावाद अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों से युक्त है।

9.12 सारांश -

बेन्थम का उपयोगितावाद स्वार्थमूलक स्थूल इन्द्रियपरक उपयोगितावाद के रूप में जाना जाता है। बेन्थम का यह मानना है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। वह स्वभाव से ही सुख चाहता है और दुःख नहीं चाहता है। यही उपयोगितावाद का मनोवैज्ञानिक आधार है। परन्तु बेन्थम का यह भी कहना है कि मनुष्य का आदर्श केवल अपने आप को ही सुखी बनाना नहीं है, अपितु दूसरों को भी सुखी बनाना है। परन्तु मनुष्य के यह सामर्थ्य में नहीं है कि वह सबको सुखी बना सके। अतएव अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख प्रदान करना ही हमारे नैतिक जीवन का आदर्श होना चाहिए। यही उपयोगितावाद का नैतिक आधार हैं। इस प्रकार सुख का निर्णय उपयोगिता पर निर्भर है। यदि हमारे किसी आचरण से अधिकतम व्याक्तियों को अधिकतम सुख पहुँचता है, तो वह कर्म ही हमारे लिए शुभ है, वैसा आचरण ही मनुष्य का कर्तव्य है। वह आचरण जिससे कम से कम व्यक्तियों को सुख होता है, वैसा हमारा आचरण अशुभ माना जाता है। बेन्थम के परिमाण को मापने के लिए सुखवादी कलन सिध्दान्त को प्रस्तुत किया है, जिसके सात

आयाम हैं – तीव्रता, अवधि, निश्चितता, निकटता, शुध्दता, उत्पादकता एवं व्यापकता। बेन्थम सुखों में केवल परिमाणात्मक भेद को स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादित करते है कि गुणात्मक स्तर पर सभी सुख एक समान होते हैं। उनेहोंने यह दिखाया है कि नैतिक अंकुश (Moral Sanction) के कारण ही मनुष्य का स्वार्थी स्वभाव परार्थी स्वभाव बन जाता है। उन्होंने चार प्रकार के नैतिक अंकुश का उल्लेख किया है।जो इस प्रकार है- प्राकृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक। इस चार प्रकार के नैतिक अंकुश के कारण ही मनुष्य स्वार्थमूलक कर्त्तव्य से परार्थमूलक कर्त्तव्य को प्रमुखता देने लगता है।

9.13 प्रश्नबोध –

1- मनोवैज्ञानिक सुखवाद एवं नैतिक सुखवाद का भेद स्पष्ट कीजिए तथआ यह स्पष्ट कीजिए कि किस प्रकार बेन्थम अपने उपयोगितावाद को मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक सुखवाद पर आधारित करते है ।

2- बेन्थम के उपयोगितावाद का विवेचन कीजिए। बेन्थम के उपयोगितावाद को स्थील उपयोगितवाद क्यों कहा जाता है। विवेचन कीजिए।

3- बेन्थम के सुखवादी कलन सिध्दान्त को स्पष्ट कीजिए।

9.14 उपयोगी पुस्तकें –

1- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण – डॉ0 संगम लाल पाण्डेय

2- नीति दर्शनः एक नियामक विज्ञान – श्याम किशोर सेठ। नीलिमा मिश्र

इकाई–10 मिल का उपयोगितावाद

10.1 - उद्देश्य

10.2 - प्रस्तावना

10.3 - जॉन स्टुअर्ट का उपयोगितावाद

10.4 - जॉन स्टुअर्ट मिल का मनोवैज्ञानिक सुखवाद में आस्था

10.5 - जे० एस० मिल का नैतिक सुखवाद

10.6 - मिल का परार्थवाद.

10.7 - मिल का नैतिक अंकुश का सिध्दान्त

10.8 - सुखों में गुणात्मक भेद

10.9 - मिल के उपभोगितावाद की आलोचना

10.10 - निष्कर्ष

10.11 - सारांश

10.12 - प्रश्न बोध

10.13 - उपयोगी पुस्तकें

----------0000----------

10 – उद्देश्य -

बेन्थम के समान मिल भी सुखवादी और उपयोगितावादरी नीतिशास्त्री हैं । उपयोगितावाद अंग्रेजी शब्द Utilitarianism का हिन्दी स्पान्तरण है। यूटेलिटेरियनिज्म अंग्रेजी शब्द को गढ़ने का श्रेय जॉन स्टुअर्ट मिल को ही है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने सर्वप्रथम Utilitarianism नामक पुस्तक लिखी और इसके बाद ही यूटेलिटेरियानिज्य शब्द नीतिशास्त्र में एक लोकप्रिय शब्द बन गया। यद्यपि utility शब्द का प्रयोग मिल से पहले भी हुआ है और यह शब्द बहुत प्राचीन है, किन्तु जे० एस० मिल ने अपने उपयोगितावाद में अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख" को अ ही उपयोगिता (Utility) कहा है।

मिल के पूर्व ह्यूम किया और बेन्थम ने इस सिध्दान्त का वर्णन किया था, किन्तु मिल ने इस सिध्द्धान्त को शास्त्रीय नैतिक सिध्दान्त के रूप में व्यक्त किया। बेन्थम ने उपयोगितावाद को समझाते हुए कहा - उपयोगिता का अर्थ किसी विषय का वह गुण है, जिसके द्वारा वह विषय किसी पक्ष का लाभ, कल्याण,शुभ,सुख या आनन्द (इन सब का एक ही अर्थ है) के होने को दूर करता है। यदि वह पक्ष (पार्टी) कोई सामान्य वर्ग हैं, तो उस वर्ग का सुख और यदि कोई व्यक्ति है, तो उस व्यक्ति सुख यहाँ एक विचारधारा बन जाता है। बेन्थम ने उपयोगितावाद का जो अर्थ किया था, उससे

उनका आशय अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है। बेन्थम द्वारा उपयोगितावाद किया गया यह अर्थ इतना अधिक महत्वपूर्ण हो गया कि इसे उपयोगिता-सूत्र के रूप में जाना जाने लगा। Formula or Principles of Utility) यद्यपि उपयोगितावाद को अनेक अर्थों में व्यवहृत किया गया है, किन्तु उपयोगिता में दूसरों का सुख निहित है।

10.2 – प्रस्तावना -

बेन्थम के द्वारा प्रतिपादित अपरिष्कृत सर्वार्थमूलक सुखवाद को जे०मिल ने परिष्कृत सर्वार्थमूलक सुखवाद में परिवर्तित कर दिया है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि उपयोगिता में दूसरों का सुख निहित है। कभी-कभी व्यक्तिगत सर्वाधिक सुख व्यक्तिगत उपयोगिता (Private Utility). और अधिक से अधिक दूसरों के सर्वाधिक सुख को लोक उपयोगिता (Public Utility) कहा जाता है। परन्तु उपयोगितावाद व्यक्तिगत उपयोगिता का सिध्दान्त नहीं है। यह अपने विशुद्ध रूप में लोक-उपयोगिता का सिद्धान्त है। प्रायः उपयोगितावादियों ने व्यक्तिगत उपयोगिता और लोक उपयोगिता में विविध रूप में समन्वय करने का प्रयास किये हैं और इस समन्वय की प्रक्रिया में किसी ने व्यक्तिगत उपयोगिता को लोक उपयोगिता से अधिक महत्व दिया है। तो किसी ने लोक उपयोगिता को व्यक्तिगत उपयोगिता अधिक महत्व दिया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सभी उपयोगितावादी नीतिशास्त्री व्यक्तिगत उपयोगिता को लोक-उपयोगिता से अनुपूरित करने का प्रयास किया है। बेन्थम ने लोक उपयोगिता से अधिक महत्व व्यक्तिगत उपयोगिता को दिया है।

जे०एस० मिल ने लोक उपयोगिता को व्यक्तिगत उपयोगिता से अधिक महत्व दिया और हेनरी सिजविक ने तो सार्वभौम सुख या लोक उपयोगिता के दृष्टिकोण से ही व्यक्तिगत उपयोगिता का आकलन किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत उपयोगिता तभी उपयोगिता है जबकि वह लोक-उपयोगिता का अंग हो अन्यथा उसे उपयोगिता समझना भ्रम मात्र है। उपयोगितावाद में मात्र व्यक्तिगत सुख काम्य नहीं है, अपितु सुख मात्र को मानव का अभीष्ट माना गया है। उपयोगितावाद सुख को व्यक्तिगत सीमाओं तथा स्वार्थों से ऊपर रखता है। उपयोगितावाद यह मानता है कि मेरा सुख मेरे लिए उतना ही बड़ा है, जितना बड़ा किसी दूसरे व्यक्ति का सुख मेरे लिए है। उपयोगितावाद यह मानता है कि यदि अन्य परिस्थितियाँ समान हैं। तो हमारा सुख और दूसरे व्यक्ति का सुख मेरे लिए या दूसरे व्यक्ति के लिए या किसी अन्य व्यक्ति के लिए बिल्कुल बराबर है। इस प्रकार उपयोगितावाद अपने और पराये के सुख एक तीसरे निष्पक्ष मनुष्य की दृष्टि से देखता है। उपयोगितावाद के मूल आधार निष्पक्षता, समता, न्याय तथा परोपकार को भावनाएँ हैं। इस प्रकार उपयोगिता स्वार्थ को परार्थ की ओर उन्मुख कर परार्थ को स्वार्थ का वृहत् रूप कहता है।

10.3 - जॉन स्टुअर्ट मिल का उपयोगितावाद -

जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद को परिष्कृत किया, जिसके कारण मिल को सुधरा हुआ बेन्थम कहा जाता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम द्वारा प्रतिपादित सुखमूलक उपयोगितावाद को अधिक विकसित और युक्तिसंगत रूप में प्रस्तुत किया है। बेन्थम की भाँति मिल भी मूलतः नैतिक सुखवाद में विश्वास करते हैं। उनका वमत है कि कोई भी कर्म उसी अनुपात में शुभ या अशुभ है, जिस अनुपात में उसके फलस्वरूप सुख या दुःख की उत्पत्ति होता है। मिल का यह मानना है क उस वस्तु,गुण या मानसिक अवस्था का कोई महत्व नहीं है, जो किसी न किसी रूप में सुख की उत्पत्ति या वृध्दि तथा दुःख से मुक्ति या उसकी कमी में सहायक नहीं है। इस प्रकार मिल के अनुसार सुख वांछनीय है, जिसके लक्ष्य बनाया जा सकता है। जितनी संसार की सुख के अतिरिक्त अनय वस्तुएं है, इस सुख रूपी साध्य के लिए साधन के रूप में उपयोगी है। जे0 एस0 मिल नीतिशास्त्र पर यूटेलिटेरियनिज्म नामक पुस्तके लिखी है, जिसमें उन्होंने उपयोगितावाद सिध्दान्त की विशद विवेचना की है। यद्यपि जे0 एस0 मिल ने उपयोगितावाद के इस सिध्दान्त को अपने पिता जेम्स मिल और अपने समकालीन नीतिशास्त्री बेन्थम से प्राप्त किया था, किन्तु उन्होंने तत्काल

प्रचलित उपयोगितावाद को संशोधित करते हुए, एक नये संस्करण में प्रस्तुत किया है। मिल ने उपयोगितावाद को इस प्रकार प्रस्तुत किया है। उपयोगितावाद वह मत है, जो नैतिकता को उपयोगिता या अधिकतम सुख के सिध्दान्त पर आधारित करता है, और यह मानता है, कि कर्म उसी अनुपात में शुभ या अशुभ है, जिस अनुपात में वे सुख में वृध्दि या सुख के विरोधी दरुःख को उत्पन्न करते है। सुख का अर्थ इन्द्रिय भोग और दुःख का अभाव है और दुःख का अर्थ सुख का अभाव है।

मिल के उपयोगितावाद की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है,कि मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिध्दान्त को लगभग पूर्णतया स्वीकार कर लिया है, किन्तु उन्होंने उसमें कुछ संशोधन भी किये है। इसीलिए बेन्थम का उपयोगितावाद जहां निकृष्ट उपयोगितावाद कहा जाता है। वहीं मिल का उपयोगितावाद उत्कृष्ट उपयोगितावाद माना जाता है। मल ने बेन्थम के उपयोगितावाद का परष्कार कीया है, जिसके कारण उनके उपयोगितावाद को परिकृष्ट सुसंस्कृत उपयोगितावाद भी कहा जाता है।

मिल भी बेन्थम की हा भांति नैतिक सुखावाद का समर्थन करते हुए सुख को उपयोगिता के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना है कि उपयोगिता वही नैतिक का एकमात्र आधार है। मिल ने उपयोगिता की सुखवादी व्यावथा की है। जे0 एस0 मिल अपने समकालीन नीतिशास्त्री जेरेमी बेन्थम के इस मत से सहमत हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का समान महत्व है। इसलिए नैतिक जीवन में समानता का विशेष महत्व है। इसलिए नैतिक दृष्टि से बेन्थम की ही भांति मिल भी मनुष्य के ऐसे कर्म को शुभ मानते है। जिस कर्म से अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्राप्त हो । यही कारण है कि जे0 एस0 मिल ने अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले सभी कर्मों का मापदण्ड मान है, और इसे ही मनुष्य का मूल का नैतिक कर्तव्य कहा है। मिल ने नैतिक जीवन में "समानता' के साथ-साथ न्याय को भी महत्व दिया है और प्रतिपादित किया है कि मानव जीवन वही कर्म उपयोगी है, जो अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख उत्पन्न तो करता, साथ ही साथ यह सुख समष्टि का सुख बनने के लिए इस सुख की सार्वजनिक उपलब्धि भी संभव हो। इसलिए किसी सुख के शुभत्व और सुखद होने के लिए उस सुख में जन सामान्य की सहभागिता भी हो। इसलिए मानव के सुख के शुभत्व के लिए उसका जन सामान्य में न्यायपूर्ण वितरण भी होना चाहिए।

10.4 - जॉन स्टुअर्ट मिल का मनोवैज्ञानिका सुखवाद में आस्था -

जेरेमी बेन्थम के समान हो जॉन स्टुअर्ट मिल भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद में आस्था रखते हैं। मिल भी अपने उपयोगितावाद को मनोवैज्ञानिक सुकवाद पर आधारित करते हैं। मिल ही यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदैव सुख की इच्छा करता है और दुःख से छुटकारा चाहता है। अतएव मनुष्य स्वभावतः उसे चाहता है, जो सुखप्रद हो या सुख के साधन के रूप में सुख की प्राप्ति में सहायक हो। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदैव किसी न किसी रूप में सुख की खोज करता है। इसलिए ऐसी सभी वस्तएँ मनुष्य के लिए वांछनीय है, जो सुख प्रदान करती है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के पक्ष में मिल का यह प्रमाण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है- किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद पाना शुद्ध भाषा में एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य को कहने के दो प्रकार है, तथा किसी वस्तु की इच्छा न करना और उसे दुःखप्रद कहना एक ही बात है, एक ही मनोवैज्ञानिक सत्य को कहने के दो ढंग हैं। किसी वस्तु को वांछनीय समझना और उसे सुखप्रद समझना एक ही बात होता है। हम सर्वदा इच्छा करते है वह सुखप्रद होता है। अतः हम सदैव सुख की इच्छआ करते है। इसलिए मिल यह कहते है कि किसी वस्तु का तद्विषयक विचार की सुखप्रद ता के अनुपात में इच्छा न करना एक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक असंभावना है।

10.5 - जे०एस० मिल का नैतिक सुखवाद -

जे०एस०मिल अपने समकालीन नीतिशास्त्री बेन्थम की ही भांति नैतिक सुखवाद में विश्वास करते है और इनका नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर ही आधारित हैं। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना है कि जब मनुष्य सदैव सुख की इच्छा करता हैं , तो यह स्वाभाविक है कि उसके लिए सुख ही वांछनीय है अर्थात् मिल अपने सुखवाद को नैतिक सुखवाद के रूप में व्यक्त करते हुए यह कहते हैं। कि मनुष्य को सुख की इच्छा करनी चाहिए। मिल नैतिक सुखवाद के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए यह कहते है कि – कोई वस्तु दर्शनीय है; इसका एक मात्र प्रमाण यह है कि लोग सचमुच उसे देखते है, किसी वस्तु के श्रवणनीय होनें का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे सुनते है। इसी प्रकार कोई वस्तु वांछनीय है, इसका एकमात्र प्रमाण यह है , लोग इसकी इच्चआ करते है। सब लोग सुख की इच्छा करते है, इसलिए सुख वांछनीय है। अर्थात् सभी लोगों को सुख की इच्छा करनी चाहिए।

मिल अपने उपर्युक्त उदाहरण में मनोवैज्ञानिक सुखवाद आधार पर ही नैतिक सुखवाद को सिध्द करते हैं। उनका यह कहना हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही सुख की इच्छा करता है, तो ऐसी स्थिति में उसे सुख की ही इच्छा करनी चाहिए। सुक ही मानव जीवन का परम आर्दश है और यह मनुष्य के नैतिक जीवन का मापदण्ड है अर्थात् मनुष्य के उचित-अनुचित कर्मों का निर्णय सुख के आधार पर ही किया जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है, कि सुख की सभी लोग कामना करते है। इसलिए सुख सभी के लिए काम्यनीय है।

10.6 - मिल का परार्थवाद – मिल अपने समकालीन नीतिशास्त्री जेरेमी बेन्थम की ही भांति अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को जीवन का सर्वोच्च आदर्श मानते हैं। उन्होंने यह कहा है कि मनुष्य का निजी सुख उसका आर्दश नहीं है, अपितु मानव जीवन का आर्दश सामान्य सुख होना चाहिए। यदि हम दूसरों से यह अपेक्षा करते हैं कि लोग हमारे साथ अच्छा व्यवहार करे। तो हमें भी चाहिए कि हम दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करें। मिल ईसाई मत के सूत्र का उल्लेख करते हैं, कि अपने सामन ही अपने पड़ोसी से प्यार करना चाहिए। मिल के उस प्रकार के लक्ष्य व्यक्तिगत सुख न होकर सामान्य सुख होना चाहिए। अब यहां प्रश्न यह उठता कि सामान्य सुख हमारा लक्ष्य क्यों होना चाहिएं। यद्यपि इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में बेन्थम ने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु मिल ने एक तार्किक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह कहा है कि – मनुष्य अपना व्यक्तिगत सुख चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए शुभ है। अतः सामान्य सुख सभी व्यक्तियों के समूह के लिए शुभ है ।

मिल ने अपने परार्थवादी सुखवाद के रूप में मनोवैज्ञानिक तर्क का ही सहारा लेते है। उन्होंने मनुष्य के स्वार्थ से परार्थ की ओर अग्रसर होने की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं, कि मनुष्य स्वभाव से तो स्वार्थी है ही और उसकी यह स्वार्थपरता ही उसको सुखप्रद कर्यों को करने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य अपने स्वार्थपूर्ति के लिए ही दूसरों से सहानुभूति रखता है। इस प्रकार के कर्म को करते-करते सहानुभूति उसके जीवन में समाहित हो जाती है और फिर सहानुभूति वश मनुष्य जन समुदाय के सुख के लिए कार्य करने लगता है और उसी में उसे सुख का अनुभव होने लगता है। मनोवैज्ञानिक ही यह मानता है कि मनुष्य के विचार साहचर्य और रूचि स्थानान्तरण के कारण ही आत्मप्रेम से सहानुभूति का विकास होता है। यही कारण है कि मनुष्य आत्मसुख को भूलकर दूसरों के कल्याण और परोपकार में सुख पाने लगता है और वह स्वार्थी से परार्थी बन जाता है। उपयोगितावाद के औचित्य को मनोवैज्ञानिक प्रमाणों के द्वारा भी सुध्दि करने का प्रयास करते है और उनका यह प्रयास एक प्रकार से बेन्थम का ही परिष्कार है।

10.7 - मिल ने मनुष्य के स्वार्थ से परार्थ की ओर बढने के लिए नैतिक अंकुश – मिल ने अपने समकालीन नीतिशास्त्री बेन्थम के नैतिक अंकुश का समर्थन करते है और यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य अपने जीवन में कुछ नैतिक बाध्यता का अनुभव करता है और यह नैतिक बाध्यता एक प्रकार का नैतिक आदेश है। यह नैतिक अंकुश या नैतिक आदेश बाह्य आद्श के रूप में बेन्थ ने चार प्रकार का बताया है। प्राकृतिक सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक है। जे0 एस0 मिल ने उपर्युक्त चार बाह्य आदेशों के अतिरिक्त बेन्थम के सिध्दान्त में संशोधन करते हुए आन्तरिक

अंकुश या आदेश की भी बात करते हैं,जिसके कारण मनुष्य स्वार्थी से परार्थ हो जाता है। मिल ने मनुष्य में अन्तर्निहित आन्तरिक दबाव या आन्तरिक नैतिक अंकुश का वर्णन करते हुए यह कहते हैं कि मनुष्य की आन्तरिक नैतिक बाध्यता सहद और स्वाभाविक तो होती ही है। उसके साथ ही साथ उसमें सन्तोष तथा आनन्द की अनुभूति होती है। यद्यपि मिल ने स्वार्थ की ओर बढ़ने के लिए बाह्य आदेश की स्वीकार करते है, किन्तु उनके विचार में केवल बाह्य आदेशों के दबाव में आकर दूसरों के सुख के लिए कार्य करना स्वार्थ की सिध्दि का साधन ही है।

इस तरह से कार्य करने में व्यक्ति का स्वार्थही परिलक्षित होता है। इसलिए मिल यह कहते हैं, कि मनुष्य की प्रकृति से पता चलता है कि उसके अनदर स्वाभाविक सामाजिक भावना है। यह स्वाभाविक सजातीय भावना (Fellow feeling) मनुष्य को एक दूसरे के साथ मिलकर रहने तथा सुख-दुःख में सम्मिलित होले की स्वाभाविक इच्छा होती है।मिल का कहना है कि इसी सामाजिक भावना तथा सहनुभूति के कारण मनुष्य दूसरों के हित के लिए अपने सुख का त्याग करता है। यही मनुष्य के लिए आन्तरिक नैतिक अंकुश या आन्तरिक नैतिक आदेश है। अब मिल के आन्तरिक नैतिक आदेश के विषय में प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। ऐसी स्थिति में मनुष्य दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का त्याग क्यों करेगा। यह कैसे स्वीकार कर लिया जाए कि मनुष्य सामाजिक भावना के आन्तरिक आदेश से कार्य करता है। इन प्रश्नों के सन्दर्भ में मिल का यह कहना है कि कुछ मनुष्यों में यह स्वाभाविक परोपकार की प्रवृत्ति प्रबल स्वार्थ की भावना के कारण अवशअय दब जाती है, किन्तु ऐसे स्वार्थन्ध व्यक्ति बाह्य आदेशों के दबाव में आकर दूसरों के सुख के लिए अपनों सुख का त्याग करते है. इसलिए मिल कहते है कि कुछ को छोड़कर अधिकांश व्यक्ति सामादिक भावना के आन्तिरक प्रवृत्ति कारण ही अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को दृष्टि में रखते हुए अपने कर्मों को करते है।

इस प्रकार अपने कर्त्तव्य पालन से मनुष्य में आत्म सन्तोष का भाव उत्पन्न होता है। और उसे सुखनुभूति होती है। और जब मनुष्य अपने क्रत्तव्य का उल्लघंन करता है तो उससे उसे दुःखानुभूति, पाश्चाताप या आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न होता है। मिल कर्त्तव्य पालन के मनोवैज्ञानिक कारण की ओर संकेत करते हुए यह कहते है कि मनुष्य को कर्त्तव्य पालन से आत्मतुष्टि और कर्त्तव्य पालन न करने पर एक प्रकार के बेचैनी का अनुभव करता है। मनुष्य अपने अनदर की मानसिक उलझन और बेचैनी को दूर करने के लिए अपने कर्त्तव्य पालन या सामाजिक कार्य करने में जुट जाना पड़ता है। मिल इसे ही अन्तःकरण का आदेश भी करते है। मिल इसे ही कारण का यह आन्तरिक आदेश सामजिक कर्त्तव्य के लिए मनुष्य को विवश करता है। यही मिल के उपयोगितावादी नैतिकता का प्रमुख आधार कहा जा सकता है। मिल अपने आन्तरिक आदेश के सम्बन्ध मों यह रते है कि दूसरों के प्रति कर्त्तव्य की भावना मनुष्य में जन्मजात तो नहीं है, किन्तु प्राकृतिक तो अवश्य है। मनुष्य में पायी जाने वाली नैतिक भावना सहज और स्वाभविक है, जिसके आधार पर ही मानव अस्तित्व टिका हुआ है।

10.8 - सुखों में गुणात्मक भेंद – मिल अपने समकालीन उपयोगितावादी बेन्थम के उपयोगितावाद को स्वीकार करते हुए उसके सिध्दान्त में एक बहुत महत्वपूर्ण सुधार करते है हुए उसके उपयोगितावाद को उत्कृष्ट उपयोगितावैद में परिणत कर दिया है। बेन्थम ने सुखों में केवल परिमाणात्मक या मात्रात्मक भेंद को स्वीकार किया था, किन्तु मिल सुखों में परिमाणात्मक भेंद के साथ – साथ गुणात्मक भेंद को ही मान्यता दी। बेन्थम ने कहा कि सुख की मात्रा समान होले पर पुष्पिन का खेल या आलापिन का चुभाना उतना ही सुखप्रद है। जितना कि उत्कृष्ट कविता।

इस प्रकार बेन्थम यह प्रतिपादित करते है कि गुण की दृष्टि से समान होने पर एक सुखप्रद अनुभव दूसरे सुखप्रद अनुभव की अपेक्षा कम या अधिक वांछनीय नहीं कहा जा सकता है। मिल यह प्रतिपादित करते हैं कि सुख की मात्रा समान होने पर भी गुण की दृष्टि से कुछ सुखप्रद अनुभव दूसरे सुखप्रद अनुभव की अपेक्षा कम या अधिक वांछनीय होते हैं । इस प्रकार मिल के अनुसार किसी सुख की महत्ता और वांछनीयता केवल उसके परिणाम पर ही

नहीं गुण पर भी आधारित है। उनका यह मानना है कि गुण की दृष्टि से सुखों के विभिन्न स्तर हैं र सभी सुखों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। यही कारण है कि मिल शारीरिक सुख या ऐन्द्रिक सुख की अपेक्षा बौध्दिक या मानसिक सुख को अधिक महत्वपूर्ण मान है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि धार्मिक ,आध्यात्मिक या विवेकपूर्ण चिन्तन का सुख, संभीत और ललित कलाओं से मिलने वाला सुख इन्द्रिय या शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट कोटि का है।

मनुष्य को उच्च कोटि के सुख का ही चुनाव करना चाहिए। यही मनुष्य के गरिमा के अनुकूल है। इस विषय में मिल यह तर्क देते है कि – मनुष्य में पशुओं की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि की प्रवृत्तियां होती है। मनुष्य को जब अपनी उत्कृष्ट प्रवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है, तब वह किसी ऐसी वस्तु को सुखप्रद नहीं मानता,जिससे इन उत्कृष्ट प्रवृत्तियों को संन्तोष की प्राप्ति होती है। अतएव कुछ प्रकार के सुखों को दूसरों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान और वांछनीय समझना उपयोगितावाद के बिल्कुल अनुकूल है।

मिल ऐसे पहले सुखवादी विचारक है, जिन्होंने सुखों में गुणात्मक भेंद को स्वीकार किया। यद्यपि ग्रीक दार्शनिक एपीक्यूरस ने भी शारीरिक सुख और मानसिक सुख में भेंद को स्वीकार किया था और मानसिक सुख को शारीरिक या इन्द्रिय सुख से श्रेष्ठ या उत्कृष्ट मान था, किन्तु उन्होंने उसकी श्रेष्ठता का निर्धारण गुण की दृष्टि से न करके सुख की अवधि तथा परिणाम की दृष्टि से किया था। उनका यह अभिमत था कि मानसिक सुख शारीरिक सुख की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ है; क्योंकि वह अधिक अवधि तक रहता है तथा वह दुःख से मुक्त रहता है। मिल का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि मनुष्य का उद्देश्य उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति है, चाहें वह तीव्रता और अवधि में कम ही क्यों न हो । इस प्रकार मिल बेन्थम के उपयोगितावाद में में सुधार करके उसके उपयोगितावाद के परिमाणात्मक भेद को गुणात्मक भेद के स्तर में परिणत कर दिया है। इसीलिए मिल के उपयोगितावाद को संयत संस्कृत या परिष्कृत उपयोगितावाद के रूप में जाना जाता है। अब मिल के उपयोगितावाद के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि सुख के सम्बन्ध के श्रेष्ठता का निर्णय कैसे हो? इस प्रश्न सम्बन्ध में मिल का यह मानना है कि योग्य निर्णायकों के निर्णय को हो इस सम्बन्ध में मान्य समझना चाहिए।

पुनश्च यह प्रश्न उठता है कि योग्य निर्णायक हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मिल का यह कहना है कि योग्य निर्णायक उस व्यक्ति को कहते है, जिस व्यक्ति ने निम्न कोटि और उच्च कोटि के सुखों का अपने जीवन में व्यापक अनुभव प्राप्त किया है। जिस व्यक्ति के पास निम्न और उच्च कोटि के सुखों का व्यापक अनुभव है, वह आत्मनिरीक्षण एवं आत्मचिन्तन की शक्ति के द्वारा सुखो का तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने में समर्थ होता है। मिल यह कहते है कि यदि कोई व्यक्ति जो निम्न कोटि और उच्च कोटि के दो सुखों का अनुभव कर चुका है, और वह बिना किसी बाध्यता के एक को दूसरे के अपेक्षा अधिक वांछनीय मानता हो, ऐसा सुख ही हमारे लिए वांछनीय है।जे0 एस0 मिल का यह डी कहना है कि योग्य निर्णायक सदैव शारीरिक सुखों की अपेक्षा बौध्दिक सुखों को अधिक पसन्द करते है। योग्य निर्णायकों के निर्णय के अपील के लिए कोई उच्चतर अदालत नहीं है। यदि उनमें मतभेंद हो, तो उनमें से बहुसंख्यकों का निर्णय ही मान्य होना चाहिए।

जॉन स्टुअर्ट मल का यह मानना है कि अधिक तीव्र शारीरिक सुख की अपेक्षा कम तीव्र बौध्दिक सुख गुणात्मक दृष्टि अधिक उत्कृष्ट होने के कारण अधिक वांछनीय है। करते उत्कृष्ट सुख की वांछनीयता के कारण को स्पष्ट करते हुए मिल कहते कि उत्कृष्ट सुखों के चुनाव का कारण मनुष्य में पायी जाने वाली गौरव की भावना (Sense of Dignity) है। यह गौरख की भावना मनुष्य में आत्मचेतना के रूप में विद्यमान रहती है; जो मनुष्य को सदैव सचेत करती रहती है कि वह सभी प्राणियों में एक श्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य में मनुष्य होने का गौरव है। अतएव मनुष्य का सुख उसके गौरव के अनुकूल होना चाहिए। मिल कहते हैं कि यदि मनुष्य निम्म कोटि के सुख की प्राप्ति तथा उस सुख के लिए ही

अपने समस्त कर्मों को करने लगे; तो उसके अन्दर विद्यमान गौरख की भावना का उसे बोध कदापि नहीं होगा। इसलिए मनुष्य में अन्तर्निहित गौरव की भावना उसे निम्न कोटि के ऐन्द्रिक सुखों की प्राप्ति में लगे हुए अपनी सहमति कदापि नहीं देगा। वास्तविकता यह है कि मनुष्य अपने गौरव की भावना के कारण ही अपने असन्तुष्ट एवं दुःख पूर्ण जीवन को भी पशु के सन्तुष्ट एवं सुखपूर्ण जीवन में कदापि परिवर्तित नहीं होने देगा। इस सम्बन्ध में मिल की प्रसिद्ध उक्ति है कि- एक सन्तुष्ट शूकर होले की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव बनना अधइक अच्छा है, एक सन्तुष्ट मूर्ख होने की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात बनना अधिक अच्छा है।

जॉन स्टुअर्ट मिल अपने उस उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट करते है कि वे अपरिष्कृत इन्द्रियपरक सुखवाद को स्वीकार नहीं करते; जिसका समर्थन सैरैनिक सम्प्रदाय ने किया है। मिल के द्वारा सुखों में गुणात्मक भेद को मान्यता देना उन्हें सुखवाद से बहुत दूर ले जाता है। यही कारण है मिल के उपयोगितावाद के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिकों ने यह टिप्पणी की है कि उनके उपयोगितावाद में आत्मसंगति का अभाव है। अर्थात् के स्वयं अपने मूल सिद्धान्त सुखवाद का खण्डन करते हैं।

" जॉन स्टार्ट मिल बेन्थम की ही भाँति परार्थमूलक सुखवाद का समर्थन करते हुए दिखायी पड़ते हैं। जहाँ तक बेन्थम की बात है, तो वह परार्थवाद के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं देता है, किन्तु कतिपय युक्तियों को देते हुए यह कहते हैं कि - "उपयोगितावादी मापदण्ड कर्त्ता का अधिकतम सुख नहीं, बल्कि कुल मिलाकर अधिकतम मात्रा है।"

मिल ने अपने उपयोगितावाद के द्वारा नैतिकता के क्षेत्र में एक नये आयाम को जोड़ते हुए यह प्रतिपादित किया है, कि प्रत्येक सहृदय एवं संस्कृत व्यक्ति को उपयोगितावाद के मूल सिद्धान्त 'अधिक व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के अनुसार आचरण करना चाहिए। मनुष्य को कर्तव्य पालन स्वभावतः सुख का अनुभव होता है तथा कर्तव्य उल्लंघन में पाश्चाताप का अनुभव होता है। परन्तु नीतिशास्त्रियों ने मिल के उपयोगितावाद के विरूध्द अनेक आपतियाँ उठायी हैं, जो इस प्रकार हैं -

10.9 - मिल के उपयोगितावाद की आलोचना -

1- मिल का उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है, किन्तु मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर मिल के उपयोगितावाद का समर्थन नहीं किया जा सकता है। मनुष्य में सामाजिक भावना अथवा परोपकारवृत्ति को स्वीकार करके मिल ने स्वयं ही मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खण्डन कर दिया है।

2- मिल ने अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख अथवा सामान्य सुख के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे दोषपूर्ण पूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति के सुख के वांछनीयता के आधार पर सभी व्याक्तयों के सामान्य सुख की वांछनीयता को सिध्द्ध करना एक उपयुक्त सिध्द्धान्त नहीं माना जा सकता। सुख एक वैयक्तिक अनुभूति है, इसलिए यह व्यक्ति विशेष तक सीमित रहता है। मिल ने सभी व्यक्तियों के सुख को सामान्य सुख की संज्ञा दी है; किन्तु सभी व्यक्तियों के सुख का योग संभव नहीं है।

3- मिल ने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त को सुखवाद पर आधारित किया है। अतः सुखवाद के विरुध्द उठायी जाने वाली सभी आपत्तियाँ मिल के उपयोगितावाद पर भी लागू होती हैं। सुखवाद में मानव जीवन का लक्ष्य वासनात्मक इच्छा की तृप्ति को माना गया है, जबकि वास्तविकता यह है कि मानव जीवन का लक्ष्य आत्मपूर्णता है, अर्थात् मनुष्य के जीवन में पूर्ण सन्तुष्टि तभी मिलती है, जब बुध्दि एवं भावना दोनों ही सन्तुष्ट हो।

4- मिल ने एक ओर आनन्द को जीवन का परम श्रेय माना है, और फिर आनन्द को 'सुख' कहकर भारी भूल है। वास्तविकता यह है कि सुख शारीरिक या ऐन्द्रिक तृप्ति माना है की एक अवस्था है जबकि आनन्द समग्र व्यक्तित्व के सन्तुष्ट होने की अवस्था है

5- मिल ने अपने उपयोगितावाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित किया है। इसलिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विरुद्ध जितनी भी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं, वह मिल के उपयोगितावाद पर भी लागू होती है।

6- मिल के द्वारा नैतिक सुखवाद के पक्ष दिया गया तर्क 'आलंकारिक भाषा दोष' से दूषित है। जे० एस० मैकेन्जी के अनुसार – संसार में ऐसी वस्तु शायद ही कोई हो,जिसकी इच्छा न की जा सके । वांछनीय का अर्थ वह नहीं, जिसकी इच्छा की जा सके। बल्कि वह है जिसकी इच्छा की जानी चाहिए।

7- मिल के द्वारा सुखों में गुणात्मक भेद मानना सुखवाद के मूल भावना के विरूध्द है। जेम्स सेथ के अनुसार गुण एक सुखवाद के बाहर की कसौटी है। जेम्स सेथ का ही भांति रैशडल भी कहते है कि – सुख के उत्कृष्टतर गुण की इच्छा वास्तव में सुख की इच्छआ नहीं है। इस प्रकार अनेक आलोचकों का यह कहना है कि सुखों में गुणात्मक भेद मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विरूध्द है।

8- मिल के उपयोगितावाद में सुखों में गुणात्मक भेद के लिए योग्य निर्णायकों के निर्णय को स्वीकार करने की बात की गयी है, किन्तु योग्य निर्णायकों का निर्णय यदि स्वच्छन्द नहीं है, तो वह युक्तिसंगत नहीं है।

9- मिल ने सुख का गुणात्मक उत्कृष्ट की कसौटी को स्पष्ट करने हेतु, मनुष्य के गौरव की भावना की ओर संकेत किया है। परन्तु मिल यह स्पष्ट कर सकने में असफल रहा है कि मनुष्य का गौरव ऐन्द्रिक बोध शक्ति में है या बौध्दिक बोध शक्ति में है। मनुष्य की स्वाभाविक गौरव की भावना बुध्दि का गौरव है, इन्द्रियानुभव का नहीं। वास्तविकता यह है कि सुखों में गुणात्मक भेद करते समय गौरव बोध की बात करके मिल अपने सुखवाद की मूल भावना से ही विचलित हो जाते है, और बुध्दिपरकतावाद में प्रविष्ट हो जाते है।

10- मिल ने अपने उपयोगितवाद में जिस परार्थवाद की बात करके परोपकार का समर्थन करते हुए दिखायी पड़ते है, इसे युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता है। इसीलिए मार्टिन्यू ने मिल के परार्थमूलक सुखवाद या उयोगितावाद की आलोचना करते हुए यह कहा है कि- प्रत्येक अपने लिए से प्रत्येक सबके लिए कोई मार्ग नहीं है।

जे0 एस0 मैकेन्जी ने मिल के उपयोगितावाद पर टिप्पणी करते हुए यह कहा है कि – गुणों की परिमाणों से तुलना नहीं हो सकती, जब तक कि उन्हें परिमाणों में किसी तरह परिणत न कर दिया जाए और यह मिल के अनुसार असंभव है।

10.10 - निष्कर्ष – निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि जे0 एस0 मिल का उपयोगितावाद निर्दोष नहीं है, फिर डी अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का नारा देकर बहुसंख्यक के सुख को नैतिक आर्दश के रूप में अपनाने की प्रेपणा अवश्य दिया है। यह मनुष्य को व्यष्टि के कल्याण की अपेक्षा समाष्टि के कल्याण की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है।यह एक ऐसे आर्दश समाज की ओर लोगों को ले जाना चाहता है। जहां समता और परोपकार की भावना सबके कल्याण के लिए एक नूतन आर्दश बनकर लोगों का ध्यान अपने ओर आकृष्ट करती है। मिल ने अपने उपयोगितावाद में गुणात्मक दृष्टि से सुख में भेंद करके बौध्दिक,सौन्दर्य विषयक ,धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व देकर अपने उपयोगितवाद को सुसंस्कृत उपयोगितावाद में परिणत करने का प्रयास किया है।

मिल ने अपने उपयोगितावाद में गौरव की भावना का समावेश करके मनुष्य के जीवन महान मूल्यों की ओर प्रस्थान करने का उपक्रम अवश्य किया है, किन्तु ऐसा करने में उन्हें अपने सिध्दान्त से विचलित होना पड़ा है। यद्यपि

हेनरी सिजविक ने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद का प्रतिपादन करके बेन्थम एवं मिल के उपयोगितावाद में विद्यमान कमियों को दूर करने की दिशा में प्रयास अवश्य किया है और सुख के वितरण को उन्होंने दूरदार्शिता, परोपकार एवं न्याय पर आधारित बनाया, जिससे व्यक्तिगत और सामाजिक सुख के वितरण का मार्ग अवश्य प्रशस्त हुआ, किन्तु बुध्दि पर आधारित करने के बावजूद भी इनका सिध्दान्त सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य मानता है।

जी0 ई0 मूर ने पनी पुस्तक प्रिन्सिपिया एथिका में यह दिखाया है कि उपयोगितावाद मं सुख को ही मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य माना गया है, किन्तु सुखवाद अनेक भ्रांन्तियों पर आधारित है। सुखवाद में पायी जाने वाली कमियों का विश्लेषण करते हुए जी0ई0 मूर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुषअय के नैतिक जीवन एकमात्र सुख न प्रेरक हो सकता है। और न ही सुख के रूप में परमलक्ष्य माना जा सकता है। मूर का यह कहना है कि उपयोगितावाद सुख को ही मानव जीवन का लक्ष्य मानता है,जिसके कारण उसमें प्रकृतिवादी दोष पाया जाता है। इनका यह कहना है कि –सुखवादी शुभ को सुख के द्वारा परिभाषित करते हैं। सुख एक प्राकृतिक पद हैं, जबकि शुभ आप्राकृतिक पद हैं। अतः सुख के द्वारा शुभ को परिभाषित करने के कारण सुखवाद पर आधारित सभी सिध्दान्तों में प्रकृतिवादी दोष पाया जाता है।

पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले का यह कहना है कि उपयोगितावाद का आर्दश सामान्य सुख अवश्य है, किन्तु सुख जो प्राकृतिक क्षणिक और अस्थायी है, वह नैतिक जीवन का आर्दश कैसे हो सकता है। नैतिक जीवन का आर्दशवही हो सकता है जो निश्चित और स्थायी होने के साथ सार्वभौमिक बन सके। काण्ट ने इसीलिए नैतिक आर्दश को निरपेक्ष आदेश के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके उपयोगितावाद में अनेक कमियां विद्यमान है, फिर भी इन कमियों के बावजूद उन्होंने अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख पर बल देकर तथा बौध्दिक जीवन को इन्द्रियपरक जीवन से श्रेष्ठ बताकर मनुष्य के जीवन को परिष्कृत सुकवाद की ओर अवश्य ही उन्मुख किया है। यही कारण है कि जे0 एस0 मिल के परार्थमूलक सुखवाद को हेनरी सिजविक के बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की पृष्ठिभूमि कहा जा सकता है।

10.11 - सारांश – बेन्थम ने जिस उपयोगितावाद का प्रतिपादन किया था,जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद का ही परिष्कार किया है। इसीलिए मिल के उपयोगितावाद को परिष्कृत उपयोगितावाद या संयत उपयोगितावाद की संज्ञा दिया जाता है। बेन्थम का सुखवाद निकृष्ट और मिल का उपयोगितावाद उत्कृष्ट सुखवाद के रूप में जाना जाता है। मिल भी अन्य सुखवादियों की भांति यह स्वीकार करते है कि सुख प्राप्त करना मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। इसे ही मिल उपयोगितावाद का मनोवैज्ञानिक आदार मानते है। मिल अपने उपयोगितावाद में व्यक्तिगत सुख के बजाय सामान्य सुख को अपना लक्ष्य बनाते है। उनका स्पष्ट रूप से यह कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए वांछनीय है। इसलिए सामान्य सुख सभी के लिए वांछनीय हैं। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना है कि परार्थ सुख को अपनाने के लिए नैतिक आदर्शों को मानना आवश्यक है।

मिल के अनुसार यह आदेश बाह्य आदेश और आन्तरिक आदेश है। बाह्य आदेश के रूप में मिल बेन्थम के मत को स्वीकार करते है, किन्तु वे आन्तिरक आदेश के रूप सहानुभूति परोपकार को भी मान्यता देते है। मिल सुखों में परिमाणात्मक भेद के साथ –साथ गुणात्मक भेद भी मानते है, और गुण की दृष्टि से बौध्दिक सुख को इन्द्रियपरक सुख से उत्कृष्ट मानते हैं बौध्दिक सुख को ही वे उत्कृष्ट कोटि का सुख मानते हैं, और उनका यह कहना है कि मनुष्य में गौरन की भावना पायी जाती हैं, जो उसे पाशविक सुख की अपेक्षा बौध्दिक सुख के चुनाव पर बल देती है। निम्न कोटि के सुख की अपेक्षा उत्कृष्ट बौध्दिक सुख के चुनाव के लिए वे योग्यनिर्णायकों के निर्णय को सर्वोंच्च आर्दश मानते है। इसीलिए उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि – एक सन्तुष्ट शूकर की अपेक्षा असन्तुष्ट मनुष्य होना श्रेयस्कर है और एक सन्तुष्ट मनुष्य होने की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना अधिक श्रेयस्कर है।

10.12 - प्रश्न बोध –

1- जॉन स्टुअर्ट मिल के सर्वार्थमूलक उपयोगितावाद का विवेचन कीजिए।

2- जॉन स्टुअर्ट मिल का उपयोगितावाद बेन्थम से किस रूप में भिन्न है। विवेचन कीजिए।

10.13 - उपयोगी पुस्तकें –

1- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण – डॉ0 संगम लाल पाण्डेय

2- नीतिशास्त्र के मूल सिध्दान्त – डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा

इकाई–11 सिजविक का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

हेनरी सिजविक का बुध्दिमूलक उपयोगितावाद

(Henry Sidgwick's Rational Utilitarianism)

11.1 उद्देश्य :

11.2 प्रस्तावना: -

11.3 मनोवैज्ञानिक सुखवाद के एकांगी होने का निरूपण

11.4 मनुष्य सुख इच्छा न करके सुखद वस्तुओं की इच्छा करता है

11.5 सिजविक का बुध्दिमूलक उपयोगितावाद

11.6 हेनरी सिजविक का बुध्दि या अन्तः प्रज्ञा आधारित उपयोगितावाद

11.7 सिजविक के अनुसार सुख एवं आनन्द

11.8 सिजविक के अनुसार स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद और परार्थमूलक नैतिक सुखवाद

11.9 मनोवैज्ञानिक सुखवाद का मौलिक विरोधाभास

11.10 (a) दूरदर्शिता या विचारात्मक आलप्रेम (Prudence or Rational-Self-Love)

11.10 (b) विचारात्मक परोपकारशीलता (Rational Benevolence)

11.11 हेनरी सिजविक द्वारा परार्थमूलक नैतिक सुखवाद का प्रचलित नैतिकता द्वारा समर्थन

11.12 सिजविक के बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की समीक्षा

11.13 निष्कर्ष

11.14 सारांश

11.15 प्रश्न बोध

11.16 उपयोगी पुस्तकें

11.1 उद्देश्य :

हेनरी सिजविक बेन्थम एवं मिल के द्वारा प्रतिवादित उपयोगितावाद के स्थान पर बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की स्थापना किया। हेनरी सिजविक का उपयोगिता पूर्व प्रचलित उपयोगितावाद की अपेक्षा अधिक सम्यक तथा युक्तियुक्त सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है। सिजविक ऐसे उपयोगितावादी नीतिशास्त्री हैं, जिन्होंने न केवल मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित उपयोगितावाद को अस्वीकार किया; अपितु मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित नैतिक सुखवाद को भी अनुचित ठहराया। हेनरी सिजनिक स्वसुखवाद को आधार बनाकर सर्वसुखवाद के स्थापना के मिल के प्रयासों को भी तार्किक दृष्टि से अयुक्तिसंगत ठहराया। हेनरी सिजविक बेन्थम एवं मिल से भिन्न पध्दित का अनुसरण करते हुए अन्तः प्रज्ञा या अन्तश्चेतना का सहारा लेटे हुए यह प्रतिपादित किया कि एकमात्र सुख ही नैतिक दृष्टि से स्वरूपतः शुभ है।' उनका यह प्रसिध्द कथन है कि सुख के अतिरिक्त ऐसा कुछ नहीं है, जिसको प्राप्त करना युक्तियुक्त माना जाए अर्थात् एकमात्र सुख ही अपने आप में वांछनीय है।

इस प्रकार सिजविक के मत से यह स्पष्ट होता है कि केवल सुख ही वांछनीय वस्तु हैं, इसलिए अधिकतम सुख सबसे अधिक वांछनीय वस्तु है। इस कथन के द्वारा सिजविक ने सुख के मूल्यवान एवं शुभ होने का वर्णन बड़ी सहजता से किया है। सिजविक यह कहते है कि सुख को ही हमारे समस्त कर्मों का लक्ष्य होना चाहिए। मनुष्य के लिए हर दृष्टि से मूल्यवान सुख ही हमारे समस्त कर्मों के नैतिकता का मापदण्ड है। हमारे आचरणों का नैतिक औचित्य सुख के इस सभी सर्वोच्च शुभ से ही निर्धारित होता है। सुख के अतिरिक्त संसार की जितनी भी चीजें हैं, उनका स्वतः कोई मूल्य नहीं हैं, बल्कि वे सुख के लिए साधन मात्र हैं। अत: सुख ही एकमात्र स्वतः साध्य सर्वोच्च मूल्य है। वस्तुतः सिजविक के उपयोगितावाद में सुखवाद सामान्य रूप से सुख के मूल्यवान होने सम्बन्धी अन्तर्बोध का ही सहज परिणाम है। सिजविक के स्वसुखवाद की पराकाष्ठा उनके सर्वसुखवाद या उपयोगितावाद (Altruistic or Universalism Hedonism or Utilitarianism) में होता है।

सिजविक का यह मानना है कि अन्तश्चेतना बुहिद का ही रूप है, ज्ञान का कोई पृथक स्रोत नहीं है। मानव के आचरण के क्षेत्र में बुद्धि की बहुत बड़ी भूमिका है, क्योंकि कर्तव्य या अकर्तव्य के विषय में बुध्दि ही समुचित निर्णय दे सकती है। इसलिए उनका यह कहना है कि एक विवेकशील प्राणी होने के नाते जब हम व्यावहारिक बुध्दि का दृष्टिकोण अपनाते हैं; तो हमें समता या न्याय का सिध्दान्त या विचार (Principle or concept of equality and Justice)प्राप्त होता है; जिसका यह मानना है कि सभी व्यक्तियों के सुख को सम्मान मूल्य है। इसके साथ एक व्यक्ति का यह नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह ऐसे सुख प्राप्त करने को अपना साध्य बनायें, जो निष्पक्ष रूप से समग्र सुख की वृद्धि की सम्भावना रखे। इस प्रकार सिजविक बौध्दिक समता के सिध्दान्त से निष्पन्न परहित के सिद्धान्त के आधार पर अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की स्थापना करते हैं।

11.2 प्रस्तावना: -

सिजविक अपने समकालीन नीतिशास्त्री बेन्थम एवं मिल के उपयोगितावाद की कठिनाइयों से भलीभाँति परिचित रहने के कारण उनके द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद को एक नया आयाम प्रदान किया। वे बेन्थम और मिल के उपयोगितावाद में विद्यमान दोषों परिहार करते हुए एक ऐसे बुध्दिमूलक उपयोगितावाद स्थापना करना चाहते हैं, जहाँ सभी लोग सभी के सुख लिए सही मायने प्रयत्नशील हो और ज़हाँ एक मात्र सबका उद्देश्य सुख की प्राप्ति हो। उनके अनुसार संसार की सभी वस्तुएं इसी सुख प्राप्ति का साधन मात्र है, क्योंकि शुभ कुछ और नहीं है, बल्कि सुख ही है। अतएव संसार में सबसे मूल्यवान सुख ही है। संसार में जितनी भी वस्तुएं है, उन सभी वस्तुओं का उपयोग सुख प्राप्त के साधन के ही रूप में होता है। इसलिए सिजविक का यह कहना है कि सुख ही अपने आप में शुभ है और यही परम

शुभ है। उनका यह कहना है कि सुख ही मानव के सभी कार्यों का लक्ष्य होने के कारण स्वतः वांछनीय है। उनके सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद न होकर नैतिक सुखवाद है। उन्होंने नैतिक सुखवाद के स्वार्थमूलक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवाद का अद्यभुत समन्वय करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि सुख की खोज करने से सुख नही मिलता है, बल्कि सुखवाद वस्तुओं के खोज करने से सुख मिलता है, क्योंकि भूखा व्यक्ति भोजन पाकर सुख पाता है, न कि सुख के विचार से सुखी होता है। उनका यह मानना है कि जीवन के चरम लक्ष्य का ज्ञान हमें बुध्दि से होता है और मनुष्य का चरम साध्य तो सुख है, जिसका साधन दूरदार्शिता, समनता और न्याय तथा परोपकारशीलता है।

11.3 मनोवैज्ञानिक सुखवाद के एकांगी होने का निरूपणः-

हेनरी सिजविक अपने समकालीन नीतिशास्त्रो बेन्थम और मिल के द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद को एकांगी दिखाते हुए अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की स्थापना करते हैं। यद्यपि सिजविक बेन्थम और मिल से इस बात पर सहमत हैं कि सुख ही मानव के सभी कार्यों का लक्ष्य है और यह स्वतः वांछनीय है किन्तु वे अपने उपयोगितावाद बेन्थम और मिल की भाँति मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित नहीं करते हैं। बेन्थम और मिल के समान सिजविक नैतिक सुखवाद का समर्थन तो करते हैं। किन्तु इसे वे मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित नहीं करते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। वह कोई भी कार्य अपने सुख के लिए करता है। यह मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण है। इस प्रकार सिजविक यह दिखाते हैं कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद मूल्यात्मक न होकर एक तथ्यात्मक सिध्द्धान्त है। इसके आधार पर यह सिध्द नहीं किया जा सकता है कि मनुष्य को केवल सुख के लिए ही कार्य करना चाहिए। अतएव मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर नैतिक सुखवाद की स्थापना नहीं हो सकती है। सिजविक ने यह दिखाया है कि नैतिक सुखवाद के भी दो रूप प्रचलित हुए हैं- स्वार्थमूलक सुखवाद और परार्थमूलक सुखवाद। स्वार्थमूलक सुखवाद के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने सुख के लिए कार्य करना चाहिए (each one work for himself) परार्थमूलक सुखवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों के सुख के लिए कार्य करना- चाहिए (each one work for others)। सिजविक का कहना है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर स्वार्थमूलक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवाद को सिध्द नहीं किया जा सकता। यदि मनुष्य स्वभावतः सुख के लिए ही कोई कार्य करता है। तो यह उसके स्वभाव का तथ्यात्मक निरुपण हो सकता है किन्तु इससे उसके कर्तव्य बोध का कोई निदर्शन नहीं होता है। निहितार्थ यह है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर यदि स्वार्थमूलक सुखवाद को आधारित मान लिया जाए, तो इससे यह नहीं सिध्द्ध किया जा सकता है कि उसे (व्यक्ति विशेष को) क्या करना चाहिए? एक बात और जो उभर कर आती है, वह यह है कि यदि कोई भी व्यक्ति स्वभावतः अपने ही सुख का इच्छुक है, तो वह दूसरों के सुख की परवाह क्यों करेगा ? ऐसा स्थिति में यह सिध्द्ध करना बड़ा ही कठिन हो जाता है कि दूसरे के सुख में उसका अपना भी सुख सम्मिलित है। इतना ही नहीं; उपयोगितावाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद हो ही नहीं सकता। अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही सुख की उपयोगिता है। यह उपयोगिता निजी सुख के आधार पर सिध्द्ध नहीं हो सकता ।

11.4 मनुष्य सुख इच्छा न करके सुखद वस्तुओं की इच्छा करता है -

सिजविक मनोवैज्ञानिक सुखवाद के सबसे बड़े दोष को उजागर करते हुए यह कहते हैं कि यदि मनुष्य सर्वदा सुख बारे में ही सोचता रहे; तो उसका ध्यान सुखद वस्तुओं से के बारे से हटकर केवल सुख के विचार में ही लगा रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य को सुख की प्राप्ति नहीं होगी। सिजविक का कहना है कि यही मनोवैज्ञानिक सुखवाद का सबसे बड़ा दोष है। जिसे सिजविक सुखवाद का विरोधाभास (Paradox of Hedonism) कहते हैं । इसकी व्याख्या करते हुए सिजविक कहते हैं कि "सुख की ओर अधिक ध्यान देने से सुख का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

सुख के खोज करने से सुख नहीं मिलता है; बल्कि सुखदायक वस्तुओं के खोज करने से सुख मिलता है; उदाहरणार्थ: भूखा व्यक्ति भोजन पाकर सुख पाता है; न कि सुख के विचार से सुख पाता है

11.5 सिजविक का बुध्दिमूलक उपयोगितावाद -

सिजविक का उपयोगितावाद बुद्धिमूलक उपयोगितावाद के रूप में जाना जाता है। उनका यह करना है कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही मनुष्य के लिए आदर्श आचरण है। उनका यह कहना है कि किसी कार्य को करने में उस कार्य से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख की मात्रा पर ध्यान देना आवश्यक है। यदि उस कार्य से अधिक से अधिक सुख लोगों को अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो तथा कम से कम लोगों को कम से कम दुःख प्राप्त हो; तो मनुष्य का वह कार्य उसके लिए उचित कहा जाएगा, इसके विपरीत उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य अनुचित कहा जाएगा। यही सिजविक के उपयोगितावाद है, जो बेन्थम और मिल के उपयोगितावाद से भिन्न है।

11.6 हेनरी सिजविक का बुध्दि या अन्तः प्रज्ञा आधारित उपयोगितावाद -

हेनरी सिजविक महोदय का यह कहना है कि मानव के नैतिक जीवन के चरम लक्ष्य (उपयोगितागद) का ज्ञान में बुद्धि (Reason) या अन्तःप्रज्ञा (Intuition) से होता है। इसीलिए इनके उपयोगितावादी सिध्द्धान्त को बुद्धिमूलक या अन्तःप्रज्ञात्मक उपयोगितावाद के नाम से जाना जाता है उनका यह दृढ़ मत है कि नैतिक आदेशों का ज्ञान सहज रूप में होता है। इसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए उन्होंने अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद स्वतः सिध्द कहा है। उनका यह कहना है कि मनुष्य के अन्तश्चेतना में उचित - अनुचित का ज्ञान सहज रूप से उत्पन्न होता है। यह सभी लोग अच्छी तरह से जानते हैं कि कृतज्ञता उचित है और कृतघ्नता अनुचित है। इसी ज्ञान को सिजविक सहज बोध कहते हैं। यहाँ सिजविक यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि बुध्दि को स्वतःसाध्य नैतिक नियमों का ज्ञान सहज रूप में होता है। मनुष्य ननैतिक नियमों का ज्ञान किसी अनुभव से नही होता है, अपितु उसके अन्दर विद्यमान सहज बुहिद से होता है। इस प्रकार सिजविक के अनुसार नैतिक शक्ति तो बौध्दिक है, किन्तु नैतिक आदेश सहज है।

हेनरी सिजविक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (Method of Ethics) भेथड ऑफ एथिक्स में बुध्दिमूलक उपयोगितावाद का प्रतिपादन करते हैं। वे अपने मत की स्थापना में बेन्थम एवं मिल के उस सिध्दान्त को स्वीकार करते हैं कि. "केवल सुख ही स्वतःसाध्य शुभ है अथवा अपने आप में वांछनीय है।"

11.7 सिजविक के अनुसार सुख एवं आनन्द -

सिजविक आनन्द एवं सुख में कोई भेद नहीं मानते हैं। उनका यह कहना है कि सुख या आनन्द ही परम शुभ है। इसलिए यह कहते हैं कि सत्य, ज्ञान सौन्दर्य स्वतंत्रता एवं सद्गुण आदि वस्तुएँ; जिनका कुछ विचारकों की दृष्टि में साध्य मूल्य है सुख के साधन मात्र हैं। वे बड़ी दृढ़ता से यह कहते हैं कि संसार में सबसे मूल्यवान वस्तु सुख है। सुख ही सभी सांसारिक वस्तुओं साध्य है। तथा सभी सांसारिक वस्तुएँ इसके साधन मात्र है। सिजविक आनन्द एवं सुख को एक ही अर्थ में ग्रहण करते हुए जिस नैतिक सुखवाद की स्थापना करते हैं। वह बुध्दि या अन्तः प्रज्ञा पर आधारित है। वे सुख की इच्छा को बुध्दि सिध्द्ध विषय मानते हैं और इसे व्यावहारिक बुध्दि का निर्णय कहते हैं। उनकी परिकल्पना के अनुसार- "नैतिक मूल्यांकन का अन्तिम मापदण्ड वांछनीय चेतना की उत्पादकता हैं और परम शुभ ही चेतना की वांछनीय स्थीत है। चेतन जीवन का शुभत्व अन्ततोगत्वा सुख या आनन्द में ही निहित रहेगा, संसार की अन्य जितनी भी वस्तुएं हैं, जिन्हें शुभ कहा जाता है; चेतन जीवन को अधिक शुभ बनाने के साधन मात्र है।"

हेनरी सिजविक अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद को अधिक सुसंगत सिध्द्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हुए यह कहते हैं कि चेतन जीवन को अधिक वांछनीय बनाने वाले सुखप्रद अथवा आनन्दप्रद पदार्थ को ही शुभ माना है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि सुख या आनन्द ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है और उसी को प्राप्त करने में जो वस्तुएं जितनी अधिक या जितनी कम सहायक है, वह उतनी ही अधिक शुभ या अशुभ हैं। उन्होंने सुख की प्राप्ति को ही मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति माना है, फिर भी उन्हों ने नैतिक जीवन में निरंकुशता को स्थान नहीं दिया है। बुध्दि को उन्होंने भावना के ऊपर नियंत्रक शक्ति माना है। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा है, कि वास्तविक सुख के चुनाव का अच्छी तरह से निर्णय बुध्दि ही कर सकती है, क्योंकि बुध्दि अन्तःप्रेरक शक्ति है।

11.8 सिजविक के अनुसार स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद और परार्थमूलक नैतिक सुखवाद -

हेनरी सिजविक स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद तथा परार्थमूलक नैतिक सुखवाद दोनों के ही औचित्य को स्वतःसिध्द मानते हैं। वे अन्तःप्रज्ञा के आधार पर ही नैतिक सुखवाद के इन परस्पर विरोधी दोनों रूपों का अद्वितीय समन्वय करते हुए उसका समर्थन करते हैं। बेन्थम एवं मिल विपरीत वे यह मानते है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद नितान्त एकांगी एवं यह मानते अनुचित सिध्द्धान्त है। अतएव मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर नैतिक सुखवाद के स्वार्थमूलक एवं परार्थमूलक नैतिक सुखवाद के दोनों रूपों में से किसी को भी उचित प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही समस्त करता हैं, तो यह कहना निरर्थक है कि उसे ऐसा करना चाहिए। यदि मनुष्य के लिए सुख के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की इच्छा करना संभव ही नहीं है, तो इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि अपने अधिकतम सुख के लिए कर्म करना ही उसका कर्त्तव्य है ।

इसी प्रकार परार्थमूलक सुखवाद के विषय में उनका यह कहना है कि यदि मनुष्य केवल अपना सुख चाहता और उसके लिए किसी अन्य वस्तु की इच्छा करना संभव ही नहीं' हैं; तो दूसरों के सुख के लिए कर्म करना। उसका कर्तव्य नहीं माना जा सकता। वह दूसरों के सुख के लिए तभी कार्य करेगा जब ऐसा करना उसके स्वयं के सुख में सहायक हो। इस प्रकार सिजविक यह दिखाने का प्रयास करते कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर न तो स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद को उचित प्रमाणित किया जा सकता है। और न ही परार्थमूलक नैतिक सुखवाद उचित प्रमाणित किया जा सकता है। है। इतना ही नहीं को सिजविक मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विरुध्द यह भी आपात्ति की है कि मनुष्य वास्तव में सुख नहीं, अपितु उन वस्तुओं की इच्छा करता है, जिनसे उसे सुख प्राप्त होता है, या हो सकता है। इस प्रकार सिजविक यह दिखाने का प्रयास करते है कि हमारे इच्छाओ का प्रत्यक्ष उद्देश्य सुख न होकर सुखद वस्तुएँ हैं।

11.9 मनोवैज्ञानिक सुखवाद का मौलिक विरोधाभास -

सिजविक ने इसीलिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद में मौलिक विरोधाभास को दिखाया है। वे कहते हैं कि मनुष्य यदि सुख के बारे में ही सोचता रहे तो उसका ध्यान सुखद वस्तुओं से हटकर सुखवाद विचार में ही लगा रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य को सुख नहीं मिलेगा । यही मनोवैज्ञानिक सुखवाद विरोधाभास है, जिसे स्पष्ट करते हुए सिजविक यह कहते हैं कि - सुखोन्मुखी वासना की, अत्यधिक प्रबलता अपने ही लक्ष्य के लिए घातक है। सुख प्राप्ति को सर्वोत्तम विधि सुख को विस्मृत कर देना है। तुम जितना सुख के पीछे दौड़ोगे; सुख तुम से उतना ही दूर चला जाएगा।

सिजविक अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की स्थापना. के पूर्व मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित सुखवाद के दोषों को उजार किया है और उसके पश्चात अपने मत बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की व्याख्या करते हैं। उनका स्पष्ट रूप से यह कहना है कि केवल अन्तः प्रज्ञा के आधार पर स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद एवं परार्थमूलक नैतिक सुखवाद

या उपयोगितावाद की स्थापना संभव है। यहीकारण है कि उनके द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद को अनेक विचारकों ने अन्तः प्रज्ञात्मक उपयोगितावाद की संज्ञा दी है। सिजविक ने अपने अन्तः प्रज्ञात्मक उपयोगितावाद में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अन्तः प्रज्ञा मनुष्य की वह मानसिक शक्ति हैं; जिसके द्वारा उसे कर्मों के औचित्य या अनौचित्य का साक्षात ज्ञान हो जाता है और उसके लिए उसे तर्कों या युक्तियों की सहायता लेनी पड़ती है अर्थात अन्तः प्रज्ञात्मक शक्ति की प्रामाणिकता है। स्वतः सिध्द है। हम अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही यह जानते हैं कि कुछ नैतिक नियमों की सत्यता स्वतः सिध्द्ध है या कुछ विशेष परिस्थतियों में किये गये कुछ विशेष कर्म शुभ अथवा अशुभ अपने परिणामों के कारण न ही है, अपितु वे अपने आप में शुभ या अशुभ हैं। इस प्रकार सिजविक अन्तःप्रज्ञा को स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद एवं परार्थमूलक नैतिक सुखवाद या उपयोगितावाद का मूलाधार माना है। उनके मत के अनुसार इन दोनों सिद्धान्तों के लिए वास्तव में यह स्वतः सिध्द है कि केवल सुख ही अपने आप में शुभ और या वांछनीय है। स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद में विश्वास करने वाले व्यक्ति के लिए वास्तव में यह स्वतः सिध्द्ध है कि केवल व्यक्ति का सुख ही अपने आप में शुभ या वांछनीय है तथा दूसरों के सुख के लिए उसे तब तक प्रयास नहीं करना चाहिए, जब तक ऐसा करने से उसके अपने सुख में कुछ वृद्धि न हो। इसी प्रकार परार्थमूलक नैतिक सुखवाद के समर्थक इसको स्वतः सिध्द मानते है कि सभी प्राणियों का सुख अपने आप में शुभ है और यदि उसके अपने सुख के व्याम से बहुत से प्राणियों के सुख की मात्रा में वृद्धि होती है, तो उसे अवश्य ही अपने सुख का त्याग कर देना चाहिए।

इस प्रकार हेनरी सिजविक अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद द्वारा यह सिध्द करने का प्रयास किये हैं कि यद्यपि मनुष्य का चरम साध्य सुख है और वह सदैव अपने लिए उन सुखद वस्तुओं की खोज करता है, जिसको प्राप्ति से उसे सुख मिलता है। इस प्रकार के सुख की प्राप्ति का कारण मनुष्य की दूरदर्शिता (Prudence) या विचारात्मक आत्मप्रेम (Rational-Self Love) है, जो मनुष्य के स्वयं के सुख के प्रति सचेत करता है और इसी के कारण मनुष्य को स्वार्थी भी माना जाता है, किन्तु सुख रुपी साध्य के सिध्दि के लिए सिजविक ऐसे कुछ साधनों की बात करते है जिसके कारण ही मनुष्य स्वार्थी से परार्थी बन जाता है। ये साधन परोपकार शीलता (Benevolence) तथा समानता और न्याय (equality and Justice) हैं।

11.10 (a) दूरदर्शिता या विचारात्मक आलप्रेम (Prudence or Rational-Self-Love) -

दूरदर्शिता या विचारात्मक आत्मप्रेम द्वारा सिजविक स्वार्थमूलक सुखवाद को अन्तः प्रज्ञा द्वारा स्वतःसिद्ध मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने सुख के वृद्धि के लिए प्रयास करना चाहिए। इसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि सहज आत्मप्रेम को शिक्षित एवं प्रबुध्द करती है और सुखी जीवन का आदेश देती है। मनुष्य में दूसरों के सुख में वृद्धि करने की अपेक्षा अपने सुख वृद्धि की कहीं अधिक क्षमता होती है। "विवेकपूर्ण आत्मप्रेम (Rational- self. Love) के द्वारा सिजविक यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि हमें अपने जीवन के सभी क्षणों के प्रति निष्पक्ष होना चाहिए और अपने सुखों का चुनाव करते समय वर्तमान और भविष्य पर समान रूप से विचार करना चाहिए। हमें अधिक भावी सुख के लिए वर्तमान क्षणिक एवं तीव्र सुख का उत्सर्ग कर देना चाहिए। हमारा लक्ष्य सम्पूर्ण आनन्द होना चाहिए; क्षणिक सुख नहीं। युक्तियुक्त (विवेकपूर्ण) आत्मप्रेम अपने जाग्रत जीवन के सभी अंगों के प्रति निष्पक्ष होने का आदेश देता है। इस प्रकार सिजविक सिरैनैक सम्प्रदाय के स्थूलपरक इन्द्रिय सुखवाद को अस्वीकार करके स्वीक्यूरस के परिष्कृत स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद का समर्थन समर्थन करते हैं।

सिजविक स्वार्थमूलक सुखवाद के नैतिक आदेश के साधन के औचित्य को सिध्द करने के उपरान्त परार्थमूलक को सिद्ध करते हैं। नैतिक सुखवाद के साधन के औचित्य को सिध्द करते हैं। सिजविक ने परार्थमूलक नैतिक सुखवाद (Altruistic ethical Hedonism) के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए मुख्य रूप से दो तर्क प्रस्तुत किये हैं; जो इस प्रकार हैं-

11.10 (b) विचारात्मक परोपकारशीलता (Rational Benevolence) -

सिजविक ने परार्थमूलक नैतिक सुखवाद को सिध्द करने के लिए अपना तर्क देते हुए यह कहते हैं कि परोपकारशीलता हमें इस बात के लिए उद्‌बुध्द करती है कि परसुख का आत्मसुख के समान ही महत्व है। प्रत्येक व्यक्ति को सुख प्राप्त करने का समान अधिकार है। बुध्दि का यह आदेश है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य सब मिलकर अधिकतम सुख होना चाहिए । विश्व के समग्र सुख में हमारा अपना भी सुख सम्मिलित है, किन्तु हमें अपने सुख के लिए तभी प्रयास करना चाहिए, जब ऐसा करने से विश्व के सम्पूर्ण सुख की मात्रा में वृद्धि हो। यदि अपने सुख का त्याग करके दूसरों के सुख के लिए प्रयास करने से सम्पूर्ण सुख की मात्रा में वृद्धि होती है, तो हमें अवश्य ही ऐसा करना चाहिए। इसी प्रकार के अपने नैतिक सिद्धान्त को सिजविक विचारात्मक परोपकारशीलता के नाम से पुकारते हैं।

5.5.9.0.3 (c) समानता या न्याय का सिध्दान्त (Theory of equality or Justice) -

सिजविक का कहना है कि यह एक स्वतःसिद्ध विचार है कि सभी व्यक्तियों के सुख का समान महत्व है। एक व्यक्ति के सुख को दूसरे व्यक्ति के सुख की अपेक्षा तब तक अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए, जब तक ऐसा करने से विश्व के सम्पूर्ण सुख की मात्रा अथवा तीव्रता में वृध्दि न हो। इसे ही सिजविक समानता अथवा न्याय (equality or Justice) का सिध्दान्त कहते हैं, जिसे किसी न किसी रूप में उनके समकालीन नीतिशास्त्रों बेन्थम और मिल भी स्वीकार किये थे। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि यदि हम अपने किसी कर्म को कुछ विशेष परिस्थति में उचित मानते हैं, तो हमें समान परिस्थितियों में दूसरों द्वारा किये गये उसी कर्म को अवश्य उचित मानना चाहिए। इस प्रकार सिजविक यह प्रतिपादित करते हैं कि हमें दूसरों के प्रति सदैव वैसा हो व्यवहार करना चाहिए; जैसे व्यवहार की हमे स्वयं उनसे आशा करते हैं।

11.11 हेनरी सिजविक द्वारा परार्थमूलक नैतिक सुखवाद का प्रचलित नैतिकता द्वारा समर्थन –

हेनरी सिजविक परार्थमूलक सुखवाद अथवा उपयोगितवाद की सत्यता प्रमाणित करने के लिए सामान्य व्यक्तियों द्वारा मान्य प्रचलित नैतिकता का भी सहारा लिया है।उनका मत है कि प्रचलित नैतिकता जिन नियमों का समर्थन करती है, उन सबके मूल में जन सामान्य के सुख का विचार ही निहित रहता है। सामान्य व्यक्ति प्रायः ऐसे नैतिक नियमों की सत्यता को स्वतःसिध्द मानते हैं, जिनके द्वारा अधिकतर मनुष्यों के सुख में वृध्दि तथा दुःख में कमी होती है। सत्य बोलो, अपना वचन पूरा करो, दूसरो के अनावश्यक कष्ट न पहुँचाओ, दूसरो के सुख दुःख को अपने सुख दुःख के समान महत्व दो इत्यादि। सभी प्रचलित नियमों का मूल आधार प्रचलित नैतिकता ही हैं, जिसे उपयोगितावाद के रूप में जाना जाता है। सिजविक का यह मानना है कि जिन परिस्थितियों में प्रचलित नैतिक नियमों के अनुसार आचरण करना असंदिग्ध रूप से उचित प्रतीत होता है, उन परिस्थितियों इन नियमों की उपयोगिता भी असंदिग्ध होती है। इसके विपरीत जब कुछ विशेष परिस्थितियों में इन नियमों के पालन करने का औचित्य संदिग्ध प्रतीत होता है, तो उन परिस्थितियों में उपयोगिता भी संदिग्ध प्रतीत होता है। इसीलिए सिजविक यह कहते है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रचलित नैतिकता और उपयोगितावादी नैतिकता में संघर्ष हो सकता है। ऐसी परिस्थितियों में उनका यह मत है कि हमें प्रचलित नैतिकता को अस्वीकार करके उपयोगितावादी नैतिकता के आधार पर कार्य करना चाहिए। क्योंकि इसे ही नैतिक दृष्टि से उचित मानना होगा।

इस प्रकार सिजविक अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद में अन्तःप्रज्ञावाद के आधार पर स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद और परार्थमूलक नैतिक सुखवाद की सत्यता को स्वतःसिध्द मानते हुए इन्हें समान रूप से उचित एवं बुध्दिसंगत नैतिक सिध्दान्त के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सिजविक ने

स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद एवं परार्थमूलक नैतिक सुखवाद में अन्तः प्रज्ञा के आधार समन्वय कर एक अद्वितीय कार्य किया है, किन्तु सवाल यह उठता है कि उनका यह समन्वय कहाँ तक उचित एवं तर्कसंगत है? हम इस बात का समीक्षात्मक विवेचन में परीक्षण करने का प्रयास करेंगे कि सिजविक के बुध्दिमूलक उपयोगितावाद में क्या - क्या कमियाँ हैं?

11.12 सिजविक के बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की समीक्षा -

1- सिजविक स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद एवं परार्थमूलक नैतिक सिध्द्धान्त की सत्यता को समान रूप से स्वतः सिध्द्ध मानते हुए इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है किन्तु यदि देखा जाए तो वास्तव में ये सिध्दान्त एक दूसरे के विपरीत है। मनुष्य की दूरदर्शिता या आत्मप्रेम अपने ही अधिकतम सुख के लिए प्रयास करने के लिए उसे प्रेरित करता है और परोपकारशीलता सम्पूर्ण मानव जाति के अधिकतम सुख के लिए आदेश देती है। सिजविक स्वयं यह मानते हैं कि बुध्दि के इन दो आदेशों में परस्पर विरोध है और व्यवहारिक बुध्दि के द्वैत' की संज्ञा देते हैं। सिजविक बुध्दि के इन दो परस्पर विरोधी आदेशों के विरोध का निराकरण करने में असमर्थ रहें हैं।

2- सिजविक के उपयोगितावाद के विरुद्ध यह भी आपत्ति उठायी जाती है कि केवल सुख के आधार पर मनुष्यों के कर्तव्यों को ठीक-ठीक निर्धारित करना संभव नहीं है, क्योंकि सुख की मात्रा को मापने तथा विभिन्न व्यक्तियों के भिन्न – भिन्न सुखों की समुचित रूप से तुलना करने का कोई निश्चित एवं पूर्णतया सन्तोषजनक उपाय या नियम नहीं है।

3- सिजविक भी अपने पूर्ववर्ती नीतिशास्त्री मिल की ही भांति सुख एवं आनन्द में कोई भेद नहीं किया है। जबकि वास्तविकता यह है कि सुख एवं आनन्द एक दूसरे से भिन्न है।

4- सिजविक एक ओर सुख को ही मानव जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं और दूसरी ओर इसे बौध्दिक भी कहते है। यदि सुख बौध्दिक हैं तो यह भावनात्मक नहीं हो सकता और हमारी किसी इच्छा को सन्तुष्ट करने में भी असफल होगा।

5- सिजविक के स्वार्थमूलक एवं परर्थमूलक के समन्वय की आलोचना करते हुए मार्टिन्यू ने कहा है कि – प्रत्येक अपने लिए से प्रत्येक सबके लिए का कोई मार्ग नहीं हैं।

6- सिजविक ने सत्य, ज्ञान, सौन्दर्य इत्यादि को सुख का साधन मात्र माना है, जबकि ये सभी तत्व मानव जीवन के लिए साध्य हैं। न सभी तत्वों का सम्बन्ध मानव के आन्तरिक जगत् से है और मानव के आभ्यन्तरिक जगत् से सम्बन्धित होने के कारण ये सुख प्राप्ति के साधन कैसे बन सकते हैं। इस प्रश्न का भी कोई समुचित समाधान सिजविक अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद में नहीं दे पाते हैं।

7- सिजविक ने सुख के वितरण का जो सिध्दान्त बताया हैं वह भी उचित नहीं हैं, क्योंकि उसने दूरदर्शिता या विवेकपूर्ण आत्मप्रेम (Prudence or rational self- love) परोपकार (Benevolence) और समानता या न्याय (Equality or justice) को सुख की प्राप्ति का आधार एवं साधन मान लिया हैं, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि किस दशा में किसे श्रेष्ठ माना जाए। इसीलिए राइट ने उनके परार्थमूलक सुखवाद पर टिप्पणी करते हुए यह कहा है कि – वे यह नहीं बतलाते हैं कि विशेष अवसरो पर शुभ क्या है। वे केवल यह बतलाते हैं कि व्यक्तियों, स्थानों एवं समयों पर निष्पक्ष विचार करते हुए जब जहाँ और जिसको मिलने वाला अधिक शुभ नैतिक दृष्टि से कम शुभ के अपेक्षा अधिक वांछवनीय है। इस पआकार सिजविक भी सुख की परिमाणात्मक कसौटी निर्धारित करने की प्रक्रिया की ओर बढ़ना चाहते हैं, किन्तु वे इसके मापन का कोई नियम प्रस्तुत कर सके। यदि वे सुखों की किसी परिगणना के नियम को प्रस्तुत भी करते तो वह भी बेन्थम के सुखवादी कलन की ही भाँति एक विफल सिध्दान्त बनकर रह जाता ।

8- सिजविका बुद्धिमूलक उपयोगितावाद बुध्दि को प्रमुखता देता है और बुध्दि या अन्तः प्रज्ञा को ही शुभ-अशुभ की निर्णायक शक्ति, मानता है तथा भावना पक्ष की पूर्णत: उपेक्षा कह देता है। परन्तु यदि मानव जीवन को समग्रता की दृष्टि से देखा जाए, तो केवल बुध्दि को ही जीवन की निर्देशिका नहीं कहा जा सकता। समग्रता की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि मानव जीवन में बुध्दि के साथ-साथ भावना एवं संकल्प का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तविकता यह है कि भावना एवं बुध्दि दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य के जीवन में बुद्धि को ही सब कुछ मान लेना जीवन की नीरसता को दर्शाता हैं।

11.13 निष्कर्ष: -

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सिजविक मानव बुध्दि को ही सब कुछ मानकर अपने बुध्दिमूलक या अन्तुः प्रज्ञात्मक उपयोगितावाद को प्रतिपादित करने के प्रयास में उसके आधार को ही निर्बल बना दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सिजविक ने मनुष्य वितरक के बुध्दि या अन्तःप्रज्ञा को सुख का वितरक बताकर कुछ हद तक बेन्थम एवं मिल के उपयोगितावाद के दोषों को दूर करने की दिशा में प्रयत्न किया और एक नये सत्य का उद्घाटन किया है।

परन्तु जहाँ तक सुख के वितरण की बात है तो इसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि केवल सुखद वस्तुओं का ही वितरण किया जा सकता है कि सुख की भावना का वितरण नहीं किया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि सुख प्राप्ति के उपयोगितावाद सिध्दान्त उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितना कि दुःख निवृत्ति के उपाय के सिध्दान्त हो सकते हैं। सिजविक के बुध्दिमूलक या अन्तःप्रज्ञात्मक उपयोगितावाद की विशिष्टता इस बात में निहित है कि अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के आधार पर मानवीय कर्त्तव्यों के निर्धारण को नैतिकता का मूल स्रोत माना है।

11.14 सारांशः –

हेनरी सिजविक अपने समकालीन नीतिशास्त्री बेन्थम एवं मिल के समान ही सुख को ही मानव जीवन का परम लक्ष्य माना है। सुख को ही परम साध्य मानकर अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सिख के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की स्थापना करते हैं। बेन्थम एवं मिल ने अपने उपयोग्तावाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर प्रतिपादित किया था, किन्तु सिजविक ने अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद को केवल नैतिक सुखवाद के आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया है। सिजविक ने अपने अन्तःप्रज्ञात्मक उपयोगितावाद में स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद एवं परार्थमूलक नैतिक सुखवाद में अद्यभुद समन्वय का प्रयास किया है और अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख में व्यक्तिगत सुख के साथ-साथ सबके सुख को भी समाहित किया है। सिजविक मनोवैज्ञानिक सुखवाद को एकांगी सिध्दान्त बतलाते हैं और उसमें वे सुखवाद का मौलिक विरोधाभास (Paradox of Hedonism) दिखाते हुए यह बतलाते हैं कि हमें सुखप्रद वस्तुओं की प्राप्ति होने परिणामस्वरूप सुख की अनुभूति होती है, सुख के चिन्तन मात्र से सुख की प्राप्ति नहीं होती है। सिजविक अपने उपयोगीतावाद में बुध्दि को प्रमुखता देते है, जिसके कारण ही उनके उपयोगितावाद में हमें बुध्दिमूलक उपयोगितावाद का सहजबोध होता है। उन्होंने सामान्य सुख के लिए दूरदर्शिता या विवेकपूर्ण आत्मप्रेम, परोपकार तथा समानता या न्याय आदि साधनों के आधार पर परार्थमूलक सुखवाद की ओर अग्रसर होले का मार्ग अवश्य प्रशस्त करने का प्रयास किया है और इन साधनों के आधार पर मानव जीवन में सामान्य सुख की प्राप्ति को संभव दिखाया है। उनेहोंने अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद का समर्थन प्रचलित नैतिकता के आधार पर भी करने का प्रयास किया है और प्रचलित नैतिकता और उपयोगितावादी नैतिकता में संघर्ष होने की दशा में उपयोगितावादी नैतिकता को अपनाने की बात की है।

11.15 प्रश्न बोध -

1- सिजविक का बुध्दिमूलक उपयोगितावाद अपने पूर्ववर्ती बेन्थम एवं मिल से किस रूप में भिन्न है? व्याख्या कीजिए।

2. सिजविक ने किस प्रकार अपने बुध्दिमूलक उपयोगितावाद को केवल नैतिक आधार पर प्रतिपादित किया है ? समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

3- सिजविक का बुध्दिमूलक उपयोगितावाद स्वार्थमूलक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवाद का अद्‌भुत समन्वय है। आप इस कथन से कहाँ तक सहमत है।

4- सिजविक के बुध्दिमूलक उपयोगितावाद की आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

11.16 उपयोगी पुस्तकें -

1- नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण - डॉ० संगम लाल पाण्डेय

2- नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त - डॉ० वेद प्रकाश वर्मा

खण्ड–4 परिणाम सापेक्ष

इकाई–12 विकासवादी सुखवाद

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 विकासवादी सुखवाद का परिचय

12.3 विकासवादी सुखवाद के प्रमुख विचारक

12.4 विकासवादी सुखवाद की महत्वपूर्णता

12.5 विकासवादी सुखवाद का ऐतिहासिक विकास और दार्शनिक जड़ें।

12.6 विकासवादी सुखवाद के मुख्य सिद्धांत।

12.7 विकासवादी सुखवाद के व्यावहारिक अनुप्रयोग और आलोचनाएँ

12.8 विकासवादी सुखवाद की दार्शनिक चुनौतियाँ

12.9 विकासवादी सुखवाद का भविष्य और व्यापक प्रभाव

12.10 विकासवाद का मानदंड

12.13 समीक्षा

12.14 सारांश

12.15 बोध प्रश्न

12.16 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

12.0 प्रस्तावना

विकासवाद का मानना है की जीवन और जगत का मौजूदा स्वरूप कई सदियों के विकास का परिणाम है प्रकृति का गुण ही है कि उसमें सदेव परिणाम या परिवर्तन होता रहता है परिवर्तन के कारण हर पदार्थ अपना स्वरूप बदलता रहता है विकासवाद के अनुसार कुछ भी अकारण नहीं होता और ना ही ईश्वर से ही उत्पन्न होता है बल्कि विकास के कारण जगत एवं वस्तुओं की उत्पत्ति होती है जो स्वरूप हम अभी वस्तुओं का देख रहे हैं जगत का देख रहे हैं वह पहले ऐसा नहीं था और आगे भी ऐसा नहीं रहेगा अर्थात निरंतर बदलता रहेगा चार्ल्स डार्विन का मानना है की

मानव परमपिता परमात्मा या ईश्वर के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है बल्कि जीव- योनि प्रकृति के विकास क्रम का फल है। हमारा जीवन विकास की देन है ना कि किसी ईश्वर की सृष्टि है। विभिन्न विभिन्न प्रकार के जीव या विभिन्न योनियां मूल जीव(Protoplasm) से उत्पन्न हुई हैं। विभिन्न योनियां मैं परिवर्तन होता गया और विकास क्रम में मानव योनि का आविर्भाव हुआ।

विकासवाद के अंतर्गत उन नैतिक सिद्धांतों का विश्लेषण किया जाता है जो केवल विकास की दृष्टि से सभी नैतिक पक्षों की विवेचना करते हैं तथा जो विकास में सहायक अथवा बाधक होने के कारण मानवीय कार्यों को शुभ , अशुभ अथवा उचित , अनुचित मानते हैं।

विकासवाद के आरंभिक विचारों में चार्ल्स डार्विन उल्लेखनीय है जिन्होंने सबसे पहले वैज्ञानिक दृष्टि से समस्त प्राणियों के उत्पत्ति तथा उनके विकास पर विचार किया था अपनी पुस्तक ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज में उन्होंने जीव शास्त्रीय नियमों के आधार पर पृथ्वी पर जीवन के प्रारंभ और विकास की व्याख्या की। विभिन्न प्राणियों के विकास के संबंध में अनुसंधान के आधार पर उन्होंने यह प्रमाणित किया कि प्राणियों में यदि वातावरण के अनुरूप स्वयं को समायोजित करने की क्षमता होती है तो ही वे जीवित रहते हैं और विकसित होते हैं अगर उन्हें समायोजन की क्षमता नहीं है तो प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हुए विलुप्त हो जाते हैं जीवो की हर जाति को अपने अस्तित्व के लिए भौतिक परिस्थितियों तथा अन्य प्राणियों के साथ निरंतर संघर्ष करना पड़ता है और जो इस संघर्ष में विजय होता है वही जीवित रहती है और अपनी संख्या में बढ़ोतरी करती है जो इस जीवन संग्राम में पराजित हो जाता है उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है डार्विन ने इस जीवन संघर्ष प्राकृतिक चयन तथा योग्यतम अवशेष की संज्ञा थी।

डार्विन के इस विकासात्मक सिद्धांत का अन्य क्षेत्र के विचार को पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा हर्बल डिस्पेंसरी ने नीति शास्त्र के क्षेत्र में डार्विन के इस विकासात्मक सिद्धांत का अत्यंत व्यवस्थित रूप से प्रयोग किया उन्होंने विकास को आधार बनाकर शुभ और अशुभ व्यवहार की व्याख्या की लेस्ली स्टीफन तथा से सिकंदर भी सिद्धांत से सहमत हैं यह तीनों दार्शनिक व्यक्ति या समाज के विकास में सहायक कर्मों को शुभ और उसमें बाधक कर्मों को अशुभ मानते हैं।हर्बर्ट स्पेंसर - हर्बर्ट स्पेंसर ने डार्विन द्वारा विकसित किए गए विकासवाद के आधार पर ही सभी सामाजिक एवं नैतिक नियमों की विवेचना की। हर्बर्ट द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धांत को विकासात्मक सुखवाद कहा जाता है। स्पेंसर मानवीय आचरण एवं नैतिक नियमों के मूल्यांकन हेतु विकास तथा सुख दोनों को आधार बनाते हैं। विकास के अर्थ के लिए वह डार्विन से सहमत हैं। विकास से स्पेंसर का क्या तात्पर्य है स्पेंसर के अनुसार सरलता से जटिलता की ओर एकता से अनेकता की ओर अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर बढ़ते रहने की प्रक्रिया ही विकास है। स्पेंसर के अनुसार केवल जीवो का ही विकास इस क्रम में नहीं होता बल्कि हमारे विचारों का विकास भी इसी प्रक्रिया के अनुरुप होता है। स्पेंसर के अनुसार सामाजिक तथा नैतिक नियम मूल रूप से जैविक नियमों से ही प्राप्त हो सकते हैं। वह जैविक नियमों के विकासवाद के अनुरूप ही नैतिक नियमों की भी विवेचना करते हैं।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे की विकासवादी सुखवाद क्लासिकल सुखवाद से किस प्रकार भिन्न है? इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच क्या समानताएँ और अंतर हैं?

क्या विकासवादी सुखवाद नैतिक सापेक्षवाद की ओर ले जाता है? यदि हाँ, तो क्या यह एक समस्या है, और इससे कैसे निपटा जा सकता है?

विकासवादी सुखवाद के अनुसार, व्यक्तिगत सुख और सामूहिक कल्याण के बीच संतुलन कैसे स्थापित किया जा सकता है?

क्या विकासवादी सुखवाद हमारे नैतिक निर्णयों में हमारी तर्कसंगत क्षमता की भूमिका को कम आंकता है?

विकासवादी सुखवाद कैसे समझाता है कि कुछ लोग अपने जीवन को दूसरों की सेवा में समर्पित कर देते हैं, जबकि यह व्यक्तिगत फिटनेस के विरुद्ध प्रतीत होता है?

क्या विकासवादी सुखवाद का उपयोग मे नैतिक निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने के लिए किया जा सकता है? इसके क्या संभावित लाभ और जोखिम हो सकते हैं?

विकासवादी सुखवाद के दृष्टिकोण से, क्या मानव समाज में देखी जाने वाली सांस्कृतिक विविधता को समझाया जा सकता है?

विकासवादी सुखवाद किस प्रकार जलवायु परिवर्तन जैसी वैश्विक चुनौतियों से निपटने में हमारी मदद कर सकता है?

क्या विकासवादी सुखवाद धार्मिक नैतिक सिद्धांतों के साथ संगत है? यदि नहीं, तो क्या इन दो दृष्टिकोणों के बीच कोई समन्वय संभव है?

विकासवादी सुखवाद के अनुसार, क्या नैतिकता की कोई सार्वभौमिक परिभाषा हो सकती है, या यह हमेशा सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भ पर निर्भर करेगी?

12.2 विकासवादी सुखवाद का परिचय

विकासवादी सुखवाद दर्शन की एक शाखा है जो नैतिकता और मानव व्यवहार को विकासवादी परिप्रेक्ष्य से समझने का प्रयास करती है। यह सिद्धांत मानव नैतिकता और सुख की अवधारणा को जैविक विकास के संदर्भ में देखता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, हमारी नैतिक भावनाएँ और सुख की खोज हमारे विकासवादी इतिहास का परिणाम हैं।

12.3 विकासवादी सुखवाद के प्रमुख विचारक

1. हरबर्ट स्पेंसर: 19वीं सदी के दार्शनिक जिन्होंने सबसे पहले जैविक विकास के सिद्धांतों को नैतिकता पर लागू किया।

2. एडवर्ड ओ. विल्सन: प्रसिद्ध जीवविज्ञानी जिन्होंने "सोशियोबायोलॉजी" की अवधारणा प्रस्तुत की, जो विकासवादी सुखवाद का एक महत्वपूर्ण आधार है।

3. पीटर सिंगर: समकालीन दार्शनिक जो विकासवादी सुखवाद के सिद्धांतों को नैतिक निर्णयों में लागू करने का समर्थन करते हैं।

12.4 विकासवादी सुखवाद की महत्वपूर्णता

1. नैतिक व्यवहार की व्याख्या: यह सिद्धांत हमें समझने में मदद करता है कि क्यों कुछ व्यवहार हमें नैतिक लगते हैं और दूसरे अनैतिक।

2. सांस्कृतिक विविधता की समझ: यह दृष्टिकोण विभिन्न संस्कृतियों में नैतिक मूल्यों की विविधता को समझने में सहायक है।

3. नैतिक दुविधाओं का विश्लेषण: विकासवादी सुखवाद जटिल नैतिक स्थितियों का विश्लेषण करने में एक नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

4. नैतिक शिक्षा: यह दृष्टिकोण नैतिक शिक्षा के नए तरीकों को विकसित करने में मदद कर सकता है, जो हमारी जैविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए अधिक प्रभावी हो सकते हैं।

12.5 विकासवादी सुखवाद का ऐतिहासिक विकास और दार्शनिक जड़ें।

विकासवादी सुखवाद एक आधुनिक दार्शनिक दृष्टिकोण है, लेकिन इसकी जड़ें प्राचीन दर्शन और विज्ञान के इतिहास में गहराई से जमी हुई हैं। आइए इस विचारधारा के विकास को चरणबद्ध तरीके से समझें:

1. प्राचीन दार्शनिक जड़ें:

a) यूनानी दर्शन: एपिक्यूरस (341-270 ईसा पूर्व) ने सुखवाद की नींव रखी, जिसमें उन्होंने सुख को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना। हालांकि, उनका सुखवाद आध्यात्मिक और संयमित था, जो बाद में विकासवादी सुखवाद में भी दिखाई देता है।

b) अरस्तू (384-322 ईसा पूर्व): उन्होंने "यूडेमोनिया" की अवधारणा दी, जिसका अर्थ है "अच्छा जीवन" या "फलता-फूलता जीवन"। यह विचार विकासवादी सुखवाद में महत्वपूर्ण है, जहाँ सुख को केवल क्षणिक आनंद नहीं, बल्कि समग्र जीवन की गुणवत्ता के रूप में देखा जाता है।

2. आधुनिक दर्शन का प्रभाव:

a) डेविड ह्यूम (1711-1776): ह्यूम ने तर्क दिया कि नैतिकता तर्क पर नहीं, बल्कि भावनाओं पर आधारित है। यह विचार विकासवादी सुखवाद में महत्वपूर्ण है, जो मानता है कि हमारी नैतिक भावनाएँ विकास का परिणाम हैं।

b) जेरेमी बेंथम (1748-1832) और जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873): इन दार्शनिकों ने उपयोगितावाद की नींव रखी, जो मानता है कि सही कार्य वह है जो अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम खुशी लाता है। यह सिद्धांत विकासवादी सुखवाद के साथ कई समानताएँ साझा करता है।

3. डार्विन का प्रभाव:

चार्ल्स डार्विन (1809-1882) की "द ओरिजिन ऑफ स्पीशीज" (1859) ने विकासवादी सुखवाद के लिए वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। डार्विन के सिद्धांतों ने दिखाया कि जीवों के व्यवहार और विशेषताएँ प्राकृतिक चयन के माध्यम से विकसित होती हैं।

4. हरबर्ट स्पेंसर का योगदान:

हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903) ने डार्विन के सिद्धांतों को सामाजिक और नैतिक क्षेत्रों में लागू किया। उन्होंने तर्क दिया कि नैतिकता भी विकास का परिणाम है और समाज के विकास के साथ बदलती है।

5. 20 वीं सदी का विकास:

a) ई.ओ. विल्सन (1929-2021): उन्होंने "सोशियोबायोलॉजी" की अवधारणा प्रस्तुत की, जो मानव व्यवहार को जैविक आधार पर समझने का प्रयास करती है।

b) रिचर्ड डॉकिन्स (जन्म 1941): उनकी पुस्तक "द सेल्फिश जीन" (1976) ने जीन-केंद्रित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जो विकासवादी सुखवाद के लिए महत्वपूर्ण है।

6. समकालीन विकास:

a) पीटर सिंगर (जन्म 1946): उन्होंने विकासवादी सुखवाद को नैतिक निर्णय लेने के लिए एक व्यावहारिक ढांचे के रूप में प्रस्तुत किया।

b) जोशुआ ग्रीन: उनकी पुस्तक "मोरल ट्राइब्स" (2013) ने न्यूरोसाइंस और विकासवादी मनोविज्ञान को नैतिक दर्शन के साथ जोड़ा।

12.6 विकासवादी सुखवाद के मुख्य सिद्धांत।

1. जैविक आधार का सिद्धांत:

विकासवादी सुखवाद का मूल सिद्धांत यह है कि मानव नैतिकता और सुख की अवधारणा का एक जैविक आधार है। इस सिद्धांत के अनुसार:

a) मस्तिष्क संरचना: हमारे मस्तिष्क की संरचना, जो लाखों वर्षों के विकास का परिणाम है, हमारे नैतिक निर्णयों और सुख की परिभाषा को प्रभावित करती है।

उदाहरण: मानव मस्तिष्क में एमिग्डाला नामक क्षेत्र भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के लिए जिम्मेदार है। यह क्षेत्र नैतिक निर्णयों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, विशेष रूप से जब हम किसी स्थिति को "सही" या "गलत" के रूप में तुरंत वर्गीकृत करते हैं।

b) न्यूरोट्रांसमीटर: डोपामीन, सेरोटोनिन और ऑक्सीटोसिन जैसे न्यूरोट्रांसमीटर हमारे सुख और संतुष्टि की भावनाओं को नियंत्रित करते हैं। इनका विकास हमारे पूर्वजों के अस्तित्व और प्रजनन के लिए महत्वपूर्ण व्यवहारों को प्रोत्साहित करने के लिए हुआ।

गहन विश्लेषण: यह सिद्धांत बताता है कि हमारी नैतिक प्रवृत्तियाँ और सुख की परिभाषा पूरी तरह से सामाजिक या सांस्कृतिक निर्माण नहीं हैं, बल्कि इनका एक मजबूत जैविक आधार है। हालांकि, यह यह भी स्वीकार करता है कि सामाजिक और सांस्कृतिक कारक इन जैविक प्रवृत्तियों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

2. अनुकूली मूल्य का सिद्धांत:

इस सिद्धांत के अनुसार, जो व्यवहार और मूल्य हमारे पूर्वजों के अस्तित्व और प्रजनन में सहायक रहे हैं, वे हमारी वर्तमान नैतिक प्रणालियों में प्रतिबिंबित होते हैं।

a) सहयोग: मानव समाज में सहयोग की उच्च मूल्यता इस तथ्य से समझाई जा सकती है कि सहयोगी समूह अधिक सफल रहे और जीवित रहे।

b) ईमानदारी: ईमानदारी को एक गुण के रूप में महत्व दिया जाता है क्योंकि यह दीर्घकालिक सामाजिक संबंधों के निर्माण में सहायक होती है, जो अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण थे।

c) परोपकार: दूसरों की मदद करने की प्रवृत्ति का विकास इसलिए हुआ क्योंकि यह समूह के अस्तित्व के लिए लाभदायक था।

गहन विश्लेषण: यह सिद्धांत समझाता है कि क्यों कुछ नैतिक मूल्य लगभग सभी संस्कृतियों में पाए जाते हैं। हालांकि, यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह सिद्धांत यह नहीं कहता कि जो कुछ भी प्राकृतिक है वह नैतिक रूप से सही है। इसके बजाय, यह हमारी नैतिक प्रवृत्तियों की उत्पत्ति को समझाने का प्रयास करता है।

3. सामाजिक संदर्भ का सिद्धांत:

विकासवादी सुखवाद मानता है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है, और हमारी नैतिकता का विकास समूह में रहने और सहयोग करने की आवश्यकता से हुआ है।

a) समूह चयन: यह सिद्धांत सुझाता है कि कुछ नैतिक गुणों का विकास न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि समूह स्तर पर भी हुआ है।

b) सामाजिक संज्ञान: हमारे मस्तिष्क में विशेष क्षेत्र हैं जो सामाजिक संबंधों और सामाजिक नियमों को समझने और प्रबंधित करने के लिए विकसित हुए हैं।

c) भावनात्मक बुद्धि: दूसरों की भावनाओं को समझने और उनके प्रति सहानुभूति रखने की क्षमता का विकास सामाजिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण था।

गहन विश्लेषण: यह सिद्धांत बताता है कि क्यों हम अक्सर समूह के हित को व्यक्तिगत हित से ऊपर रखते हैं। यह समझाता है कि क्यों हम अजनबियों की मदद करते हैं या बड़े पैमाने पर सहयोग करते हैं, जो कि तात्कालिक व्यक्तिगत लाभ के विपरीत प्रतीत हो सकता है।

4. सुख के महत्व का सिद्धांत:

विकासवादी सुखवाद सुख को एक महत्वपूर्ण जैविक संकेत मानता है जो हमें बताता है कि कौन से व्यवहार हमारे अस्तित्व और प्रजनन के लिए लाभदायक हैं।

a) पुरस्कार प्रणाली: हमारे मस्तिष्क में एक जटिल पुरस्कार प्रणाली है जो हमें उन गतिविधियों को दोहराने के लिए प्रेरित करती है जो हमारे अस्तित्व के लिए लाभदायक हैं।

b) दीर्घकालिक सुख: विकासवादी सुखवाद क्षणिक सुख और दीर्घकालिक संतुष्टि के बीच अंतर करता है, यह सुझाव देते हुए कि दीर्घकालिक सुख अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह बेहतर जीवन परिणामों से जुड़ा होता है।

c) सामाजिक सुख: दूसरों के साथ सकारात्मक संबंधों से प्राप्त सुख को विशेष महत्व दिया जाता है, क्योंकि यह सामाजिक बंधनों को मजबूत करता है।

गहन विश्लेषण: यह सिद्धांत सुख को केवल एक मनोवैज्ञानिक अवस्था के रूप में नहीं देखता, बल्कि इसे एक महत्वपूर्ण जैविक संकेत के रूप में देखता है। हालांकि, यह भी स्वीकार करता है कि आधुनिक जीवन में, हमारी सुख की प्राथमिकताएँ हमेशा हमारे दीर्घकालिक कल्याण के अनुरूप नहीं हो सकती हैं।

5. परिवर्तनशील नैतिकता का सिद्धांत:

इस सिद्धांत के अनुसार, नैतिकता स्थिर नहीं है बल्कि समय के साथ विकसित होती है, जैसे-जैसे हमारा वातावरण और सामाजिक संरचनाएँ बदलती हैं।

a) सांस्कृतिक विविधता: विभिन्न संस्कृतियों में नैतिक मूल्यों की विविधता को इस सिद्धांत द्वारा समझाया जा सकता है।

b) ऐतिहासिक परिवर्तन: समय के साथ नैतिक मानदंडों में परिवर्तन (जैसे गुलामी के प्रति दृष्टिकोण) को इस सिद्धांत के माध्यम से समझा जा सकता है।

c) तकनीकी प्रभाव: नई तकनीकों के आगमन से उत्पन्न नैतिक चुनौतियों (जैसे आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के नैतिक प्रभाव) को यह सिद्धांत स्पष्ट करता है।

गहन विश्लेषण: यह सिद्धांत नैतिकता को एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करता है, जो लगातार विकसित हो रही है। यह हमें यह समझने में मदद करता है कि क्यों कुछ पुराने नैतिक मानदंड अब अप्रासंगिक लगते हैं और नए नैतिक मुद्दे कैसे उभरते हैं।

ये सिद्धांत एक साथ मिलकर विकासवादी सुखवाद का एक व्यापक ढांचा प्रदान करते हैं। वे मानव नैतिकता और सुख की खोज को जैविक विकास, सामाजिक संदर्भ, और परिवर्तनशील वातावरण के संदर्भ में समझने का प्रयास करते हैं। हालांकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि ये सिद्धांत विवादास्पद हैं और इनकी आलोचना भी की जाती है।

12.7 विकासवादी सुखवाद के व्यावहारिक अनुप्रयोग और आलोचनाएँ

1. व्यावहारिक अनुप्रयोग:

a) नैतिक शिक्षा:

विकासवादी सुखवाद का उपयोग नैतिक शिक्षा के नए तरीकों को विकसित करने में किया जा सकता है।

विस्तृत विवरण:

- मानव प्रकृति की समझ: यह दृष्टिकोण शिक्षकों को छात्रों की जैविक प्रवृत्तियों को समझने में मदद कर सकता है, जिससे वे अधिक प्रभावी नैतिक शिक्षा रणनीतियाँ विकसित कर सकते हैं।

- सहानुभूति का विकास: विकासवादी सुखवाद बताता है कि सहानुभूति एक महत्वपूर्ण सामाजिक कौशल है। इस ज्ञान का उपयोग करके, शिक्षक छात्रों में सहानुभूति विकसित करने पर अधिक ध्यान दे सकते हैं।

- दीर्घकालिक परिणामों पर ध्यान: इस दृष्टिकोण से, शिक्षक छात्रों को तत्काल संतुष्टि और दीर्घकालिक कल्याण के बीच संतुलन बनाने की महत्वपूर्णता समझा सकते हैं।

b) नीति निर्माण:

विकासवादी सुखवाद के सिद्धांतों का उपयोग सार्वजनिक नीतियों को आकार देने में किया जा सकता है।

विस्तृत विवरण:

- सामाजिक कल्याण कार्यक्रम: इस दृष्टिकोण से, नीति निर्माता ऐसे कार्यक्रम डिजाइन कर सकते हैं जो न केवल व्यक्तिगत जरूरतों को पूरा करते हैं, बल्कि सामुदायिक सहयोग और सामाजिक संबंधों को भी बढ़ावा देते हैं।

- पर्यावरण नीतियाँ: विकासवादी सुखवाद हमें बताता है कि मनुष्य प्रकृति से जुड़ाव महसूस करने के लिए विकसित हुए हैं। इस जानकारी का उपयोग ऐसी पर्यावरण नीतियाँ बनाने में किया जा सकता है जो लोगों के प्राकृतिक वातावरण से जुड़ाव को बढ़ावा देती हैं।

- स्वास्थ्य नीतियाँ: इस दृष्टिकोण से, नीति निर्माता ऐसी स्वास्थ्य नीतियाँ बना सकते हैं जो न केवल शारीरिक स्वास्थ्य पर, बल्कि मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण पर भी ध्यान देती हैं।

c) व्यावसायिक नैतिकता:

विकासवादी सुखवाद के सिद्धांतों का उपयोग व्यावसायिक नैतिकता को आकार देने में किया जा सकता है।

विस्तृत विवरण:

- कर्मचारी कल्याण: यह दृष्टिकोण बताता है कि कर्मचारियों का कल्याण न केवल उनकी व्यक्तिगत उत्पादकता के लिए, बल्कि पूरे संगठन के लिए महत्वपूर्ण है।

- सामाजिक जिम्मेदारी: विकासवादी सुखवाद के अनुसार, व्यवसायों को न केवल अपने शेयरधारकों, बल्कि समुदाय और पर्यावरण के प्रति भी जिम्मेदार होना चाहिए।

- दीर्घकालिक दृष्टिकोण: यह सिद्धांत व्यवसायों को अल्पकालिक लाभ के बजाय दीर्घकालिक स्थिरता पर ध्यान केंद्रित करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

12.8 विकासवादी सुखवाद की दार्शनिक चुनौतियाँ

a) प्रकृतिवादी तर्कदोष:

यह आलोचना कहती है कि विकासवादी सुखवाद "है" से "होना चाहिए" का गलत निष्कर्ष निकालता है।

विस्तृत विवरण:

- तर्क: केवल इसलिए कि कुछ प्राकृतिक है या विकासवादी रूप से विकसित हुआ है, इसका मतलब यह नहीं है कि यह नैतिक रूप से सही है।

- उदाहरण: हिंसा या स्वार्थ भी विकासवादी रूप से विकसित हुए व्यवहार हैं, लेकिन हम इन्हें नैतिक रूप से स्वीकार्य नहीं मानते।

- प्रतिवाद: विकासवादी सुखवाद के समर्थक तर्क देते हैं कि यह सिद्धांत केवल यह नहीं कहता कि जो प्राकृतिक है वह नैतिक है, बल्कि यह हमारी नैतिक प्रवृत्तियों की उत्पत्ति को समझाने का प्रयास करता है।

b) मूल्य निरपेक्षता:

यह आलोचना कहती है कि विकासवादी सुखवाद नैतिक मूल्यों को सापेक्ष बना देता है।

विस्तृत विवरण:

- तर्क: अगर नैतिकता केवल विकास का परिणाम है, तो क्या इसका मतलब यह है कि कोई भी व्यवहार "प्राकृतिक" कहकर उचित ठहराया जा सकता है?

- चिंता: क्या यह दृष्टिकोण नैतिक निरपेक्षता की ओर ले जाता है, जहाँ हर व्यवहार को समान रूप से वैध माना जाता है?

- प्रतिवाद: विकासवादी सुखवाद के समर्थक तर्क देते हैं कि यह सिद्धांत नैतिक मूल्यों को समझने का एक तरीका प्रदान करता है, न कि उन्हें निरस्त करता है।

c) अपूर्णता:

यह आलोचना कहती है कि विकासवादी सुखवाद मानव नैतिकता की पूरी जटिलता को समझाने में असमर्थ है।

विस्तृत विवरण:

- तर्क: मानव नैतिकता विकास से कहीं अधिक जटिल है और इसमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, और व्यक्तिगत कारक शामिल हैं।

- उदाहरण: कई नैतिक सिद्धांत, जैसे कि कांट का निरपेक्ष नैतिकता का विचार, विकासवादी सुखवाद द्वारा पूरी तरह से समझाए नहीं जा सकते।

- प्रतिवाद: विकासवादी सुखवाद के समर्थक स्वीकार करते हैं कि यह सिद्धांत नैतिकता का पूर्ण विवरण नहीं है, बल्कि इसे समझने का एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है।

d) वैज्ञानिक सीमाएँ:

कुछ आलोचक तर्क देते हैं कि विकासवादी सुखवाद के कई दावों को वैज्ञानिक रूप से सिद्ध करना मुश्किल है।

विस्तृत विवरण:

- चुनौती: यह सिद्ध करना मुश्किल है कि कोई विशेष नैतिक प्रवृत्ति विशेष रूप से विकासवादी अनुकूलन का परिणाम है।

- जटिलता: मानव व्यवहार और नैतिकता इतनी जटिल हैं कि उन्हें केवल जैविक कारकों से समझाना मुश्किल है।

- प्रतिवाद: विकासवादी सुखवाद के समर्थक तर्क देते हैं कि यह सिद्धांत एक कार्यशील परिकल्पना प्रदान करता है जो निरंतर अनुसंधान और परीक्षण के अधीन है।

विकासवादी सुखवाद एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली दार्शनिक दृष्टिकोण है जो मानव नैतिकता और सुख को समझने का एक नया तरीका प्रदान करता है। हालांकि इसके कई व्यावहारिक अनुप्रयोग हैं, यह गंभीर आलोचनाओं का भी सामना करता है। इस सिद्धांत की शक्तियों और सीमाओं को समझना महत्वपूर्ण है ताकि इसका उचित उपयोग किया जा सके और इसकी सीमाओं के प्रति सावधान रहा जा सके।

12.9 विकासवादी सुखवाद का भविष्य और व्यापक प्रभाव

1. अंतःविषय अनुसंधान:

विकासवादी सुखवाद का भविष्य विभिन्न क्षेत्रों के बीच सहयोग पर निर्भर करता है।

a) न्यूरोसाइंस और दर्शन: मस्तिष्क अध्ययन से प्राप्त नए निष्कर्षों को नैतिक सिद्धांतों से जोड़ना महत्वपूर्ण होगा।

उदाहरण: MRI स्कैन का उपयोग यह समझने के लिए किया जा सकता है कि नैतिक निर्णय लेते समय मस्तिष्क के कौन से क्षेत्र सक्रिय होते हैं।

b) आनुवंशिकी और व्यवहार विज्ञान: जीन और व्यवहार के बीच संबंधों की बेहतर समझ विकासवादी सुखवाद को और अधिक सटीक बना सकती है।

उदाहरण: ऑक्सीटोसिन रिसेप्टर जीन के विभिन्न रूपों का अध्ययन यह समझने में मदद कर सकता है कि कुछ लोग दूसरों की तुलना में अधिक सहानुभूतिपूर्ण क्यों होते हैं।

c) कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) और नैतिकता: AI के विकास के साथ, विकासवादी सुखवाद मशीनों में नैतिक निर्णय क्षमता विकसित करने में मदद कर सकता है।

उदाहरण: स्वायत्त वाहनों को नैतिक निर्णय लेने के लिए प्रोग्राम करना, जैसे कि दुर्घटना की स्थिति में किसकी सुरक्षा को प्राथमिकता दी जाए।

2. नए नैतिक चुनौतियों का सामना:

विकासवादी सुखवाद को नई तकनीकों और सामाजिक परिवर्तनों से उत्पन्न नैतिक चुनौतियों का सामना करना होगा।

a) जीन संपादन: CRISPR जैसी तकनीकों के विकास के साथ, विकासवादी सुखवाद को मानव जीनोम में हस्तक्षेप के नैतिक निहितार्थों पर विचार करना होगा।

प्रश्न: क्या हमें अपने बच्चों के जीन संपादित करने का अधिकार है? यह हमारे विकासवादी इतिहास और भविष्य को कैसे प्रभावित करेगा?

b) वर्चुअल रियलिटी और नैतिकता: जैसे-जैसे वर्चुअल दुनिया अधिक यथार्थवादी होती जाएगी, विकासवादी सुखवाद को इन नए वातावरणों में नैतिक व्यवहार पर विचार करना होगा।

चिंता: क्या वर्चुअल दुनिया में अनैतिक व्यवहार वास्तविक दुनिया में हमारे नैतिक मूल्यों को कमजोर कर सकता है?

c) जलवायु परिवर्तन और नैतिकता: विकासवादी सुखवाद को यह समझना होगा कि कैसे हमारी विकासवादी प्रवृत्तियाँ जलवायु परिवर्तन जैसी वैश्विक चुनौतियों से निपटने में बाधा या सहायक हो सकती हैं।

अवसर: इस समझ का उपयोग ऐसी नीतियाँ बनाने में किया जा सकता है जो लोगों को पर्यावरण संरक्षण के लिए प्रेरित करें।

3. शैक्षिक प्रभाव:

विकासवादी सुखवाद शिक्षा प्रणालियों को प्रभावित कर सकता है और नए शैक्षिक दृष्टिकोण विकसित कर सकता है।

a) नैतिक शिक्षा का पुनर्गठन: विकासवादी सुखवाद के सिद्धांतों का उपयोग करके, स्कूल नैतिक शिक्षा को अधिक प्रभावी बना सकते हैं।

उदाहरण: छात्रों को यह सिखाना कि कैसे हमारी नैतिक भावनाएँ विकसित हुई हैं और कैसे हम उन्हें वर्तमान परिस्थितियों में लागू कर सकते हैं।

b) सामाजिक-भावनात्मक शिक्षा: विकासवादी सुखवाद सहानुभूति, सहयोग और भावनात्मक बुद्धि जैसे कौशलों के महत्व पर जोर दे सकता है।

लाभ: इससे छात्रों को न केवल अकादमिक रूप से, बल्कि सामाजिक रूप से भी सफल होने में मदद मिल सकती है।

c) जीवन भर सीखने का महत्व: विकासवादी सुखवाद बता सकता है कि कैसे मानव मस्तिष्क जीवन भर सीखने के लिए विकसित हुआ है।

प्रभाव: यह शिक्षा नीतियों को प्रभावित कर सकता है, जिससे वयस्क शिक्षा और निरंतर व्यावसायिक विकास पर अधिक ध्यान दिया जा सकता है।

4. सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव:

विकासवादी सुखवाद सामाजिक नीतियों और राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित कर सकता है।

a) समावेशी नीतियाँ: विकासवादी सुखवाद बता सकता है कि मानव समाज सहयोग और परस्पर निर्भरता पर आधारित है।

संभावित प्रभाव: यह अधिक समावेशी सामाजिक नीतियों का समर्थन कर सकता है, जैसे कि सार्वभौमिक स्वास्थ्य देखभाल या आय समानता।

b) अंतरराष्ट्रीय सहयोग: यह सिद्धांत बता सकता है कि मानव जाति के रूप में हमारा भविष्य एक साथ है।

अनुप्रयोग: इसका उपयोग जलवायु परिवर्तन या वैश्विक स्वास्थ्य चुनौतियों जैसे वैश्विक मुद्दों पर अंतरराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने के लिए किया जा सकता है।

c) लोकतांत्रिक संस्थानों का पुनर्मूल्यांकन: विकासवादी सुखवाद हमें यह समझने में मदद कर सकता है कि कैसे मानव समाज और शासन प्रणालियाँ विकसित हुई हैं।

प्रश्न: क्या हमारे वर्तमान लोकतांत्रिक संस्थान हमारी विकासवादी प्रवृत्तियों के अनुरूप हैं? क्या उन्हें संशोधित किया जाना चाहिए?

5. व्यक्तिगत विकास और मानसिक स्वास्थ्य:

विकासवादी सुखवाद व्यक्तिगत विकास और मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान कर सकता है।

a) आत्म-समझ: यह सिद्धांत लोगों को अपनी भावनाओं और व्यवहारों को बेहतर ढंग से समझने में मदद कर सकता है।

उदाहरण: यह समझना कि तनाव प्रतिक्रिया एक विकासवादी अनुकूलन है, लोगों को इसे बेहतर ढंग से प्रबंधित करने में मदद कर सकता है।

b) संबंधों की समझ: विकासवादी सुखवाद यह समझने में मदद कर सकता है कि मानव संबंध कैसे काम करते हैं और क्यों महत्वपूर्ण हैं।

लाभ: यह ज्ञान स्वस्थ संबंध बनाने और बनाए रखने में सहायक हो सकता है।

c) जीवन के उद्देश्य की खोज: यह सिद्धांत लोगों को यह समझने में मदद कर सकता है कि जीवन का अर्थ और उद्देश्य कैसे विकसित हुआ है।

प्रभाव: यह लोगों को अपने जीवन में अधिक

विकासवादी सुखवाद एक गतिशील और विकासशील क्षेत्र है जो विज्ञान, दर्शन और समाज के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित कर रहा है और उनसे प्रभावित हो रहा है। यह हमें मानव प्रकृति, नैतिकता और सुख की एक नई समझ प्रदान करता है, जो व्यक्तिगत विकास से लेकर वैश्विक नीति निर्माण तक, जीवन के कई क्षेत्रों में लागू की जा सकती है। हालांकि, जैसा कि हमने पिछले खंड में देखा, इस दृष्टिकोण की अपनी चुनौतियाँ और सीमाएँ हैं। भविष्य में, विकासवादी सुखवाद को इन चुनौतियों का सामना करना होगा और नए वैज्ञानिक खोजों और सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप विकसित होना होगा।

अंत में, विकासवादी सुखवाद हमें याद दिलाता है कि हम अपने विकासवादी इतिहास के उत्पाद हैं, लेकिन हम अपने भविष्य के निर्माता भी हैं। यह ज्ञान हमें अपनी प्रवृत्तियों को बेहतर ढंग से समझने और उन्हें अपने वर्तमान वातावरण के अनुकूल बनाने में मदद कर सकता है, जिससे हम व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अधिक सुखी और नैतिक जीवन जी सकें।

विकासवादी सुखवाद क्लासिकल सुखवाद से किस प्रकार विकासवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए आगे बढ़ता है यह प्रकृति जीव एवं जगत को सृष्टिवाद से अलग रखकर उनको एक निश्चित विकास क्रम की दृष्टि से देखता है।

स्पेंसर के अनुसार यदि कोई कार्य व्यक्ति एवं जाति के रक्षा एवं वृद्धि में सहायक है तो वह शुभ है और यदि वह बाधक है तो अशुभ है उनके अनुसार हम उन्हें कर्मों को शुभ कहते हैं जो हमारे स्वयं के एवं दूसरों के जीवन में सहायक हो सकें और हम उन कर्मों को अशुभ कहेंगे जो परोक्ष या अपरोक्ष रूप से व्यक्ति या व्यक्तियों को मृत्यु की ओर ले जाता है। इसीलिए वह कहते हैं कि हमारे शुभ आचरण का लक्ष्य है दीर्घ जीवन । विकसित आचरण हमारे दीर्घ जीवन में सहायक होता है जबकि अविकसित आचरण उसमें बाधक होता है अतः विकसित आचरण ही श्रेष्ठ है स्पेंसर के अनुसार समय बीतने के साथ-साथ धीरे-धीरे आचरण अधिक विकसित होता जाता है और अधिक विकसित आचरण मनुष्य को उसके आसपास के वातावरण के साथ समायोजन में सहायता करता है इसलिए इस प्रकार का आचरण अल्प विकसित आचरण की तुलना में अधिक श्रेष्ठ होता है।

12.10 विकासवाद का मानदंड

यदि कोई कर्म मनुष्य का उसके वातावरण के साथ समायोजन करने में सहायक है तो वह शुभ कर्म है और यदि वह उसके वातावरण के साथ समायोजन में बाधक है तो वह अशुभ कर्म है। विकास क्रम में धीरे-धीरे आगे बढ़ने पर हम देखते हैं कि धीरे-धीरे हमारे ऐसे सभी आचरण कम होते जाते हैं या समाप्त होते जाते हैं जो कि वातावरण के साथ समायोजन करने में बाधा पहुंचा रहे थे और वे आचरण बच जाते हैं या अवशिष्ट रह जाते हैं जो वातावरण के साथ हमारे समायोजन में सहायक थे। विकास के क्रम में हम आगे देखते हैं कि मनुष्य में आपसी सहयोग बढ़ता है और संघर्ष न्यून होता जाता है। हमें समायोजन करना है तो हमें एक दूसरे का सहयोग करना पड़ता है और यदि इसका उल्टा होता है अर्थात जब संघर्ष बढ़ता है तो हमारे समायोजन में बाधा पहुंचती हैं इसी प्रकार विभिन्न मूल्यों जैसे सहानुभूति व्यक्ति एवं समाज के विकास में सहायता प्रदान करती हैं हम कह सकते हैं कि संघर्ष अनुचित है और सहानुभूति उचित है इसी प्रकार से विभिन्न नैतिक नियम एवं सदगुण भी विकास हेतु वांछनीय हैं।

स्पेंसर विकासवादी होने के साथ सुखवादी भी हैं अतः स्पेंसर का मत विकासात्मक सुखवाद कहा जाता है मानव कार्यों का मापदंड सुख है अर्थात हम सुख प्राप्त करने के लिए ही कोई कार्य करते हैं अतः ऐसे आचरण ही शुभ होंगे जिनसे हमें सुख प्राप्त होता है। परंतु स्पेंसर जो की विकासवादी सुखवाद को मानते हैं इसलिए वह अपने सुख सिद्धांत की व्याख्या में भी विकासवादी हैं। अब क्योंकि मानव ऐसी अवस्था में है जो निरंतर विकसित हो रही है अतः इसका आचरण विकासशील है इस विकास को दृष्टिगत रखते हुए दो प्रकार के सुख सामने आते हैं पहला निरपेक्ष सुख दूसरा सापेक्ष सुख।

निरपेक्ष सुख क्या है जिसमें दुख का लेश मात्र भी उपस्थित ना हो इसे पूर्ण सुख कहा जाता है यह कब प्राप्त होता है यह मानव की पूर्ण होने की पहचान है जिसका तात्पर्य है की पूर्णतया विकसित मानव ही पूर्ण सुख अथवा जिसे हम सर्वोच्च सुख कह सकते हैं को प्राप्त कर पता है परंतु व्यावहारिक स्तर पर यह अवस्था हमें संभव नहीं लगती।

अब सापेक्ष सुख क्या है ? सापेक्ष सुख में दुख भी शामिल होता है। विकास की अवस्थाओं से गुजरते हुए मनुष्य जिस सुखों को प्राप्त करता है उसे सापेक्ष सुख कहते हैं यह मानव के लिए शुभ है सद्गुण है हमारा आचरण ऐसा होना चाहिए कि उसे दुख कम से कम उत्पन्न हो और सुख अधिक से अधिक उत्पन्न हो लेकिन हमें ध्यान देना चाहिए कि सुख और दुख भी नैतिक नियमों के अनुकूल ही होते हैं जैसे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए जो चीज लाभदायक हो वह सुख है और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अगर कुछ हानिकारक है तो वह दुख है यहां भी स्पेंसर इस बात का ध्यान रखते हैं कि सुख जीवन का संरक्षण करता है और दुख जीवन का विनाश करने के लिए उत्तरदाई है इसलिए सुखदायक आचरण ही शुभ है और अशुभ क्या है जो दुखदाई आचरण हो। स्पेंसर मानते हैं कि सुख स्वतः साध्य है। इसलिए मानवीय कर्मों का

एकमात्र लक्ष्य सुख हो प्राप्त करना है लेकिन साथ ही हमें यह भी ध्यान देना चाहिए की यह सुख व्यक्तिगत मात्रा नहीं होना चाहिए सभी का सुख वांछनीय है,शुभ है।

अब प्रश्न उठता है कि स्वार्थ में और पदार्थ में समन्वय कैसे होगा स्पेंसर के अनुसार हमारे अंदर स्वार्थ और पदार्थ दोनों की ही प्रवृत्तियां होती हैं और दोनों महत्वपूर्ण भी हैं मनुष्य स्वभाव होता तो स्वार्थी है और इसी के कारण वह अपने अस्तित्व को बचाने का प्रयास करता है परंतु मानव में इसके साथ ही परार्थमूलक प्रवृत्ति भी होती है जिसके कारण वह अपने ईष्ट जनों, प्रिय जनों इत्यादि की रक्षा करता है यहां तक कि वह सर्वस्व त्यागने के लिए भी तत्पर हो जाता है। यद्यपि मानव पहले अपना सुख चाहता है तथापि दूसरों की सेवा में भी मनुष्य को सुख मिलता है अतः स्वार्थ वृत्ति और परोपकार वृत्ति इन दोनों का समन्वय मानव स्वभाव में दिखता है जहां स्वार्थ है वहां परार्थ भी है। स्पेंसर शुद्ध स्वार्थ व शुद्ध परार्थ दोनों को स्वीकार नहीं करते। हमारा जीवन इन दोनों के समन्वय के परिणाम स्वरुप की चलता है विकसित होता है ।

यद्यपि सामाजिक जीवन में संघर्ष अवश्यंभावी है। परंतु फिल्में स्वार्थ व परार्थ का समन्वय आवश्यक हो जाता है। सेंसर का मानना है कि विकास के चरम अवस्था में मानव एवं समाज के बीच का संघर्ष समाप्त हो जाएगा और मानव व समाज के स्वार्थ के बीच समन्वय स्थापित हो जाएगा ऐसी अवस्था में हमें सामाजिक या नैतिक नियमों की भी आवश्यकता नहीं रह जाएगी क्योंकि नियमो की आवश्यकता ही इसलिए पड़ती है कि व्यक्ति व समाज में संघर्ष रहता है जिसके परिणाम स्वरुप व्यक्ति स्वयं को सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाता है और अनुकूल होने पर ही उसका अस्तित्व बना रह पाना शंभव हो पाता है लेकिन संघर्ष के स्थिति केवल विकास के लिए ही है । व्यक्ति जब पूर्ण विकसित हो जाता है तो संघर्ष खत्म हो जाता है । इस प्रकार स्पेंसर दो तरह की नैतिकता के पक्ष में हैं -निरपेक्ष एवं सापेक्ष । सापेक्ष नैतिक नियम व्यक्ति की इच्छा से उत्पन्न नहीं होते ये नियम बाह्य दबाओं के कारण ही पैदा होते हैं सापेक्ष नैतिकता समाज तथा मानव के संघर्ष की नैतिकता है । कोई व्यक्ति सामाजिक राजनैतिक,धार्मिक बाध्यता के होने की वजह से ही नैतिक नियमो को मानता है। स्पेंसर के अनुसार ये बाह्य दबाव इसलिए आवश्यक हो जाते हैं कि इनसे हमें अपने कर्तव्यों का बोध होता है। और इसी के कारण हम अपने नैतिक कर्मों को संपादित करते हैं लेकिन इस प्रकार के दबाव मात्र सापेक्ष व सामाजिक नैतिकता हेतू ही होते हैं बाहय वातावरण के अनुकूल होने के लिए व्यक्ति को स्वयं के आचरण को नियंत्रित करना पड़ता है। और जब विकास की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है तो सापेक्ष नैतिकता स्वत: समाप्त हो जाती है। पूर्ण विकास की अवस्था में व्यक्ति और वातावरण का संघर्ष खत्म हो जाता है व आदर्श समाज स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक नियम अपूर्ण समाज की मांग है आदर्श समाज हेतु नैतिक नियंत्रण या नैतिक नियम की आवश्यकता नहीं होती। आदर्श समाज कर्तव्य बोध की भावना की मांग भी नहीं करता। वातावरण के साथ पूर्ण संबंध में स्थापित करने वाला मानव या पूर्ण समायोजित मानव परार्थ को भी स्वार्थ के रूप में ही ग्रहण करता है और यह उसका स्वभाव बन जाता है।

12.13 समीक्षा

विकासवाद नैतिक प्रगती की व्याख्या करता है परंतु नैतिकता के प्रारंभ की विवेचना नहीं करता और नैतिकता का प्रारंभ अनैतिक तत्वों से नहीं होता है पुनः वातावरण की अनुकूलता का तात्पर्य क्या है यह अनुकूलता किस आदर्श के संबंध में हो सकती है। यह भी माना जाता है कि जैव विकास सिद्धांत को नैतिक विकास पर हम लागू नहीं कर सकते योग्यतम की रक्षा, प्राकृतिक चुनाव आदि नैतिकता पर लागू नहीं हो सकते। विचारकों का यह भी मानना है कि नैतिक विकास को जीवन विकास का अंग भी नहीं माना जा सकता।

स्पेंसर के दर्शन में यह कमी लगती है कि उनका मानना है नैतिक नियम जैविक विकास की भांति होते हैं एवं उसका अंग है लेकिन अगर हम ध्यान से देखे तो जैविक नियम तथा आत्मक प्रकार के होते हैं जबकि नैतिक नियम मूल्यात्मक होते हैं दोनों के प्रकृति भिन्न-भिन्न है अतः नैतिक नियमों को जैविक विकास के भांति नहीं माना जा सकता । किस प्रकार जैविक विकासवाद को हम ऐतिहासिक अध्ययन जबकि नैतिक विकासवाद को आदर्श आत्मक अध्ययन का सकते हैं नीति शास्त्र मूलत: आदर्श का उल्लेख करता है उसके इतिहास का वर्णन नहीं करता। पुनः नैतिक विकास व जैव विकास में एक अंतर और है कि मानव अपने विकास के क्रम में नए-नए मूल्यों की स्थापना करता है नैतिक नियमों की प्रकृति शाश्वत नहीं होती नैतिक नियमों के लिए वातावरण एवं वंश अनुक्रम का कोई प्रयोजन नहीं होता नैतिक नियमों के लिए व्यक्ति या मानव के विकास का कोई प्रयोजन सीधे-सीधे नहीं रहता क्योंकि नैतिक नियमों का संबंध संकल्प स्वतंत्रता से होता है। यह आवश्यक नहीं की जो नैतिक दृष्टि से शुभ हो वह स्वास्थ्यवर्धक ही हो और जो नैतिक दृष्टि से शुभ ना हो वह स्वास्थ्य के लिए नकारात्मक हो यह आवश्यक नहीं की शुभ हमेशा स्वास्थ्यवर्धक ही हो अनेक ऐसे पदार्थ होते हैं जो नैतिकता की दृष्टि से अशुभ होते हैं जिनका भजन निषिद्ध होता है परंतु वे वे स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होते हैं परंतु हम उन्हें शुभ नहीं कह सकते। किस प्रकार स्वास्थ्य वर्धन अनैतिक और अनुचित कर्मों से भी हो सकता है लेकिन हम उन्हें नैतिक दृष्टि से अच्छा बिल्कुल नहीं कह सकते हुए अनैतिक या अनुचित ही कहलाएंगे।

स्पेंसर का सुखवाद कुछ स्थल पर भ्रामक प्रतीत होता है जैसे उनका मानना है कि मनुष्य कोई भी काम इसलिए करता है कि उससे सुख की प्राप्ति हो और वह यह भी मानते हैं की सुख से स्वास्थ्य लाभ होता है जबकि हम अपने दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक अनुभव में यह पाते हैं की अत्यधिक सुख प्राप्ति के प्रयास में हमारे स्वास्थ्य का विनाश होता है या उसकी क्षति होती है। जबकि इसके विपरीत यदि हम कष्ट सहकर व्यायाम करते हैं तो यह स्वास्थ्यवर्धक होता है।

पुनः स्पेंसर का मानना है कि सुखी जीवन ही शुभ और सद्गुणी जीवन होता है जबकि अपने व्यवहारिक जीवन में हम पाते हैं कि दुर्गुणी व्यक्ति और अशुभ कर्म करने वाला व्यक्ति सुखी जीवन जी रहा होता है ।

पुनः स्पेंसर के अनुसार अधिक सुखी जीवन अधिक विकसित जीवन है लेकिन इसके भी विरोधाभासी उदाहरण हम अपने व्यवहारिक जीवन में पाते हैं।

स्पेंसर का मानना है नैतिकता में एक विकास क्रम होता है और सापेक्ष व निरपेक्ष यह दो प्रकार की नैतिकता होती है । सापेक्ष नैतिकता के लिए विभिन्न प्रकार के दबावों अथवा अंकुश की जरुरत होती है लेकिन विकसित समाज में सापेक्ष नैतिकता के आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि वहां सापेक्ष नैतिकता का स्थान निरपेक्ष नैतिकता ले लेती है। निरपेक्ष नैतिकता के लिए किसी प्रकार के दबाव की आवश्यकता नहीं रह जाती और किसी प्रकार के अंकुश की भी जरूरत नहीं रहती क्योंकि यह आदर्श समाज है यहां स्वार्थ व परार्थ का कोई भेद नहीं रह जाता। लेकिन यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें हैं तो हम पाएंगे कि इस प्रकार का समाज स्वच्छंद समाज हो जाएगा जहां किसी प्रकार का कोई अंकुश ना होगा मानव पर किसी प्रकार का कोई दबाव न होगा । तो लोगों के निरंकुश होने की संभावना बढ़ जाएगी जो पुनः नैतिकता के मार्ग में अवरोधक बन जाएगा।

12.14 सारांश

स्पेंसर के दर्शन की विशेषता यह है कि वह नैतिक नियमों को विकास का परिणाम मानते हैं और वह यह मानते हैं कि नैतिक नियमों का स्वरूप जो आज है वह कल नहीं था और आने वाले कल को भी यह स्वरूप नहीं रहेगा इस प्रकार किसी नैतिक नियम को समझने के लिए हमें नैतिक प्रगती की समझ रखना आवश्यक हो जाएगा । नैतिक प्रगती पर

हम हम ध्यान दें तो हम पाते हैं कि सभी नैतिक सिद्धांत मानव एवं वातावरण के संघर्ष के परिणाम स्वरूप सामने आते हैं मानव वातावरण से स्वयं को समायोजित करना चाहता है मानव को नित्य नए-नए नैतिक मूल्यों की आवश्यकता होती है अगर वह पूर्णतः विकसित हो जाएगा तो आदर्श समाज की स्थापना होगी ऐसी स्थिति में नैतिक नियम निरर्थक हो जाएंगे परंतु विकास की अवस्था में इन मूल्यों की आवश्यकता रहती है। विकासवाद के आधार पर मानव जाति के बारे में स्पेंसर ने जिस आशावाद का संचार करना चाहा है उसमें कुछ समस्याएं लगती हैं जैसे उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका जीवन सुखद है या होना चाहिए और मानव जाति के विकास के साथ ही साथ मनुष्य का जीवन अधिकाधिक आनंदमय होता जाएगा। लेकिन गौतम बुद्ध जैसे दार्शनिकों के अनुसार इच्छा जिसे कि प्राय: लोग जीवन में अनिवार्य मानते हैं एक दुखद मानसिक स्थिति है यह दुख का कारण है। अनेक विकासवादी दार्शनिक जैसे लेस्ली स्टीफन एवं सैमुअल एलेक्जेंडर पूर्ण समन्वयुक्त और समायोजित आदर्श मानव जीवन जैसी प्रकल्पना को स्वीकार नहीं करते हैं।

12.15 बोध प्रश्न

1. विकासवादी सुखवाद से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख विचारकों का उल्लेख करते हुए इसके महत्व पर प्रकाश डालें।

2. विकासवादी सुखवाद के व्यावहारिक अनुप्रयोग समझाइए।

12.16 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

1.नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत - वेद प्रकाश वर्मा ,एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ,नई दिल्ली।

2.नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धांत - डॉ डी आर जाटव , मलिक एंड कंपनी ,जयपुर, दिल्ली

3.नीति शास्त्र की रूपरेखा -अशोक कुमार वर्मा , मोतीलाल बनारसी दास , दिल्ली

4.नीति शास्त्र की रूपरेखा -डॉक्टर बद्रीनाथ सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी

इकाई 13 -

पूर्णतावाद

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 पूर्णतावाद या आत्मपूर्णतावाद

13.3 जैविक एवं आध्यात्मिक विकास

13.4 समग्र विकास

13.5 स्वार्थवाद एवं परार्थवाद में समन्वय

13.6 सुखवाद एवं बुद्धिवाद में समन्वय

13.7 पूर्णतावाद के प्रकार

13.7.1 प्लेटो का निःश्रेयसवाद

13.7.2 अरस्तु का मानववाद

13.7.3 हेगल का आदर्शवाद

13.7.4 ग्रीन का सर्व कल्याणवाद

13.7.5 ब्रेडले का स्वकर्मवाद

13.8 समीक्षा

13.9 सारांश

13.10 बोध प्रश्न

13.11 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

13.0 प्रस्तावना

मनुष्य की अपनी एक विशेषता है वह केवल शरीर नहीं है ,पशुओं का भी शरीर होता है। अतः मात्र शरीर होना मनुष्य की विशेषता नहीं है। इसी प्रकार से चैतन्य की शक्ति पशुओं में भी है अतः केवल चैतन्य मात्र का होना भी मनुष्य की विशेषता नहीं है। केवल विवेक ही है जो मनुष्य को पशुओं से अलग करता है। विवेक के अनुसार कार्य करना ही उसकी अनुपम विशेषता है। जो व्यक्ति अपने काम में सिद्ध हो, पूर्ण हो वही अच्छा है। वही व्यक्ति अच्छा है जिसने अपनी विवेक शक्ति का पूर्ण विकास कर लिया हो।

आत्म पूर्णतावाद प्रयोजनवाद को स्वीकार करता है इसका मानना है की कोई चीज इसलिए अच्छी होती है कि उससे कोई लाभ होता है या उसकी कोई उपादेयता होती है। अब प्रश्न यह है की हमारे जीवन का क्या लाभ है अगर हमारे जीवन का कोई लाभ है तब तो यह अच्छा है अन्यथा नहीं। हमारे जीवन का लाभ आत्म पूर्णता प्राप्त करने में निहित है। इस प्रकार यदि मनुष्य को हम केवल शरीर मानें तो एक युक्ति संगत जीवन जीना उसका शुभ होगा परंतु यदि मनुष्य को व्यक्तित्व युक्त माना जाए तो उसके व्यक्तित्व का विकास उसका शुभ कहलाएगा।

13.1 उद्देश्य

हर व्यक्ति चाहता है कि उसे मानव जीवन में सभी श्रेय प्राप्त हों परंतु प्रश्न है कि कैसे यह श्रेय हमें प्राप्त हो सकते हैं ।हमारे भीतर विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं जिनसे हम निरंतर जूझते रहते हैं ।अपनी प्रवृत्तियों , शक्तियों का समुचित उपयोग हम कैसे करें? उन्हें कैसे नियमित करें? यह समस्या हमारे सामने रहती है ।इस इकाई में हम इस समस्या के समाधान हेतु पूर्णतावाद सिद्धांत द्वारा सुझाए गए उपाय को समझने का प्रयास करेंगे । हम पूर्णतावाद के विभिन्न सिद्धांतों से परिचित होंगे और पूर्णतावाद की एक सामान्य समझ को ग्रहण करके यह देखने का प्रयास करेंगे कि कैसे हम अपने जीवन में पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं।

13.2 पूर्णतावाद या आत्मपूर्णतावाद-

इस सिद्धांत के समर्थक को का मानना है कि मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्मा की पूर्णता है।हमारे नैतिक उत्थान का चरम लक्ष्य आत्मा की पूर्णता है। इस सिद्धांत को आत्मप्राप्तिवाद, आत्म साक्षात्कारवाद , आत्मकल्याणवाद अथवा आत्मसिद्धिवाद भी कहते हैं। आत्मा का तात्पर्य है चैतन्य सत्ता अतः इस चेतन सत्ता की पूर्णता ही आत्म पूर्णता कहलाती है ऐसे कोई भी कार्य जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हैं वे शुभ होंगे और जो इसके मार्ग में बाधक है वह अशुभ होंगे इस प्रकार उचित -अनुचित, शुभ- अशुभ का निर्णय आत्मपूर्णता के मार्ग में साधक के आधार पर ही तय हो सकता है ।

13.3 जैविक एवं आध्यात्मिक विकास

चेतना का विकास जैविक नहीं होता अपितु आध्यात्मिक होता है आत्मपूर्णतावादी विकास को तो स्वीकार करते हैं किंतु यह विकास चेतना का विकास है क्योंकि जैव शास्त्र में जिस विकासवाद को स्वीकार किया जाता है उसमें माना जाता है कि मानव पशु का विकसित रूप है । यह विकास क्योंकि जैविक है ,यांत्रिक है अतः हम इसे अध्यात्मवादी विकास प्रक्रिया में नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि जैव विकास कि इस व्याख्या को स्वीकार करने पर हमें यह मानना होगा कि मानव की मूल प्रवृत्तियां पशुओं के समान होती हैं । यद्यपि मानव पशुओं से भिन्न है लेकिन हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मानव में बुद्धि और विवेक होता है और मानवीय कार्य सच्चे अर्थों में प्रवृत्ति से नहीं अपितु हमारी बुद्धि से नियंत्रित होते हैं , विवेक से नियंत्रित होते हैं । इस प्रकार बुद्धि , विवेक सीधे आत्म चेतना से संबंधित होते

हैं और आत्म चेतना का विकास निरंतर होता रहता है । हालांकि इसमें विकास के विभिन्न स्तर होते हैं और चेतना के आधार पर ही शुभता- अशुभता का निर्धारण होता है हमारी चेतन पूर्णता की ओर अग्रसर है और सदैव पूर्णता को प्राप्त करना इसका अंतिम लक्ष्य है। हमारा लक्ष्य आत्म पूर्णता प्राप्त करना है और यह बुद्धि और विवेक से ही प्राप्त किया जा सकता है हमारा विवेक हमारी सभी प्रकार की शक्तियों को विकसित करना चाहता है और हमारा समग्र विकास बुद्धि या विवेक द्वारा ही नियंत्रित होता है। आत्म पूर्णतावाद का तात्पर्य है बुद्धि या विवेक के नियंत्रण में व्यक्ति का समग्र विकास

13.4 समग्र विकास

आत्मा पूर्णतावाद व्यक्ति का समग्र विकास है व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र विकास है। और हमारे व्यक्तित्व में मात्र विवेक ही नहीं होता वासना भी होती है और वासना के कार्य करना अनुचित होगा और वह हमें अपूर्णता की ओर ले जाएगा अतः वासना के साथ विवेक का समन्वय हमारे विकास के लिए आवश्यक हो जाता है। हम केवल अपनी भावनाओं या प्रवृत्तियों के अनुरूप कार्य न करें अपितु हमें अपने विवेक और बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा अतः भावनाओं और इच्छाओं को विवेक द्वारा नियंत्रित करना आवश्यक हो जाता है

व्यक्ति के समग्र विकास हेतु यह भी आवश्यक है कि वह एक सामाजिक जीवन जी रहा हो क्योंकि समाज से अलग होकर व्यक्ति का संपूर्ण विकास संभव ही नहीं आत्म पूर्णतावादी का मानना है समाज और व्यक्ति में अव एवं अवयव का संबंध होता है यदि समाज को एक शरीर माना जाए तो व्यक्ति उसे शरीर का एक अंग है अतः उसे अंग यानी की व्यक्ति को शरीर यानी समाज से पृथक नहीं किया जा सकता समाज से पृथक होकर व्यक्ति महत्वपूर्ण नहीं रह जाता जैसा कि हम जानते हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहने से ही उसकी समग्र शक्तियों का विकास संभव हो पता है दूसरों का कल्याण में ही व्यक्ति का कल्याण छुपा होता है दया दयालुता सहानुभूति परोपकार इत्यादि से ही व्यक्ति सच्चा सुख प्राप्त कर पाता है। इसलिए हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम दूसरों की सुविधा सुविधा दूसरों के कल्याण इत्यादि को ध्यान में रखकर कोई कार्य करें और इस प्रकार से हमें व्यक्तिगत नहीं अपितु व्यापक सामाजिक हित सामाजिक कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए कार्य करना चाहिए वही कार्य उचित कहलाएगा।

हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यापक कल्याण में व्यक्तिगत कल्याण अंतर नहीं होता है खता जब हम व्यापक सामाजिक खेत के लिए कार्य करते हैं तो उसमें हमारा सिद्धि रहता है अतः मात्र अपने कल्याण के लिए कार्य करना हमें लक्ष्य से भटका देता है और दूसरों के कल्याण हेतु कार्य करना हमें मंजिल पर पहुंचा देता है। इस प्रकार सामूहिक कल्याण हेतु कार्य करने से ही हम आत्म पूर्णतावाद के लक्ष्य पर पहुंच सकते हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार आत्मसिद्धि ही सर्वोच्च शुभ है। हमारे भीतर शारीरिक बौद्धिक इत्यादि शक्तियां होती हैं जिनसे हम भौतिक अध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करते हैं अतः हमारा लक्ष्य बहुमुखी होता है जिसके लिए हमें अपनी प्रतिभा को विकसित करने की आवश्यकता होती है अपनी शक्तियों के विकास की आवश्यकता होती है अर्थात अपनी सभी प्रकार की शक्तियों के विकास के माध्यम से ही हम आत्मसिद्धि के लक्ष्य को प्राप्त कर पाते हैं और तभी हमें आत्म संतुष्टि की प्राप्ति होगी। यद्यपि मनुष्य अपनी सभी शक्तियों को समान रूप से विकसित कर सके यह आवश्यक तो नहीं और सब कुछ प्राप्त कर ले यह भी आवश्यक नहीं है फिर भी हम अपने लक्ष्य को स्थिर करके आगे बढ़े, इसकी प्राप्ति के लिए अपना संपूर्ण प्रयास करें यह आवश्यक है हमें अपनी पूरी शारीरिक मानसिक शक्ति को इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु लगा देना चाहिए। यही हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है।

13.5 स्वार्थवाद एवं परार्थवाद में समन्वय

हम जानते हैं कि स्वार्थवाद और परार्थवाद एक दूसरे के विरोधी सिद्धांत है स्वार्थवाद मानता है कि व्यक्ति का स्वयं का सुख ही वांछनीय है इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वयं के लिए है अतः व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जिससे उसके स्वयं के स्वार्थ की पूर्ति होती हो इससे विपरीत परार्थवाद मानता है कि वही कार्य वांछनीय हैं जो सामाजिक सुख या व्यापक सुख को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। इसके अनुसार हर व्यक्ति दूसरों के लिए है और वही कार्य वांछनीय है जिससे सामाजिक स्वार्थ की पूर्ति होती हो । इस प्रकार यह दोनों सिद्धांत विरोधी हैं परंतु आत्मपूर्णतावाद स्वार्थवाद और परार्थवाद में समन्वय स्थापित करता है।

आत्म पूर्णता वाद के अनुसार सामाजिक स्वार्थ में ही व्यक्ति का निजी स्वार्थ समाहित रहता है इस प्रकार सामाजिक कल्याण करने से व्यक्ति का कल्याण हो जाता है अपने समग्र विकास के लिए या आवश्यक है कि हम वही कार्य करें जिसे सभी सामाजिक व्यक्तियों का कल्याण होता हो और इसके माध्यम से हम स्वार्थ और परार्थ में समन्वय भी स्थापित कर सकते हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व सामाजिक व्यक्तित्व का अंग होता है अतः अपने व्यक्तित्व का समग्र विकास करने का अर्थ है समाज का विकास करना।

13.6 सुखवाद एवं बुद्धिवाद में समन्वय

आत्मपूर्णतावाद सुखवाद एवं बुद्धि वाद में भी समन्वय स्थापित करता है सुखवाद का मानना है कि शुभ प्राप्त करना व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य है इसलिए जिस काम से सुख मिले वह काम मानव के लिए उचित होगा सुखवाद मानता है कि मनुष्य भावना युक्त होता है हमारी भावना स्वाभाविक रूप से सुख उन्मुख होती हैं इस प्रकार सुख हमारा एक मात्र लक्ष्य है। इसके विपरीत बुद्धिवाद मानता है कि मनुष्य विवेक प्रधान होता है और विवेक की यह मांग है कि उचित कार्य करने के लिए हमें अपनी भावनाओं का दमन करना पड़ता है इस प्रकार बुद्धिमान और सुखवाद विरोधी हैं लेकिन हम देखते हैं कि आत्मपूर्णतावाद इनमें समन्वय स्थापित कर देता है।

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार नैतिकता के लिए भावना एवं बुद्धि दोनों की आवश्यकता पड़ती है व्यक्ति मात्र भावना से नैतिक नहीं हो सकता और मात्र बुद्धि से भी नैतिक नहीं हो सकता । वही व्यक्ति नैतिक हो सकता है जिसमें भावना भी हो और बुद्धि भी हो। बस ध्यान यहां देना चाहिए कि भावनाओं को बुद्धि के नियंत्रण में रहना चाहिए तभी मनुष्य के समग्र कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है इस प्रकार इन दोनों में समन्वय की निरंतर आवश्यकता रहती है। इच्छाओं की तृप्ति यदि बुद्धि के नियंत्रण में होती है तभी हम नैतिक हो सकते हैं अन्यथा नहीं। हमें इच्छाओं के दमन का नहीं अपितु इच्छाओं पर नियंत्रण का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार आत्मपूर्णतावाद सुख और त्याग के बीच समन्वय स्थापित करता है।

कामना को बुद्धि के आदेश के अनुसार तुष्ट करना चाहिए, पूर्णतावाद कामना का दामन नहीं करता अपितु उसका परिमार्जन एवं परिष्कार का मार्ग सुझाता है। मनुष्य को आनंद की अनुभूति पूर्णता प्राप्त करने पर ही होती है इंद्रिय तृप्ति से मात्र सुख मिलता है और सुख एवं आनंद में अंतर होता है सुख क्षणिक होता है। और आत्म संतोष आत्मसिद्धि से ही प्राप्त हो सकता है और आत्म संतोष आनंद की अवस्था है। हमें ध्यानपूर्वक कामनाओं से वासनाओं को अलग कर देना चाहिए हमें पासविक इच्छाओं का त्याग कर देना चाहिए।

इस सिद्धांत के अनुसार आत्म लाभ जीवन का आदर्श है और आत्म लाभ आत्मोत्सर्ग (सेल्फ सैक्रिफाइस) द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने हीन स्वभाव को हटाकर अपने उच्चतर प्रकृति की तरफ बढ़े। और पासविक प्रवृत्तियों का त्याग करके बुद्धिमय आत्मा के लाभ हेतु प्रयास करें। हमें

यदि उच्चतर आत्मा का विकास करना है तो वह समाज के साथ समन्वय द्वारा ही संभव है ना कि समाज अथवा राज्य आदि से विरक्त होकर। व्यक्ति का परम कल्याण व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण है जिसे आत्म प्रसाद या आत्म लाभ कहते हैं और यह आत्म पूर्णता वाद के द्वारा स्वीकृत किया जाता है। मनुष्य की आत्मा बुद्धिमय आत्मा अंतःकरण नियमों को अपने ही ऊपर लादती है। नैतिक बाध्यता बाहर से नहीं आती अपितु बौद्धिक आत्मा ही पाशविक आत्मा को कर्तव्य के लिए प्रेरित करती है।

13.7 पूर्णतावाद के प्रकार

प्लेटो ,अरस्तु ,हेगल, ग्रीन , ब्रैडले आत्म पूर्णतावाद के समर्थक हैं।

13.7.1 प्लेटो का निःश्रेयसवाद

प्लेटो श्रेय को नित्य ,एक और अखंड मानते हैं श्रेय में कोई अंग नहीं होता विभिन्न प्रकार के गुण , नैतिक मूल्य, सौंदर्य इत्यादि श्रेय के विविध पक्ष हैं उनमें श्रेय की अभिव्यक्ति होती है वह अलग-अलग नहीं है अपित एक ही परम श्रेय के अंग हैं। संसार में जो भी अच्छा है वह इसलिए अच्छा है क्योंकि वह श्रेय के अनुरूप है विश्व की सभी वस्तुएं ,आत्माएं इत्यादि इस परम श्रेय के अधिक से अधिक अनुकूल यह अनुरूप होने की दिशा में प्रयासरत हैं। मानव के स्वभाव में तीन प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं - क्षुधा, भावना और बुद्धि। इन तीनों के स्वाभाविक कार्यों द्वारा इन तीनों प्रवृत्तियों की पूर्ति होती है क्षुधा का श्रेय आत्म संयम होता है। भावना का श्रेय साहस होता है एवं बुद्धि का श्रेय ज्ञान होता है ।न्याय के अंतर्गत आत्म संयम, साहस और ज्ञान तीनों का समावेश होता है इस प्रकार न्याय सर्वोच्च नैतिक गुण है ।न्याय श्रेय का वह आदर्श है जिसके द्वारा इन तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों का नियमन होता है ।न्याय मानव स्वभाव के संपूर्ण अंगों का गुण है यह प्रमुखतम गुण है । और

यही न्याय राष्ट्र एवं समाज का भी गुण है यह समाज के सभी मनुष्यों की आवश्यकताओं एवं समाज की आवश्यकताओं के मध्य समन्वय स्थापित करता है। समाज की दृष्टि से न्याय क्या है ?प्लेटों के अनुसार 'अपना कार्य करना एवं दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप न करना ही न्याय है'

13.7.2 अरस्तु का मानववाद

अरस्तु के अनुसार मनुष्यों का श्रेय पशुओं के एवं अन्य जीवधारी के श्रेय से अलग है कार्य करने की क्षमता तो सभी जीवधारियों में होती है महत्व यह रखता है कि वह अपना कार्य ठीक ढंग से करें इसी में उनका श्रेय निहित है। मनुष्य में यदि बुद्धि ना होती तो उसका श्रेय मात्र भोजन ,तृप्ति तथा संतान उत्पत्ति इत्यादि तक ही सीमित रहता। उसका श्रेय राग द्वेष तक सीमित रहता और इस प्रकार मनुष्य, पशु में कोई अंतर न रहता । परंतु बुद्धि मानव स्वभाव का प्रमुख तत्व है अतः मनुष्य का श्रेय बुद्धि के व्यापार को सम्यक रूप से करने में है इस प्रकार मानव श्रेय की पूर्ति बुद्धि से संभव है इस प्रकार आदर्श जीवन विशुद्ध बौद्धिक व्यापार का जीवन है ।मननशील, चिंतनशील एवं ज्ञानात्मक जीवन ही आदर्श जीवन है।

13.7.3 हेगल का आदर्शवाद

हेगल ने कहा है कि 'व्यक्ति बनो और दूसरों को व्यक्ति समझकर सम्मान करो अर्थात मनुष्य का लक्ष्य व्यक्तित्व लाभ है । जिसका अर्थ है व्यक्ति बनना । हमारी निम्न प्रकृति चूंकि समाज के लिए बाधक है अतः इस पर विजय प्राप्त करके मनुष्य स्वयं को इस योग्य बनाता है कि वह समाज का हितैसी बन जाए, प्रिय बन जाए और स्वयं के भीतर समाज की आत्मा के दर्शन करे । ऐसा करके मनुष्य आत्म लाभ प्राप्त कर सकता है ।

उनकी ऊक्ति है 'व्यक्ति बनो। हमारे भीतर इच्छाएं भी होती हैं और हम में बुद्धि और विवेक भी है इच्छाएं व्यक्तिगत होती हैं जबकि बुद्धि सामान्य होती है। इच्छाएं हमें जहां पर अन्य मनुष्य से पृथक करती हैं वहीं बुद्धि सामान्यीकरण करती है। हम मनुष्य हैं इसलिए बनते हैं क्योंकि हम में बुद्धि है। हमारे समग्र व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए जिसके लिए बुद्धिमय जीवन का विकास अवश्यक हो जाता है और हमारे व्यक्तित्व का समग्र विकास यह स्वयं में हमारा लक्ष्य है ना कि किसी अन्य लक्ष्य का साधन इसीलिए कहा गया है कि व्यक्ति बनो और दूसरों का सम्मान करो।

हेगल कहते हैं 'जीने के लिए मरो' अर्थात मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए उसकी व्यक्तिगत आत्मा की मृत्यु आवश्यक हो जाती है। अर्थात बुद्धि के विकास हेतु यह जरूरी नहीं की इंद्रियों का दमन किया जाए अपितु उसका नियंत्रण करना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि धीरे-धीरे उसका विलोपन हो जाता है। उक्त वाक्य का सीधा-सीधा तात्पर्य है की - उच्चतर जीवन प्राप्त करने के लिए हीन जीवन का त्याग या हीन जीवन की मृत्यु आवश्यक है।

13.7.4 का सर्व कल्याणवाद

ग्रीन का मानना है कि मनुष्य तथा प्रकृति का आधार एक नित्य चैतन्य है और यह नित्य चैतन्य स्वयं को सभी मनुष्यों में अभिव्यक्त करता है परंतु इस तत्व की अभिव्यक्ति हर व्यक्ति में एक जैसी नहीं है अतः उनकी व्यक्तिगत चेतना के लिए एक आदर्श होता है और यह है नित्य चैतन्य की पूर्णता को उपलब्ध होना। नित्य चैतन्य ही आत्मा है अतः हमारा एकमात्र से आत्मा उपलब्धि या आत्म लाभ है क्योंकि हमारे भीतर दो प्रकार की प्रकृतियां होती हैं निम्न प्रकृति एवं उच्च प्रकृति। निम्न प्रकृति में सुधा भावना एवं वासना इत्यादि आते हैं ये श्रेय का आश्रय नहीं हो सकते। यद्यपि निम्न प्रकृति की तृप्ति श्रेय का अंग नहीं है किंतु आरंभ बिंदु है।

श्रेय का अंग वे विषय हैं जिन्हें चिंतन में ही प्राप्त किया जा सकता है और यह विषय मनुष्य की उच्च प्रकृति से संबंधित होते हैं सत्यम ,शिवम , सुंदरम इसके अंतर्गत निहित होते हैं और उनके लाभ को ही आत्म लाभ कहा जा सकता है।

ग्रीन के अनुसार सर्वगत कल्याण सभी मनुष्यों का कल्याण है यह निरपेक्ष कल्याण है जो की सभी मनुष्यों के लिए हितकारी होता है। जिसे हम उच्चतर श्रेय कहते हैं वह सर्वगत कल्याण है। मनुष्यों का पारस्परिक कल्याण सामाजिक कल्याण है ।

सर्वगत कल्याण सामाजिक कल्याण है परंतु यह सामान्य कल्याण नहीं है सामान्य कल्याण अमूर्त एवं काल्पनिक होता है जबकि सर्वगत कल्याण मूर्त तथा वास्तविक होता है।

13.7.5 ब्रेडले का स्वकर्मवाद

ग्रीन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य एक निरपेक्ष सत् का अंग है निरपेक्ष सत् नित्य चैतन्य है और हर व्यक्ति इस निरपेक्ष सत् में अपना विशिष्ट स्थान रखता है ।हर व्यक्ति के स्थान के अनुरूप उसके विशेष कर्तव्य होते हैं और व्यक्ति का श्रेय इन्हीं कर्तव्यों के पालन में है । प्रत्येक व्यक्ति को निरपेक्ष सत को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए ।

ब्रेडले की एक प्रसिद्ध उक्ति है -'मेरा स्थान और उससे संबंधित कर्तव्य' । हर व्यक्ति अलग है और हर व्यक्ति की क्षमताएं भी अलग हैं इसलिए हर व्यक्ति हर प्रकार के कार्य नहीं कर सकता अपनी शक्ति, क्षमता या सामर्थ्य के अनुसार उसका समाज में एक नियत, निश्चित स्थान या भूमिका होती है और उससे संबंधित उसके कर्तव्य होते हैं और जिस प्रकार की उसकी भूमिका है जिह स्थल पर वह है उसके अनुरूप ही उसे अपनी शक्तियों का विकास

करना होता है और इसी में उसका कल्याण है और इसी से उसका समग्र विकास संभव है ।हर आदमी समाज में एक विशेष स्थान रखता है और उस विशेष स्थान से संबंधित उसके कार्य हैं इसके अनुरूप अपनी शक्तियों का विकास करना उसे उसके पूर्ण विकास के लक्ष्य की ओर ले जाता है।

13.8 समीक्षा-

पूर्णतावाद को आत्मसिद्धि या आत्मलाभ कहा जाता है । अब यदि आत्मसात है और हमारे भीतर पहले से ही विद्यमान है तो यह हमारा आदर्श कैसे हो सकता है जो सत है सदैव प्राप्त ही है उसे आदर्श या प्राप्तव्य कहने का क्या अर्थ है अतः यह कहना उचित नहीं है।

यहां इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आत्मा सबके अंदर है फिर भी सबको इसका बोध नहीं होता सभी इसके फल को नहीं जान पाते , मनुष्य में आत्मा है परंतु आत्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयास करना पड़ता है आत्मा को अनात्म से अलग किया जाता है।

पुनः क्या आत्मा को जानना आत्म लाभ कहा जा सकता है क्योंकि इसके लिए भावना और बुद्धि को सुधार की आवश्यकता होती है और जब वह समग्र रूप से आत्मा को प्राप्त करता है तो इसका तात्पर्य है कि वह भावना इच्छा तथा बुद्धि तीनों से आत्म लाभ करता है आत्म ज्ञान को एक बौद्धिक क्रिया माना जा सकता है। आत्मा लाभ या आत्म साक्षात्कार हेतु बौद्धिक क्रिया के बाद भी भावना तथा इच्छा की क्रियाओं की अपेक्षा रहती है।

आत्मपूर्णतावाद मानता है कि आत्म लाभ आत्म त्याग है। जीवन का लाभ करना जीवन का बलिदान है लेकिन इस प्रकार की युक्तियां विरोधाभासी प्रतीत होती हैं। यदि विराट कुर्ता वादी है इसके समाधान में कह सकते हैं कि इसमें कोई विरोधाभास इसलिए नहीं है क्योंकि आत्म लाभ में आत्म प्राप्ति का जो अर्थ है वही अर्थ आत्म बलिदान के लिए नहीं है अर्थात आत्म बलिदान में जो प्रयोग हुआ है बलिदान का वह लाक्षणिक है इसका तात्पर्य है की आत्म का नहीं बल्कि अनात्म का बलिदान करना है मनुष्य के निम्न प्रकृति का बलिदान करना है क्योंकि वही उसे आत्म लाभ से वंचित करती है इस प्रकार आत्म लाभ और आत्म बलिदान एक दूसरे के पूरक हैं।

पूर्णतावाद आत्मलाभ में समाज लाभ को भी स्वीकार करता है परंतु ऊपर से देखने पर आत्मलाभ समाज लाभ का विरोधी प्रतीत होता है और स्वार्थवाद प्रतीत होता है। परंतु यहां पूर्णतावादियों का का यह स्पष्टीकरण होगा की इस प्रकार का निष्कर्ष आत्मा के अनर्थ पर ही आधारित होता है। आत्मा को शरीर का गुण नहीं कहा जा सकता । आत्म स्वरूप में समाज का अस्तित्व समाहित रहता है मनुष्य के पारस्परिक संबंध में आत्मा अनिवार्य लक्षण होती है।

हेगल् ने आत्मा के अर्थ को दिखाने के लिए आत्मा के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है व्यक्तिगत आत्मा, सामाजिक आत्मा और निरपेक्ष आत्मा। और बताया है कि निरपेक्ष आत्मा वास्तविक आत्मा है व्यक्तिगत आत्मा और सामाजिक आत्मा आत्मा के पूर्ण अर्थ नहीं है और आत्म लाभ की जब बात होती है तो आत्मा का अर्थ यहां वैयक्तिक आत्मा नहीं इसका तात्पर्य है निरपेक्ष आत्मा। अतः आत्मालाभ स्वार्थवाद नहीं है। यहां व्यक्तिगत आत्मा की बात नहीं हो रही इसमें व्यक्तिगत आत्मा एवं सामाजिक आत्मा इन दोनों का लाभ प्राप्त होता है अर्थात आत्मा शरीर के बाहर भी है।

कुछ लोगों को आत्म पूर्णतावाद का आत्म लाभ अस्पष्ट प्रतीत होता है या समझ नहीं आता। यहां पर यह कहा जा सकता है कि जिन लोगों को आत्म ज्ञान या आत्मा पूर्णता की समझ है हम उनका अनुकरण कर सकते हैं क्योंकि सामान्य जन अनुकरण तथा नियम पालन की नैतिकता के अनुपालन में सहज रहते हैं। जिन लोगों को ज्ञान के द्वारा या ज्ञान के माध्यम से आत्मलाभ करने में कठिनाई होती है वे भावना, भक्ति अथवा कर्म से आत्म लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

13.9 सारांश-

पूर्णतावाद श्रेय, कर्तव्य के स्थल पर पूर्णता को महत्व देता है परंतु अगर हम ध्यान से देखें तो पूर्णता श्रेय का पर्याय प्रतीत होता है । पूर्णतावाद श्रेय का उचित तरीके से विवेचन नहीं कर पाता इसमें एक प्रकार से चक्रक दोष प्रतीत होता है जिसकेअनुसार -

श्रेय क्या है जो पूर्ण हो ।

और पूर्ण क्या है वह जो श्रेय हो।

पूर्णतावाद में झलक मिलती है कि यह सभी प्रकार के मूल्यों का लाभ है परंतु ध्यानपूर्वक देखने पर हम जान पाते हैं की पूर्णतावाद कुछ मूल्य का त्याग भी करता है क्योंकि बिना कुछ मूल्य का त्याग किये हम अपने अभीष्ट मूल्यों को प्राप्त नहीं कर पाते इस प्रकार पूर्णतावाद मूल्यों को प्राप्त करने का ठीक ठीक व्याख्या नहीं कर पाता।

इन कमियों के बावजूद पूर्णतावाद में हम नैतिकता की पराकाष्ठा देखते हैं साध्यपरक नैतिकता की जिस परंपरा का प्रारंभ सुखवाद से हुआ उसका अंत पूर्णतावाद में होता है हर व्यक्ति जब आदर्श की बात करता है तो वह कहीं ना कहीं पूर्णता वाद की तरफ बढ़ता है इस प्रकार पूर्णता वाद नीति शास्त्र की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत हो जाता है।

13.10 बोध प्रश्न

1. पूर्णता बात से आप क्या समझते हैं?
2. पूर्णता वाद के विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख करते हुए नीति शास्त्र में इनकी उपयोगिता समझाइए।

13.11 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

1.नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत- वेद प्रकाश वर्मा, एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ,नई दिल्ली।

2.नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धांत- डॉ डी आर जाटव, मलिक एंड कंपनी जयपुर ,दिल्ली।

3.नीति शास्त्र की रूपरेखा- अशोक कुमार वर्मा ,मोतीलाल बनारसी दास ,दिल्ली ।

4.नीति शास्त्र की रूपरेखा- डॉक्टर बद्रीनाथ सिंह,आशा प्रकाशन ,वाराणसी।

खण्ड–5 परिणाम निरपेक्षतावाद

इकाई–14 नैतिक निर्णय के मानदण्ड के रुप में अन्तः प्रज्ञावाद

इकाई 14 : नैतिक निर्णय के मानदण्ड के रूप

इकाई की रुपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 नैतिक निर्णय की परिभाषा
  14.2.1 नैतिक निर्णय का स्वरूप
  14.2.2 नैतिक निर्णय का विषय
  14.2.3 नैतिक निर्णय की विषेषताएं
14.3 नैतिक निर्णय के मानदण्ड के रूप में अन्तः प्रज्ञावाद
  14.3.1 अन्तः प्रज्ञावाद के प्रकार
  14.3.2 अदार्षनिक अन्तःप्रज्ञावाद – नैतिक इन्द्रियवाद
  14.3.3 सौन्दर्य इन्द्रियवाद
  14.3.4 दार्षनिक अन्तःप्रज्ञावाद
  14.3.5 कडवर्थ का मत
  14.3.6 क्लार्क का मत
  14.3.7 दार्शनिक अन्तः प्रज्ञावाद का मूल्यांकन
14.4 सारांश
14.5 शब्दावली
14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ
14.7 प्रश्नावली

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप

- नैतिक निर्णय के अर्थ तथा स्वरूप को भली भॉति समझ सकेगे।
- अन्तः प्रज्ञावाद को स्पष्ट करने के लिए दिये गये विभिन्न मतों को जान सकेंगे।
- दार्षनिक अन्तः प्रज्ञावाद तथा अदार्षनिक अन्तः प्रज्ञावाद में स्पष्ट विभेद कर सकेंगे।
- कडवर्थ, क्लार्क,हचिसन, शेक्ट्सबारी आदि दार्षनिकों के सिद्धान्तों का विष्लेषण कर सकेंगे।
- सौन्दर्य इन्द्रियवाद तथा नैतिक इन्द्रियवाद के विभिन्न बहुलओं का वर्णन कर सकेंगें
- नैतिक निर्णय के मानदण्ड के रूप में अन्तः प्रज्ञावाद के सिद्धान्त की औचित्यता को समझ सकेंगें

- अन्तः प्रज्ञावाद तथा नैतिक गुणों के मध्य सम्बन्ध को जान सकेंगे

14.1 प्रस्तावना

नैतिक निर्णय नीतिशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण भाग है। समाज में रहने वाले लोग एक दूसरे के बारे में प्रायः अपना मत व्यक्त करते रहते हैं। उनके कार्यो एवं चरित्र के आधार पर वे शुभ अषुभ,उचित–अनुचित तथा अच्छे–बुरे का निर्धारण करते हैं। उदाहरण के च्प में हम जानते हैं कि सत्य बोलना शुभ है, दुसरों की मदद करना अच्छा है, निन्दा करना अनुचित है, चोरी करना अषुभ रहे हिंसा करना बुरा है आदि। इसके अलावा हम महापुरूषों के बारे में भी सुनते हैंः महात्मा गॉधी अहिंसावादी ये, राजा हरिष्चन्द्र सत्यवादी थे, राम मर्यादापुरूषोत्तम थे, सुकरात न्यायप्रिय थे आदि–आदि। ऐसे सभी कथनों में हम, किसी के प्रति अपने निर्णय का प्रतिपादन करते हैं। इन्हें ही नैतिक निर्णय कहा जाता है। तथा इन निर्णयों को देने वाला निर्णय–कर्ता कहलाता है।

14.2 नैतिक निर्णय की परिभाषा

''नैतिक निर्णय वह मानसिक क्रिया या व्यापार है जो किसी मनुष्य के ऐच्छिक कर्मो को एक आदर्श या मापदण्ड के आधार पर सत् याय असत्, उचित या अनुचित, शुभ या अषुभ घोषित करता है'' नैतिक निर्णय का प्रारम्भ किसी व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले ऐच्छिक कर्म को देखकर होता है। फिर हमारे मन में ऐसी क्रिया होती है, जिससे हम उसके कार्य को किसी मापदण्ड के आधार उचित–अनुचित, शुभ–अषुभ कहते हैं, अर्थात उसके कार्यो का मूल्यांकन करते हैं। तत्पष्चात् भाषा के माध्यम से वाक्यों मे जो कुछ व्यक्त करते हैं, उसे नैतिक निर्णय की संज्ञा दी जाती है। नैतिक निर्णय के अन्तर्गत कई बातें महत्वपूर्ण होती है।

नैतिक निर्णय के प्रतिपादन के लिए एक विवेकषील व्यक्ति का होना आवश्यक है। जो किसी के ऐच्छिक कर्मो का मूल्यांकन किसी मानक के आधार पर करे। नैतिक निर्णय देने वाले व्यक्ति को निर्णयकर्त्ता कहते हैं। नैतिक निर्णय का विषय सदैव ही ऐच्छिक कर्म होता है। यदि व्यक्ति वाह्य–दबाव में कोई कर्म करता है तो उसका वह कर्म नैतिक निर्णय के मूल्यांकन के अन्तर्गत नहीं आयेगा। निर्णयकर्त्ता अलग–अलग मापदण्डों के आधार पर अपना निर्णय देता है। बिना मापदण्ड के आधार पर नैतिक निर्णय सम्भव ही नहीं है। अतः नैतिक निर्णय के लिए मापदण्ड का होना आवश्यक है। मापदण्ड के आधार पर निर्णयकर्त्ता को मूल्यांकन की क्रिया भी अपनानी पड़ती है। इसके अलावा नैतिक तथा अनैतिक कर्म की पहचान के लिए विवेकषील व्यक्ति में नैतिक शक्ति का होना भी आवश्यक माना जाता है। इसके अभाव में नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार नैतिक निर्णय के प्रतिपादन में निर्णयकर्त्ता, नैतिक निर्णय का विषय, आदर्श, मूल्यांकन की क्रिया तथा नैतिक शक्ति जैसे कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

14.2.1 नैतिक निर्णय का स्वरूप

नैतिक निर्णय के स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है कि अन्य प्रकार के निर्णयों से इसके अन्तर को स्पष्ट कर दिया जाए।

नैतिक निर्णय एक प्रकार का आलोचनात्मक याय मूल्यात्मक निर्णय है। यह वर्णनात्मक या तथ्यात्मक निर्णय से भिन्न है। वर्णनात्मक निर्णय में किसी तथ्य का वर्णन होता है। जैसे यह दीवार है, सूर्य पष्चिम में अस्त होता है, सोडियम और क्लोरीन के मिलने से नमक बनता है। इन वाक्यों में किसी प्रकार का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। वहीं नैतिक निर्णय में किसी 'तथ्य' या 'घटना' का मूल्यांकन किसी मानक के आधार पर करते हैं। वर्णनात्मक निर्णय का सम्बन्ध 'वस्तु क्या है' से है जबकि मूल्यांकन निर्णय में 'वस्तु क्या होनी चाहिए' पर बल दिया जाता है।

नैतिक निर्णय तथा तार्किक निर्णय भीय एक दूसरे से भिन्न हैं। नैतिक निर्णय तथा तार्किक निर्णय दोनों में ही वाक्य होते है, परन्तु नैतिक निर्णय के वाक्य में वाक्य ही नहीं होते बल्कि किसी के ऊपर निर्णय भी होते है। तार्किक निर्णय में हम वाक्य की आलोचना सत्य या असत्य की दृष्टि से करते हैं जैसे– चार और चार के योग को 9 कहना गलत है। सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है, यह वाक्य असत्य है। तार्किक निर्णय में किसी व्यक्ति के आचरण या कार्य का मूल्यांकन नहीं किया जाता है जबकि नैतिक निर्णय में यह क्रिया सम्पादित की जाती है।

इसी प्रकार नैतिक निर्णय तथा कानूनी निर्णय दोनों में व्यक्ति के चरित्र का मूल्यांकन किया जाता है, लेकिन नैतिक निर्णय में मूल्यांकन का आधार नैतिक आदर्श होता है जबकि कानूनी निर्णय में मूल्यांकन का आधार राज्य की विधि या संविधान होता है। नैतिक निर्णय का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है जैसे कोई आचरण कानून की दृष्टि में अनुचित न होते हुए भी नैतिक दृष्टि से गलत हो सकता है। दूसरे के प्रति ईर्ष्या रखना, कानून में गलत नहीं है तथापि नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

इसी क्रम में, सौन्दर्यषास्त्रीय निर्णय आता है। इसके अन्तर्गत सुन्दरता और असुन्दरता की दृष्टि से हम किसी व्यक्ति या वस्तु की आलोचना करते है। जैसे यह चित्र अत्यन्त ही सुन्दर है, रीता का नृत्य सुन्दर है, आदि। इस निर्णय का आधार सुन्दर तथा असुन्दर होता है वहीं नैतिक निर्णय में हम उचित–अनुचित, शुभ– अषुभ आदि का विचार करते है। हालांकि सौन्दर्यषास्त्रीय तथा तार्किक निर्णय दोनो ही आलोचनात्मक निर्णय होते हैं, लेकिन उनमें नैतिक निर्णय में पायी जाने वाली नैतिक भावना तथा नैतिक बाध्यता का अभाव पाया जाता है।

14.2.2नैतिक निर्णय का विषय

नैतिक निर्णय का विषय मनुष्य द्वारा किये जाने वाले ऐच्छिक कर्म होते हैं। इस कर्म के दो पक्ष होते हैं। पहला कर्म को करने के लिए मनुष्य के मन मे उठा, संकल्प/भाव/ प्रयोजन तथा दूसरा कर्म का परिणाम। अब प्रष्न उठता है कि किस आधार पर मनुष्य द्वारा किया जाने वाला कर्म उचित–अनुचित या शुभ–अषुभ होता है। क्या उसका आधार, कर्म के लिए मन में उठने वाला प्रयोजन/ संकल्प है या कर्म के परिणाम के आधार पर ही कर्म की औचित्यता निर्धारित की जानी चाहिए? यह प्रष्न विवादास्पद है तथा विद्वानों में इस प्रष्न को लेकर मतभेद है। सुखवादी विचारक मानते हैं कि मनुष्य के प्रत्येक कर्म सुख प्राप्ति तथा दुःख निव्त्ति की इच्छा से प्रेरित होने चाहिए। यदि मनुष्य द्वारा किया गया कर्म सुख उत्पन्न करता है तो यह उचित है और यदि कर्म का परिणाम दृःख उत्पन्न करता है तो यह अनुचित है। कर्म के परिणाम को सुखवादी नैतिक निर्णय मानते हैं। दूसरी तरफ के प्रयोजन तथा उद्देश्य को नैतिक निर्णय का विषय स्वीकार किया है।

14.2.3 नैतिक निर्णय की विषेषताएं

नैतिक निर्णय के अन्तर्गत कई विषेषताएं होती है। नैतिक निर्णय हमारे आचरण को अपने मूल्यांकन द्वारा नियमित करता है। इसलिए यह नियामक होता है। इसका सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक जीवन से होता है। इसका अस्तित्व केवल सिद्धान्तों में नहीं है। यह किसी आदर्श के आधार पर किसी व्यक्ति के कर्म का मूल्यांकन करके निर्णय देता है। इसलिए यह अनुमानपरक हेाता है। अनुमान की प्रक्रिया में एक सामान्य नियम प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार नैतिक निर्णय आलोचनात्मक होता है और किसी मापदण्ड या आदर्श की ओर भी संकेत करता है। जब अपनी आत्मगत तथा वस्तुगत दोनों होता है। जब अपनी भावनाओं तथा मनोवैज्ञानिक भावों को प्रकट करके निर्णय दिया जाता है तो वह आत्मगत होता है। वहीं जब सर्वगत या सर्वजीन आदर्श तथा मापदण्ड के आधार पर निर्णय देते हैं तो वह निर्णय वस्तुगत होता है। नैतिक निर्णय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषेषता उसकी नैतिक बाध्यता होती है। यदि हमें भूख से पीड़ित कोई व्यक्ति दिखाई पड़ता है तो हमें बाध्य होना पड़ता है कि उसे भोजन लाकर दिया जाना चाहिए। इसके अलावा विभिन्न विचारकों ने नैतिक निर्णय को संवेगवाद तथा आदेषवाद से भी जोड़कर विष्लेषण किया है।

14.3 नैतिक निर्णय के मानदण्ड के रूप में अन्तः प्रज्ञावाद

अन्तः प्रज्ञावाद वह सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत माना जाता है कि प्रत्येक सामान्य व्यक्ति में ज्ञानषक्ति ' अन्तः प्रज्ञा' होती है, जो व्यक्ति को कर्मो तथा नियमों के नैतिक औचित्य तथा अनौचित्य का एक ऐसा साक्षात् ज्ञान प्रदान करती है, जिसके लिए किसी प्रकार के तर्क और अनुभव की आवश्यकता नहीं होती है। अन्तः प्रज्ञावाद को एक वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त माना जाता है क्योंकि इसके अनुसार नैतिक नियमों एवं कर्मो का औचित्य – अनौचित्य व्यक्ति की मानसिक अवस्था पर निर्भर नहीं करता है।

14.3.1 अन्तः प्रज्ञावाद के प्रकार

दर्शनषास्त्र के विभिन्न विचारकों ने अन्तः प्रज्ञावाद का समर्थन किया है। कडवर्थ, क्लार्क, शेफ्ट्सबरी, हचिसन, बटलर, प्रिचर्ड आदि के नाम विषेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी दार्षनिकों ने अन्तः प्रज्ञा को एक आन्तरिक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, जिससे नैतिक गुणों का ज्ञान होता है। अन्तः करण के स्वरूप को लेकर इन दार्षनिकों के दो वर्ग है, अदार्षनिकवाद अन्तः प्रज्ञावाद तथा दार्षनिक अन्तः प्रज्ञावाद। अदार्षनिक मत के समर्थक अन्तः प्रज्ञा को एक इन्द्रिय की भॉति मानते है, जिसमें बिना किसी तर्क के नैतिक गुणों का सहज ज्ञान हो जाता है। वहीं दूसरी और अन्तः प्रज्ञा के स्वरूप को बौद्धिक मानने वाले मत पोषक दार्षनिक अन्तः प्रज्ञावाद के समर्थक कहलाते है। जिसमें नैतिक गुणों के ज्ञान में अनुमान और तर्क की भूमिका को स्वीकार किया जाता है।

14.3.2 अदार्षनिकवाद अन्तः प्रज्ञावादः–

इस सिद्धान्त में माना जाता है कि अन्तः प्रज्ञा द्वारा कर्मो के औचित्य एवं अनौचित्य का ज्ञान सहज ही बिना तर्क–वितर्क के हो जाता है, इसके दो प्रकार है

14.3.3 नैतिक इन्द्रिवादः–

नैतिक इन्द्रियवाद के अनुसार मनुष्य में अन्तः प्रज्ञा एक आन्तरिक इन्द्रिय के समान है, जिसके द्वारा नैतिक गुणों का अर्थात कर्मो के औचित्य का आन्तरिक रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार पॉच ज्ञानेन्द्रियों चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक्, एवं श्रोत के माध्यम से क्रमषः हमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्ष एवं शब्द का ज्ञान होता है, उसी प्रकार नैतिक गुणों का ज्ञान साक्षात् रूप में हमें अन्तःकरण द्वारा होता है। जिस प्रकार भौतिक वस्तुओं में रूप, रंग, आकार आदि गुण समाहित रहते हैं। उसी प्रकार, कर्मो में भी नैतिक गुण अन्तर्निहित रहते हैं। जब हमारी इन्द्रियों का सन्निकर्ष भौतिक वस्तुओं से होता हे तो हमारे मन में सम्वेदना उत्पन्न होती है तथा हमें वस्तुओं का ज्ञान होता है। उसी प्रकार, नैतिक इन्द्रिय अन्तःकरण/अन्तः प्रज्ञा का सम्पर्क जब कर्मो के साथ होता है तो मन में नैतिक भावना उत्पन्न होती है। यह भावना यदि भावना है तो कर्म उचित होगा। इसके विपरीत यदि भावना दुःखात्मक है तो कर्म अनुचित होगा। नैतिक निर्णय के उत्पन्न होने के लिए आवश्यक है कि पहले नैतिक भावना उत्पन्न हो। नैतिक भावनाएं ही नैतिक निर्णय के आधार का कार्य करती है। इस मत के सम्पर्क मार्टिन्यू, शेफ्ट्सबरी, हचिसन आदि है।

नैतिक इन्द्रियवाद के अनुसार उचित–अनुचित का ज्ञान नैतिक आन्तरिक इन्द्रिय अन्तः प्रज्ञा द्वारा स्वतः होता है, परन्तु शरीर–विज्ञान और मनोविज्ञान के अनुसार इस प्रकार की नैतिक इन्द्रिय का मानव शरीर में अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए नैतिक इन्द्रिय की सत्ता अप्रामाणिक व संदिग्ध है। अन्तः प्रज्ञा द्वारा किया गया निर्णय आत्मगत है या वस्तुगत है, इस पर भी पर्याप्त मतभेद है। अन्तः प्रज्ञा को एक इन्द्रिय मानना दोषप्रद है। क्योंकि नैतिक गुणों का सम्बन्ध इन्द्रियों से नही होता है। आँखे रूप को देख सकती हैं, कान शब्द सुन सकते हैं, परन्तु रूप अच्छा है या खराब, शब्द मधुर है या कटु, इसका निर्णय आँख, कान के अधीन नहीं है। बल्कि इसका सम्बन्ध तो विवेक से है। विवेकपूर्ण अन्तःकरण को यदि माना जाए तो इसका सम्बन्ध इन्द्रिय से नहीं हो सकता।

इस मत में सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे गलत नैतिक निर्णय को अनुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को अन्यायपूर्ण कर्म उचित लगता है और उसकी नैतिक इन्द्रिय उसका समर्थन करती है तो उसके निर्णय को अनुचित बताने का कोई सन्तोषजनक तर्क नहीं दिया जा सकता है। इस मत के अन्तर्गत नैतिक गुण को वाह्य गुण के समान मान लिया गया है, लेकिन दोनों में भेद है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्ष, शब्द, भौतिक गुण हैं, जबकि नैतिक गुण सूक्ष्म तथा उच्चतर होते हैं। रैषअल इस सिद्धान्त पर आपत्ति करते है। नैतिक निर्णय सिर्फ भावना पर आधारित नहीं होती है। नैतिक भावना, ऐन्द्रिय भावना से श्रेष्ठ होती है इसलिए इसमें भावना से श्रेष्ठ निर्णायक तत्व उपस्थित रहता है। यह निर्णायक तत्व बुद्धि है।

इसी क्रम में नैतिक इन्द्रिय सामाजिक वातावरण से प्राप्त अन्तष्चेतना है जिसमें सामाजिक, पारिवारिक परम्परा के तत्व मौजूद होते है। चूंकि यह अन्तष्चेतना सामाजिक नियतों के साथ परिवर्तनषील होती है। इसलिए इस पर आधारित निर्णय को तर्क संगत नहीं कहा जा सकता है।

14.3.4 सौन्दर्य इन्द्रियवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य इन्द्रिय ही नैतिक इन्द्रिय है और इसी के द्वारा नैतिक गुण प्राप्त होते है। सौन्दर्य इन्द्रिय द्वारा ही कार्य की औचित्यता तथा अनौचित्यता का निर्धारण किया जाता है। जो सुन्दर है उसे उचित कहा जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य इन्द्रिय से हमें नैतिक गुणों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस मत के पोषक शेफ्ट्सबरी, हचिसन, रस्किन आदि है।

सौन्दर्य इन्द्रियवाद दो प्रकार का होता है– व्यक्तिवादी तथा समाजवादी। व्यक्तिवादी सौन्दर्य इन्द्रियवाद के मतानुसार नैतिक गुण का आधार व्यक्ति का निजी अनुभव है। व्यक्ति अपने रसेन्द्रिय से सौन्दर्य को ग्रहण करता है। अतः किसी कार्य के उचित–अनुचित स्वरूप को भी वह अपने रसेन्द्रिय के आधार पर स्वीकार करता है। उसके विपरीत शेफ्ट्सबरी, हचिसन समाजवादी इन्द्रियवाद को स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार सभी व्यक्तियों का हित या सामाजिक कल्याण ही कार्य के उचित या अनुचित होने का मापदण्ड हो सकता है। जिस कार्य से अधिकतम लोगों का कल्याण हो, वही कार्य सुन्दर है, उचित है। एक प्रकार से यह सिद्धान्त अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का समर्थन करता है।

नैतिकता की अनिवार्यता शर्त बाध्यता होती है। यदि सौन्दर्य को हम कर्मो के उचित–अनुचित होने का नैतिक मापदण्ड मानते हैं, तो इसमे नैतिक बाध्यता नहीं होती है। इसलिए कहा गया है कि सौन्दर्य हमें मुग्ध कर सकता है, परन्तु आदेष नहीं दे सकता। नैतिक कर्म करने की बाध्यता अन्तःकरण से प्रकट होती है। गलत कार्य करने पर हमें पष्चाताप होता है। लेकिन सौन्दर्य इन्द्रिय द्वारा केवल सुन्दर तथा असुन्दर का ही ज्ञान होता है।

सौन्दर्य भावना को उत्तेजित करने वाले तत्व सामंजस्य, क्रमिकता, अनुपात नैतिक भावना को उत्तेजित नहीं कर पाते है। इस प्रकार सौन्दर्य और शुभ का समानार्थी नहीं कहा जा सकता है।

14.3.5 दार्शनिक अन्तःप्रज्ञावाद

इस मत के समर्थक अन्तःकरण/अन्तः प्रज्ञा के स्वरूप को बौद्धिक मानते हैं। इस बुद्धिमूलक अन्तःकरण के द्वारा हमें नैतिक नियमों का सहज बोध होता है। इन नैतिक नियमों को जब हम विषेष कर्म पर लागू करते हैं तो हमें कर्म के उचित या अनुचित स्वरुप का पता चलता है। दार्षनिक अन्तःप्रज्ञावाद के मत में अन्तः प्रज्ञा को किसी कर्म को देखते ही उसके उचित– अनुचित स्वरुप का सहज ज्ञान नहीं होता बल्कि उसे केवल सामान्य नैतिक नियमों का सहजता से ज्ञान हो जाता है। और जब अन्तः प्रज्ञा इन नियमों को किसी विषेष कर्म पर लागू करती है तो उसकी औचित्यता– अनौचित्यता का ज्ञान होता है। अतः दार्षनिक अन्तः प्रज्ञावाद के अनुसार नैतिक नियम स्वतः सिद्ध, निरपेक्ष, श्वाष्वत तथा वस्तुनिष्ठ होते है और इनका ज्ञान सहज तथा प्रत्यक्ष रुप में बौद्धिक अन्तः प्रज्ञा से प्राप्त होता है।

14.3.6 कडवर्थ का मत

कडवर्थ के अनुसार नैतिक निर्णय स्वतः सिद्ध, श्वाष्वत तथा सार्वभौमिक एवं अनिवार्य है। इनका ज्ञान तथा सार्वभौमिक एवं अनिवार्य है। इनका ज्ञान मानव–बुद्धि को सहज हो जाता है। उनके मत में

किसी का कार्य का उचित या अनुचित होना कार्य में निहित है। इसमें देष–काल या मनुष्य की इच्छा के माध्यम से कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसे कडवर्थ नैतिक नियमों की अपरिवर्तनीय व्यवस्था कहते है। उचित, शुभ, न्याय आदि मानव के अन्तःकरण में पहले से ही विद्यमान है। जब कोई कर्म हमारे सामने प्रस्तुत होता है तो हमारा अन्तःकरण अपने नैतिक नियमों के अनुसार उचित–अनुचित तथा शुभ–अषुभ का निर्णय दे देता है। इस बौद्धिक निर्णय को ही नैतिक निर्णय कहते है। कडवर्थ ने नैतिक निर्णय को गणित के प्रत्ययों के समान ही सार्वभौम, निरपेक्ष तथा अपरिवर्तनषील माना है।

14.3.7 क्लार्क का मत

क्लार्क के अनुसार नैतिक नियमों गणितीय नियमों की ही भांति स्वतः सिद्ध, अपरिवर्तनषील, अनिवार्य निरपेक्ष तथा वस्तुनिष्ठ है। अनैतिक कर्म जैसे झूठ बोलना, हत्या करना, चोरी करना, द्वेष रखना उसी प्रकार अनुचित है, जिस प्रकार दो और दो के योग को सात कहना अनुचित है। क्लार्क के मत में प्राकृतिक उपयुक्तता के द्वारा भी नैतिक नियम को व्याख्यायित किया जा सकता है। संसार में व्यक्तियों तथा वस्तुओं के मध्य कुछ प्राकृतिक सम्बन्ध पाये जाते है। जो अपरिवर्तनषील होते है। नैतिक नियम इन्हीं प्राकृतिक तथा अपरिवर्तनषील सम्बन्धों पर आधारित होते है। जो कर्म इन संबंधों के लिए उपयुक्त पाये जाते है वह शुभ होते है तो अनुपयुक्त पाये जात है वह अषुभ होते है।

इसी तरह क्लार्क विषिष्ट कर्त्तव्यों के नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। जिसमें प्रथम ईष्वर के प्रति निष्ठा है जिसमें मनुष्य शुभ आचरण करता है क्योंकि उसे विष्वास है कि श्वाष्वत नियम का निर्माण करता है। दूसरा नियम सामानता का है जिसके अनुसार दूसरे के प्रति हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा हम स्वयं समान परिस्थिति में उनसे आषा करते हैं। तीसरा नियम परोपकार का है जिसके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को सामूहिक कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए। चौथे सिद्धान्त में व्यक्ति के शरीर और मन को स्वस्थ रखने की बात कही गयी है जिससे वह ईष्वर और समाज की सेवा के योग्य हो सके। इसे ही आत्मरक्षा का सिद्धान्त कहते है।

14.4 दार्शनिक अन्तः प्रज्ञावाद का मूल्यांकन

1. इस मत के द्वारा नैतिक निर्णय की वस्तुनिष्ठता, निरपेक्षता तथा सार्वभौमिकता स्थापित होती है। उचित अनुचित का मानदण्ड इसमें श्वाष्वत सत्य को माना गया है, जो महत्वपूर्ण है।
2. यह सिद्धान्त नैतिक निर्णय में बुद्धि के महत्व को तो स्वीकार करता है, लेकिन भावना की भूमिका को नकार देता है। नैतिक नियम मनुष्य के लिए होते हैं। मनुष्य में बुद्धि, भावना तथा कर्म तीनों पाये जाते है। अतः नैतिक निर्णय को भावनाषून्य मानना अनुपयुक्त है।
3. दार्शनिक अन्तःप्रज्ञावाद द्वारा बनाये गये सामान्य नैतिक नियम विषेष परिस्थितियों में मान्य नहीं है। उदाहरणार्थ युद्ध का सैनिक अपने शत्रु द्वारा कैदी बना लिए जाने पर पूछताछ में यदि असत्य कथन करता है तो इस सिद्धान्त के अनुसार उसके कर्म को अनुचित कहना पड़ेगा जो व्यवहारतः गलत निर्णय होगा।
4. इस मत के समर्थक नैतिक नियमों में परिणाम को महत्व नहीं देते है। नैतिक निर्णय देते समय हमें कर्म के प्रयोजन तथा उसके परिणाम दोनों ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

14.5 शब्दावली

अन्तःप्रज्ञा	–	मनुष्य के अन्दर उपस्थित विवेकी शक्ति
नैतिक निर्णय	–	नैतिक नियम के आधार पर दिया जाने वाला निर्णय
वस्तुगत निर्णय	–	जो निर्णय स्वयं पर निर्भर न होकर वस्तुओं के स्वरुप पर निर्भर हो
नैतिक इन्द्रिय	–	ज्ञानेन्द्रियों की भांति मनुष्य में स्थित आन्तरिक इन्द्रिय
मूल्यात्मक निर्णय	–	किसी मापदण्ड के आधार पर लिया गया निर्णय
वर्णनात्मक निर्णय	–	जिस निर्णय में व्यक्ति या वस्तु का सिर्फ वर्णन किया गया हो
ऐच्छिक	–	मनुष्य द्वारा अपनी इच्छाा से किये जाने वाले कर्म

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

वी0 पी0 वर्मा	:	नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त
हृदय नारायण मिश्र	:	नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त
प्रो0 संगम लाल पाण्डेय	:	नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण

14.7 प्रष्नावली

14.8 वस्तुनिष्ठ प्रष्न :–

प्रष्न 1 : नैतिक इन्द्रियवाद के समर्थक कौन है–

(क) शेफ्ट्सबरी (ख) कडवर्थ

(ग) बटलर (घ) क्लार्क

प्रश्न 2 : कडवर्थ ने कौन से मत का प्रतिपादन किया–

(क) बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद (ख) नैतिक इन्द्रियवाद

(ग) सौन्दर्य इन्द्रियवाद (घ) इनमें से कोई नहीं

लघुउत्तरीय प्रष्न :

प्रष्न 1 : नैतिक निर्णय क्या है?

प्रष्न 2 : नैतिक निर्णय के स्वरूप का वर्णन करें।

प्रष्न 3 : नैतिक निर्णय के विषय पर टिप्पणी करें।

प्रष्न 4 : नैतिक इन्द्रियवाद से क्या तात्पर्य है?

प्रष्न 5 : नैतिक निर्णय की चार विषेषताएं बताएं।

दीर्घ उत्तरीय प्रष्न

प्रष्न 1 : अदार्षनिक अन्तः प्रज्ञावाद तथा दार्षनिक अन्तःप्रज्ञावाद में क्या अन्तर है? वर्णन करें।

प्रष्न 2 : नैतिक इन्द्रियवाद का समीक्षात्मक मूल्यांकन करें।

प्रष्न 3 : कडवर्थ एवं क्लार्क के मतो की व्याख्या करे।

प्रष्न 4 : बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद की कमियों का वर्णन करें।

प्रष्न 5 : नैतिक निर्णय के सम्बन्ध सौन्दर्य इन्द्रियवाद तथा नैतिक इन्द्रियवाद का तुलनात्मक विष्लेषण करें।

इकाई–15 बटलर के अन्तः प्रज्ञावाद का सिद्धान्त

इकाई 15 : बटलर के अन्तः प्रज्ञावाद का सिद्धान्त

इकाई की रुपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 अन्तः प्रज्ञावाद : एक परिचय
15.2.1 हाब्स के चिन्तन का खण्डन
15.3 आदर्श मानव स्वभाव
15.3.1 मानवीय स्वभाव के चार प्रमुख तत्व
15.3.2 विशिष्ट वासनाएं
15.3.3 विशिष्ट वासनाएं व उनका महत्व
15.3.4 विशिष्ट वासनाएं तथा आत्म प्रेम व परोपकार से उनका अन्तर
15.3.5 आत्म प्रेम
15.3.6 परोपकार
15.3.7 अन्तर्विवेक
15.4 सारांश
15.5 शब्दावली
15.6 सन्दर्भ ग्रन्थ
15.7 प्रश्नावली

.....000.....

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- अन्तः प्रज्ञावाद की उत्पत्ति के कारणों तथा उसकी प्रकृति के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- आदर्श मानवीय स्वभाव तत्वों का विष्लेषण कर सकेंगे।
- आत्मप्रेम, परोपकार तथा विषिष्ट वासनाओं के अन्तर का वर्णन कर सकेंगे।
- मानवीय स्वभाव एंव चरित्र का मूल्यांकन बटलर द्वारा वर्णित चार तत्वों के माध्यम से कर सकेंगे।
- अन्तर्विवेक के ज्ञानात्मक तथा अधिकारात्मक पक्षों के कार्यो को भली–भॉति समझ सकेगे।

15.1 प्रस्तावना

अन्तः प्रज्ञावाद की चर्चा सत्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गई थी। कडवर्थ, क्लार्क, बोलस्टन, रीड प्राइस, शेफ्ट्सबरी, मार्टिन्यू, बटलर आदि दार्षनिक ने इसकी व्याख्या अपने–अपने सिद्धान्तों में की। अन्तः प्रज्ञावाद के अनुसार मनुष्य को एक विषेष मानसिक शक्ति द्वारा कर्मो के औचित्य तथा अनौचित्य का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है जो अनुभव व तर्क से निरपेक्ष होती है। हमें अन्तः प्रज्ञा द्वारा य बात पता चलती है कि कौन सा कर्म नैतिक दृष्टि से उचित है या अनुचित। उदाहरणार्थ इसी के द्वारा हम यह जानते है कि

सत्य बोलना तथा दूसरों की मदद करना उचित तथा हत्या करना एवं चोरी करना अनुचित है। अन्तः प्रज्ञावाद में अन्तः प्रज्ञा की प्रकृति को वस्तु माना जाता है। अर्थात नैतिक नियम तथ कर्मो की औचित्यता की व्याख्या की कोई भूमिका नहीं होती है। मनुष्य की भावनाओं में परिवर्तन होने से अन्तः प्रज्ञा का निर्णय अपरिवर्तित ही रहता है। उपरोक्त व्याख्या से सभी अन्तः प्रज्ञावादी सहमत है। परन्तु अन्तः प्रज्ञावाद के साक्षात् ज्ञान की की सीमा के सम्बन्ध में दार्षनिकों में मतभेद हैं।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार उसके द्वारा हमें केवल साध्य शुभ का ज्ञान होता है। कुछ अन्तः प्रज्ञावादी मानते हैं कि अन्तः प्रज्ञा द्वारा हम केवल कुछ नियमों के उचित–अनुचित का निर्धारण कर सकते हैं जबकि अन्य दार्षनिकों का मत है कि अन्तः प्रज्ञा द्वारा हमें प्रत्येक विषेष कर्म के लिए मानदण्ड प्राप्त होते हैं। ज्ञान की सीमा के साथ–साथ अन्तः प्रज्ञा के स्वरूप को लेकर भी इनमें पर्याप्त मतभेद है।
कडवर्थ, क्लार्क आदि दार्षनिक अन्तः प्रज्ञा को पूर्ण बौद्धिक कहते हैं जबकि शेफ्ट्सबरी, हचिसन आदि विचारक इसकी प्रकृति को भावनात्मक बताते है क्योंकि ये अन्तः प्रज्ञा को एक नैतिक आन्तरिक इन्द्रिय के रूप में स्वीकार करते हैं।

15.2 अन्तः प्रज्ञावाद : एक परिचय

नैतिक निर्णय के औचित्य–अनौचित्य के निर्धारण के लिए दर्शन जगत् में बटलर के पूर्व दो अवधारणाये आयीं। बौद्धिक अन्तः प्रज्ञावादियों न मानव समाज के अन्तर्गत भावनाओं को महत्व न देते हुए बुद्धि पक्ष को अधिक महत्वपूर्ण माना। वहीं दूसरी ओर नैतिक संवित्तिवादी या नैतिक इन्द्रियवादी दार्षनिकों ने अन्तः प्रज्ञा के सम्बन्ध भावना से जोड़ा। मानवीय स्वभाव के केवल एक पक्ष का विष्लेषण करने के कारण यह दोनों सिद्धान्त एकांगी हो गये। अन्तः प्रज्ञावाद का संतुलित तथा व्यापक सिद्धान्त प्रस्तुत करने का श्रेय दार्षनिक व ईसाई पादरी जोसफ बटलर को है। बटलर ने अपने अन्तर्विवेक सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी दो पुस्तकों 'सनमन्स ऑन ह्यूमन नेचर' एवं 'डिसटेंषन ऑन द नेचर ऑफ वर्च्यू' में किया है।

15.2.1 हाब्स के चिन्तन का खण्डन

बटलर ने हॉब्स के स्वार्थवाद का खण्डन कर इसकी कटु आलोचना की। जिसके अन्तर्गत यह माना जाता था कि मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है और उसके कर्म स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं। इस सिद्धान्त के कारण मनुष्य के निःस्वार्थ कार्य करने की सम्भावना को अस्वीकार कर दिया गया था। बटलर ने स्वार्थवाद के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक सुखवाद का भी खण्डन किया उसके अनुसार मनुष्य द्वारा किया जाने वाले प्रत्येक कर्म सुख–प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित नहीं होता है। हम वास्तव में प्रत्यक्ष रुप से सुख की इच्छा न करके वस्तु की इच्छा करते और जब यह इच्छा पूरी हो जाती है तब हमें सुख मिलता है। बटलर के समय में धर्म की स्थिति कमजोर हो गयी थी तथा ईसाई धर्म की साख गिर रही थी। बटलर के सिद्धान्त द्वारा धर्म और नैतिकता को वस्तुनिष्ठ प्रदान की गयी।

15.3 आदर्श मानव स्वभाव

बटलर का नैतिक सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मानव–स्वभाव की रचना अनेक तत्वों से हुई है और मनुष्य के आदर्श जीवन के लिए ये सभी तत्व आवश्यक एवं वांछनीय है। बटलर द्वारा आदर्श स्वभाव की जो कल्पना की गयी है। उसमें यह माना गया है कि सभी तत्वों का अपना विषिष्ट स्थान है और कुछ तत्व दूसरे तत्व की अधीनता स्वीकार करके भी कार्य करते हैं। इस आदर्श मानव स्वभाव की व्याख्या वह दो उदाहरणों के माध्यम से करता है, घड़ी और ब्रिटिष संविधान। घड़ी के स्वरुप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके विभिन्न भागों सुई, चक्का, कमानी आदि की जानकारी रखे तथा यह भी जाने की इनका आपस में क्या सम्बन्ध है। एक आदर्श घड़ी के लिए आवश्यकय बात है कि वह उचित समय बताए। इसके लिए हमें उसके अंगो/घटकों तथा उनके मध्य संबंधों की जानकारी आवश्यक

है। इसी प्रकार ब्रिटिश संविधान के अन्दर राजा, संसद, न्यायपालिका तथा राजा की जो व्यवस्था की गयी है उसकी तुलना बटलर मानवीय स्वभाव के तत्वों से करते है। ब्रिटिष संविधान को जानने के लिए, जैसे उसके घटकों को जानना आवश्यक है, ठीक वैसे ही मानव स्वभाव के ज्ञान के लिए उसके तत्वों से परिचित होना आवश्यक है। जब मनुष्य अपनी आदर्श प्रकृति से हट जाता है तो उसमें विकृति आ जाती है। हालांकि मनुष्य के लिए आदर्श प्रकृति को प्राप्त करना यथार्थ रूप में संभव नहीं है, तथापि मानदण्ड के रुप में इसका प्रयोग किया जा सकता है।

15.3.1 मानवीय स्वभाव के चार प्रमुख तत्व

बटलर के अनुसार मानव स्वभाव के अनेक तत्व सावयविक (Organic whole) हैं। अर्थात वे तत्व इस प्रकार समायोजित एवं व्यवस्थित है कि एक दूसरे की अधीनता स्वीकार करते हुए वे अपना मनोवैज्ञानिक पक्ष का भी विवेचन किया है कि मनुष्य अपने अनुभव द्वारा किसी विषेष परिस्थिति में कौन सा कार्य करता है, उसका निर्णय कैसा होता है। इसी कारण बटलर को 'नैतिक मनोवैज्ञानिक' की भी संज्ञा दी जाती है। बटलर ने अनेक तत्वों की कार्य प्रणाली तथा पारस्परिक सम्बन्धों को बताते हुए इन्हें चार वर्गों में विभाजित किया है।

विषिष्ट वासनाएं (Particular Passion), आत्म प्रेम (Self-Love), परोपकार (Beneolence), अन्तः करण/ अन्तर्विवेक (Consuenes)

15.3.2 विशिष्ट वासनाएं/आवेग

बटलर के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में कुछ विषिष्ट प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण मनुष्य विषेष समय में कर्म करने के लिए प्रेरित होता है। इन विषिष्ट वासनाओं के अन्तर्गत भूख, प्यास, आत्म प्रषंसा, भय, क्रोध, सहानुभूति इत्यादि आती है। ये विषिष्ट वासना किसी विषेष प्रकार की वस्तु के प्रति होती है। उदाहरणार्थ– भूख लगने पर भोजन करने की प्रेरणा मिलती है, क्रोध में विरोधी को हानि पहुंचाने की इच्छा होती है, भय में व्यक्ति स्वयं को खतरे से बचाता है तथा करूणा के कारण मनुष्य दूसरों की सहायता करता है। बटलर के मतानुसार इन विषिष्ट आवेगों की संतुष्टि के साथ सुख प्राप्ति की इच्छा भी मिली हुई हैं, परन्तु इन प्रवृत्तियों (आवेगों) का साक्षात् उद्देश्य सुख की प्राप्ति नहीं है। जैसे मनुष्य प्यास लगने पर जल की तलाष कर उसे पीता है न कि सुख की इच्छा रखता है। इसका अर्थ है कि विषिष्ट आवेगों के जाग्रत होने पर व्यक्ति उनसे सम्बन्धित वस्तुओं की प्राप्ति करना चाहता है न कि सुख की प्राप्ति। इस प्रकार बटलर मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खण्डन करते है।

15.3.3 विशिष्ट वासनाएं व उनका महत्व

बटलर के अनुसार विषिष्ट वासनाओं के द्वारा ही व्यक्ति के नैतिक जीवन का निर्माण होता है। विषिष्ट वस्तुओं के प्रति होने वाली ये वासनाएं प्राकृतिक रुप से मनुष्य में विद्यमान है। यदि इन्हें नियमित, नियन्त्रित एवं व्यवस्थित स्वरुप प्रदान किया जाए तो मानव के नैतिक जीवन के लिए यह सहायक सिद्ध हो सकती हैं। विषिष्ट वासनाओं को दो वर्गो में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग उन विषिष्ट वासनाओं का है, जो कर्त्ता के जीवन पर पड़ता है जैसे– भूख, प्यास, शारीरिक क्षुधा इत्यादि। दूसरे वर्ग में वे विषिष्ट प्रवृत्तियां है जो कर्त्ता के अलावा दूसरों को भी प्रभावित करती हैं। जैसे क्रोध, दया, स्नेह। क्रोध द्वारा व्यक्ति दूसरे को कष्ट पहुंचाता है। दया के द्वारा दूसरे की मदद की जाती है। स्नेह के द्वारा प्रेम को प्रदर्षित किया जाता है। हालांकि दूसरे वर्ग की प्रवृत्तियों से मनुष्य स्वयं भी प्रभावित होता है, लेकिन इसका अधिक प्रभाव

दूसरे व्यक्ति पर ही पड़ता है। जैसे क्रोध प्रकट करने पर सामने वाला व्यक्ति दुःखी हो जाता है तथा क्रोधी व्यक्ति भी परेषान हो सकता है।

15.3.4 विशिष्ट वासनाएं तथा आत्म प्रेम व परोपकार से उनका अन्तर

बटलर द्वार व्याख्यायित विषिष्ट वासनाओं के प्रथम वर्ष एवं आत्म–प्रेम तथा द्वितीय वर्ग एवं परोपकार में समानता प्रतीत होता है। लेकिन इन्हें एक ही मानना ठीन नहीं होगा। बटलर ने इन्हें अलग–अलग बताया है। उसके मतानुसार विषिष्ट वासनाओं का उद्देश्य संकीर्ण तथा सीमित है। यह वासनाएं व्यक्ति को विषिष्ट कर्मो के लिए प्रेरित करती हैं जिनसे केवल क्षणिक इच्छाओं की ही पूर्ति होती है। जबकि आत्म–प्रेम का प्रयोजन व्यापक है जो मनुष्य को दूरगामी कल्याण की प्राप्ति कराता है।

इसी प्रकार विषिष्ट वासनाएं कभी–कभी आत्म प्रेम तथा परोपकार में बाधक भी सिद्ध हो सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति क्रोध, ईर्ष्या या दुर्भावना से प्रेरित होकर ऐसा कार्य कर सकता है जो उसके कल्याण के लिए घातक सिद्ध हो या प्रकारान्तर में उसे कष्ट पहुंचाये। पुनष्च व्यक्ति दया, सहानुभूति अहित भी कर सकता है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विषिष्ट वासनाएं आत्मप्रेम तथा परोपकार से भिन्न है।

15.3.5 आत्म प्रेम (Self Love)

मानवीय स्वभाव के तत्वों में आत्मप्रेम का महत्वपूर्ण स्थान है। बटलर इसे मात्र भावनात्मक न मानकर बौद्धिक कहते हैं उनके मत यह मनुष्य की विषिष्ट वासनाओं पर नियन्त्रण भी रखता है। आत्म प्रेम ही मनुष्य को ऐसे कर्म करने के लिए प्रेरित करता हो उसके क्षणिक सुख में सहायक होते हैं, बल्कि व्यक्ति का समग्र कल्याण करते हैं। यदि व्यक्ति आत्म प्रेम के निर्देषों की उपेक्षा करके विषिष्ट प्रवृत्तियों जैसे क्रोध, घृणा, वासना आदि के वषीभूत होकर कार्य करता है तो इससे मनुष्य को हानि पहुंचती है। उदाहरणार्थ क्रोध में आकर मार–पीट करना, लोभ में आकर चोरी करना आदि कार्यो से व्यक्ति अन्ततः कष्ट ही भोगता है। क्षणिक आवेगों पर नियन्त्रण अत्यन्त ही आवश्यक है। इसीलिए आत्मप्रेम द्वारा ही इन आवेगों का नियन्त्रण नियमन व व्यवस्थापन किया जाता है। आत्म प्रेम के द्वारा मनुष्य अपने उद्देश्यों के बारे में चिन्तन–मनन करता है तथा सुखों के औचित्य की भी जांच करता है। दूसरे शब्दों में इसे विवेकपूर्ण स्वार्थ का सिद्धान्त कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपना सुख तो खोजता है परन्तु अपनी बुद्धि से भली–भॉति विचार भी करता है और अन्त में विवेकपूर्ण निर्णय लेता है।

15.3 .6 परोपकार (Benevolence)

बटलर ने परोपकार की कोई निष्चित परिभाषा नहीं दी है मनुष्य के अन्दर दूसरों का भला करने की , जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसे ही परोपकार कहा जा सकता है। यह मनुष्य का प्राकृतिक तत्व है जो उसे अनेक कार्यो को करने के लिए प्रेरित करता है। परोपकार से प्रेरित होकर मनुष्य समाज के व्यापक हित के लिए कार्य करता है। आत्मप्रेम की तरह ही यह भी एक बौद्धिक सिद्धान्त है। आत्मप्रेम जहां विषिष्ट आवेगों का नियंन्त्रण व नियमन करता है वहीं परोपकार वैयक्तिक कल्याण की अपेक्षा समग्र मानव–समुदाय की प्रसन्नता की वृद्धि के लिए कार्य करता है। बटलर के अनुसार यदि किसी व्यक्ति में दया, स्नेह, मैत्री, सहानुभूति, प्रेम इत्यादि प्रवृत्तियां हैं तो उसमें परोपकार की प्रवृत्ति को भी मान लेना चाहिए। इस अर्थ में परोपकार विषिष्ट वासनाएं समानार्थी हो जाती हैं तथापि सी.डी. ब्राउ इसे युक्तिसंगत नहीं मानते है। उनके अनुसार विषिष्ट वासना के अन्तर्गत व्यक्ति बिना सोचे विचारे कार्य करता है, उसके परिणामों पर कोई चिंतन नहीं करता हैं जबकि परोपकार के समस्त मानव के हित को ध्यान में रखा जाता है। विषिष्ट वासना व्यक्ति विषेष के लिए होती है जबकि परोपकार के तत्व से सम्पूर्ण समाज लाभान्वित होता है। बटलर की

उपरोक्त आलोचना सही भी है क्योंकि वह स्वयं ही परोपकार तथा विषिष्ट वासना तथा आत्मप्रेम के सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता के साथ अपना मत रखते हैं, लेकिन परोपकार के सम्बन्ध में उनका विचार स्पष्ट नहीं हो पाता है लेकिन इतना तो अवष्य ही पता लगता है कि आत्म प्रेम तथा परोपकार दोनों ही बौद्धिक तत्व है जो विषिष्ट वासनाओं का नियमन कर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को नैतिक तथा आनान्दित बनाते हैं।

15.3.7 अन्तर्विवेक

बटलर आदर्श मानव स्वभाव की संरचना में अन्तर्विवेक को सर्वोच्च नियामक प्रेरक शक्ति का स्थान देता है। अन्तर्विवेक मूल रूप से बौद्धिक तत्व है। इसके द्वारा ही मनुष्य को उचित कार्य करने तथा अनुचित कार्य को त्यागने की प्रेरणा मिलती है। यह अन्य तत्वों के ऊपर अपनी प्रभुता से निर्णय देता है ताकि आत्मप्रेम तथा परोपकार नैतिक कार्यो में संलग्न रहे। बटलर के अन्तर्विवेक के दो प्रमुख पक्ष होते हैं– विषुद्ध ज्ञानात्मक पक्ष और अधिकारात्मक पक्ष।

अपने विषुद्ध ज्ञानात्मक पक्ष द्वारा अन्तर्विवेक कर्मो तथा उनके मूल में निहित उद्देश्यों पर उचित तथा अनुचित की दृष्टि से विचार करता है। यह हमें बताता है कि हमारे उचित कर्मो से आनन्द तथा अनुचित कर्मों से हमें दुःख की प्राप्ति होती है। अन्तर्विवेक कर्मो के औचित्य तथा अनौचित्य की व्याख्या मनुष्य के स्वभाव, चरित्र, तथा परिस्थितियों के अनुसार करता है तथा उसके प्रयोजन/अभिप्राय को भी ध्यान में रखता है। इसीलिए (अन्तःकरण) अन्तर्विवेक बालक, प्रौढ़, स्वस्थ तथा पागल व्यक्ति द्वारा किये गये एक ही कर्म पर भिन्न–भिन्न निर्णय देता है। अन्तर्विवेक को उचित– अनुचित का ज्ञान प्रत्यक्ष व सहज रूप से हो जाता है। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य या तर्क पर आधारित नहीं रहता है। इसीलिए बटलर का सिद्धान्त अन्तः प्रज्ञावाद का एक रुप में माना जाता है।

बटलर के अनुसार अन्तर्विवेक को सर्वोच्च नियामक की प्रेरक शक्ति प्राप्त है। यह ही हमें बताता है कि नैतिक रुप से कौन सा कर्म उचित है और कौन सा कर्म अनुचित। इसकी बात को स्वीकार करने के लिए हमें किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं होती है। इसके आदेष ही सर्वोपरि होते है। अन्तर्विवेक जिस कार्य का समर्थन करते हैं। वह उचित तथा जिसका समर्थन नहीं करते वह अनुचित सिद्ध प्रतीत होता है। यही अन्तर्विवेक का अधिकारात्मक पक्ष है। इसके द्वारा स्वीकार न करने पर आत्म प्रेम तथा परोपकार भी उस कर्म को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि किसी कर्म को लेकर आत्म प्रेम तथा परोपकार में मतभेद उत्पन्न हो जाए तो इनके विवाद का समाधान अन्तर्विवेक ही करता है तथा जब अन्तर्विवेक और अन्य तत्व में संघर्ष हो तब भी अन्तर्विवेक का निर्णय ही सर्वोपरि होता है। लेकिन बटलर ने एक ऐसा स्थिति का भी वर्णन किया है जिसमें अन्तर्विवेक, आत्म प्रेम तथा परोपकार के निर्णयों से दब जाये तथा अपने अन्तर्विवेक के विरूद्ध जाकर कार्य करने लगे, परन्तु बटलर के अनुसार इससे अन्तः करण के सर्वोच्च नैतिक अधिकार में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अर्थात अन्तर्विवेक को ही सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है।

आदर्श मानव स्वभाव में अन्तः करण का कार्य नियामक के रुप में होता है। विषिष्ट वासनाएं जिन कार्यो की प्रेरणा देती है उनका व्यवस्थापन पहले आत्म प्रेम तथा परोपकार करते हैं तथा इसके बाद अन्तः करण द्वारा उनका समन्वय और नियमन किया जाता है। कहा जा सकता है अन्तः करण/ अन्तर्विवेक ही मनुष्य द्वारा किये जाने वाले कर्मो के उचित–अनुचित का निर्धारण करता है तथा निर्णयकर्ता, आदेषकर्ता तथा मानवीय स्वभाव के तत्वों में सर्वोच्च स्थान देने के कारण ही इसे 'अन्तर्विवेक का सिद्धान्त' कहा जाता

है। बटलर के अनुसार नैतिक दृष्टि से अन्तर्विवेक की सर्वोच्च को सिद्ध करने के लिए किसी वाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसकी नैतिक सर्वोच्चता स्वतः सिद्ध तथा स्वतः प्रमाणित है।

15.4 शब्दावली

अन्तःप्रज्ञा – एक विषेष मानसिक शक्ति जिससे कर्मो के औचित्य अनौचित्य का ज्ञान होता है
बौद्धिक अन्तः प्रज्ञावादी – अन्तः प्रज्ञा के स्वरुप को बौद्धिक मानने वाले
स्वार्थवाद – मनुष्य को स्वार्थी तथा स्वार्थ को ही उसके कर्मो की प्रेरणा मानने वाला सिद्धान्त
विशिष्ट योजना – भूख, प्यास, क्रोध आदि विशिष्ट प्रवृत्तियां जिनका प्रयोजन क्षणिक होता है
अधिकारात्मक – अन्तर्विवेक का आदेष तथा निर्देष देने वाला भाग

15.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

प्रो0 वी0 पी0 वर्मा : नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, एलाउड पब्लिशर्स प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1994
डॉ0 हृदय नारायण मिश्र : नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त, शेखर प्रकाषन, इलाहाबाद, 2009
प्रो0 संगम लाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिषिंग हाउस, 1989

15.6 प्रश्नावली

लघुउत्तरीय प्रश्न :

प्रश्न 1 : अन्तः प्रज्ञावाद क्या है?
प्रश्न 2 : नैतिक इन्द्रियवाद से आप क्या समझते है?
प्रश्न 3 : बौद्धिक अन्तः प्रज्ञावाद तथा नैतिक इन्द्रियवाद में अन्तर बताइये
प्रश्न 4 : आदर्श मानव स्वभाव के तत्वों का वर्णन कीजिए।
प्रश्न 5 : नैतिक निर्णय की चार विशेषताएं बताएं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 : अन्तः प्रज्ञावाद की विचारधारा की उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।
प्रश्न 2 : अन्तः प्रज्ञावादियों के सिद्धान्तों में मतभेदों का वर्णन कीजिए।
प्रश्न 3 : विशिष्ट वासनाओं तथा आत्म प्रेम एवं परोपकार के मध्य के संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
प्रश्न 4 : अन्तर्विवेक के सिद्धान्त का सविस्तार विश्लेषण कीजिए।

इकाई–16 काण्ट का सदिच्छा सिद्धान्त

संरचना:-

16.0 - उद्देश्य

16.1 - प्रस्तावना

16.2 - सदिच्छा का अर्थ

16.3 - सदिच्छा का स्वरुप

16.4- सदिच्छा की विशेषताएं

16.5 - कर्तव्य एवं कर्तव्य के प्रेरक

16.6 - कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिध्दान्त

16.7 - कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिद्धान्त में आनन्द की स्थिती

16.8 - सदिच्छा एवं शुभ में सम्बन्ध

16.9 - नैतिक कर्म एवं सुख में सम्बन्ध

16.10 - सदिच्छा के विरुध्द आपत्तियाँ

16.11 - सदिच्छा का महत्व

16.0 उद्देश्य :- 'सदिच्छा का स्वरुप' 'इकाई के अंतर्गत सदिच्छा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके स्वरूप का उल्लेख किया गया है। सदिच्छा की विशेषताओं को बताते हुए 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' सिद्धांत के साथ सदिच्छा के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त सदिच्छा का शुभ एवं सुख से सम्बन्ध बताया गया है। अन्त में सदिच्छा सिद्धान्त की आलोचना एवं महत्व को दर्शाते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

16.1 प्रस्तावना:- काण्ट अपने नैतिक विचारों के संकलन के क्रम में सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि ऐसी कौन सी वस्तु है जो स्वतः शुभ है अर्थात् जिसका शुभत्व देश-काल, परिस्थिति और व्यक्ति की संवेदनाओं एवं इच्छाओं पर निर्भर नहीं है। वह सदैव स्वतन्त्र या निरपेक्ष रूप से शुभ है | काण्ट इसके जवाब में शुभ संकल्प या सदिच्छा (Good Will) को पाते हैं जो देश-काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति की इच्छाओं से स्वतन्त्र होकर निरपेक्ष रूप से स्वतः शुभ है। सदिच्छा का उदगम बुद्धि से होने के कारण यह बौध्दिक है। यह मनुष्य को शुभ संकल्प से युक्त होकर कर्म करने को प्रेरित करती है। चूँकि यह शुभ से युक्त संकल्प है इसलिए ऐसे कर्म की पूर्ति के लिए मनुष्य यथासंभव अपने समस्त साधनों का उपयोग करता है और अपने सम्पूर्ण प्रयास से कर्तव्य का निष्पादन करता है।

16.2 सदिच्छा का अर्थ:- काण्ट कहते हैं कि जो इच्छा कर्तव्य के लिए कर्तव्य करती है उसे सदिच्छा या शुभेच्छा (Good Will) कहते हैं। सदिच्छा बौध्दिक इच्छा है अर्थात् सदिच्छा से युक्त व्यक्ति बुद्धि का अनुसरण करते हुए बुध्दि के अनुरूप कार्य करता है। काण्ट बुद्धि के नियम नैतिक नियम कहते हैं। इस प्रकार सदिच्छा नैतिक नियम है।

सदिच्छा से युक्त व्यक्ति अनिवार्यत: कर्तव्य के लिए कर्तव्य करता है। काण्ट कहते हैं कि 'सदिच्छा व्यावहारिक बुद्धि है जो नैतिक नियमों 'का निर्माण करती है तथा उन्हें स्वंय पर आरोपित भी करती हैं। अतः सदिच्छा के तहत मानव जिन नैतिक नियमों का अनुपालन करता है, वे नियम बाह्य आरोपित न होकर आत्म आरोपित होते हैं।

16.3 सदिच्छा का स्वरुप :- सदिच्छा के स्वरूप को निर्धारित करते हुए काण्ट कहते हैं कि 'इस संसार में या इसके बाहर भी, सदिच्छा को छोड़कर अन्य किसी वस्तु की कल्पना करना असंभव है, जिसे असीमित रूप से शुभ "समझा जा सके।" "यहाँ काण्ट का निहितार्थ है कि सदिच्छा देश- काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति के निजी संवेगों से परेह जाकर सभी संदर्भों में शुभ बनी रहती है। संदर्भों में परिवर्तन करने पर सदिच्छा अपरिवर्तनीय रहकर सदैव शुभ बनी रहती है। सदिच्छा सहज शुभ है अर्थात् सदिच्छा में शुभत्व निहित है जो वाह्य कारकों से अप्रभावित रहता है। जहाँ सदिच्छा है वहाँ शुभ है इसलिए सदिच्छा को निपेक्ष शुभ कहा जाता है। काण्ट कहते हैं कि बुध्दि, शक्ति, साहस, धैर्य, सौंदर्य, सम्मान, धन इत्यादि गुण एवं वस्तुएं भी जीवन में शुभ मानी जाती हैं। ये वस्तुएँ शुभ तो हैं किन्तु सदिच्छा के समान निरपेक्ष शुभ नहीं हैं। जैसे- शक्ति शुभ है किन्तु इसका उपयोग किसी के उत्पीडन के लिए हो तो यह अशुभ है। इसी प्रकार धन शुभ है किन्तु इससे यदि किसी का शोषण किया जाये तो यह अशुभ है। उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि ये सापेक्ष शुभ हैं जो कुछ परिस्थितियों में शुभ तथा कुछ में अशुभ हो जाती हैं अर्थात् इनका सदिच्छा मूल रूप से बौध्दिक है। यह बुद्धि का नियम है, और बुद्धि के नियम अनुभव निरपेक्ष अर्थात् प्रागनुभविक होते हैं, जिसमें अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता का गुण पाया जाता है। चूँकि सविच्छा का उद्गम बुद्धि से है अर्थात यह बुद्धि का नियम है इसलिए सदिच्छा 'में भी अनिवार्यता, सार्वभौमिकता एवं प्रागनुभावकता का गुण पाया जाता है। यही कारण है कि सदिच्छा देश-काल / परिस्थिति एवं व्यक्ति विशेष के संवेगों से स्वतंत्र रहकर सभी परिस्थितियों में अनिवार्यत: निरपेक्ष शुभ के रूप में व्यक्त होती है। यदि यह बौध्दिक न होकर आनुभविक होती अर्थात् देश-काल, परिस्थिति स्वं व्यक्ति की इच्छाओं से संचालित होती तो यह परिवर्तनशील एवं क्षणिक होती। किन्तु बौद्धिक होने के कारण यह विशुद्ध कर्तव्य चेतना से प्रेरित होती है, जो परिणाम निरपेक्ष होती है।

16.4 सदिच्छा की विशेषताएं:- काण्ट द्वारा प्रतिपादित सदिच्छा सिध्दान्त के अर्थ एवं स्वरूप के विश्लेषण के आधार पर सदिच्छा की निम्नलिखित विशेषताएं उभर कर सामने आती हैं -

(1) सदिच्छा का उद्गम बुद्धि से होता है, अतः यह बौध्दिक है। चूँकि बुद्धि प्रागनुभविक है इसलिए सदिच्छा सापेक्ष न होकर निरपेक्ष शुभ हे!

(2) सदिच्छा स्वतः शुभ संकल्प है। इसमें शुभत्व सहज रूप में निहित रहता है इसलिए देश-काल एवं परिस्थितियों इसके शुभत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यह व्यक्ति विशेष की इच्छाओं एवं भावनाओं से भी स्वतन्त्र है।

(3) सदिच्छा स्वयं शासित इच्छा है, जिसका कोई साध्य नहीं है अपितु सदिच्छा स्वयं साध्य है जो किसी अन्य लक्ष्य या इच्छा की पूर्ति का साधन नहीं है।

(4) सदिच्छा सामान्य इच्छा न होकर कर्म करने की दृढ़ इच्छा है जिसके लिए व्यक्ति यथासम्भव साधनों के साथ सम्पूर्ण प्रयास करता है।

(5) सदिच्छा कर्तव्य भाव के रूप में व्यक्त होती है। इसका प्रेरक तत्व नैतिक नियम हैं जो अनिवार्य, सार्वभौम एवं प्रागभाविक है।

(6)सदिच्छा सामान्य एवं निरुपाधिक होती है क्योंकि यह सभी पर समान रूप से लागू होती है तथा इसके प्रभावी होने के लिए किसी प्रकार की शर्त की आवश्यकता नहीं होती है,अर्थात् यह शर्त रहित होती है।

16.5 कर्तव्य एवं कर्तव्य के प्रेरक : - काण्ट कर्तव्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'नैतिक नियम के प्रति श्रध्दा की भावना से प्रेरित होकर इस नियम के अनुकूल कर्म करने की अनिवार्यता ही कर्म है।' अर्थात् कर्तव्य बाध्यकारी कर्म हैं।

किसी व्यक्ति को किसी कार्य को करने के लिए प्रेरित करने वाले तत्वों को कर्तव्य के प्रेरक तत्व कहते हैं । काण्ट के अनुसार किसी कार्य को कसे के लिए प्रेरित करने वाले तीन तत्व हैं। जो इस प्रकार है.

(1) प्रवृत्ति अर्थात मानव द्वारा सहज भावनाओं एवं इच्छाओं के अधीन होकर किये जाने वाले कार्य। ये तार्किक नहीं होते हैं। इसमें परिणाम का तत्व तत्कालिक रूप से अनुपस्थित होता है।

(2) सुख प्राप्ति की अभिलाषा से तार्किक आधार पर किये गये कार्य, जिनके मूल में अधिकाधिक 'इच्छाओं की तृप्ति करना है। ये परिणाम को लक्ष्यित करके किये जाने वाले कार्य हैं।

(3) बुद्धि प्रेरित कर्म अर्थात नैतिक नियम के रूप में अभिव्यक्त बुद्धि के आदेश के अनुरूप कर्तव्य भाव से कर्म करना। ये कार्य परिणाम को लक्ष्यित करके नहीं किये जाते हैं अपितु कर्तव्य के लिए कर्तव्य भाव से किये जाते हैं। इस प्रकार के कर्म सदिच्छा से किये गये कर्म के अन्तर्गत समाहित किये जाते हैं।

16.6 कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिद्धान्त:- काण्ट कर्तव्य भाव को नैतिकता का मानदण्ड मानते हैं अर्थात् मनुष्य को कर्तव्य नैतिक नियम के प्रति समर्पण भाव से युक्त होकर करना चाहिए न कि किन्ही 'मानवीय इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति के उददेश्य से प्रेरित होकर करनी चाहिए । जब मनुष्य कर्तव्य को कर्तव्य भाव से युक्त होकर करता है तो इसे ही कर्तव्य के लिए 'कर्तव्य' (Duty for duty Sake) कहते हैं।

सदिच्छा एवं कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिध्दान्त में अत्यन्त घनिष्ठ एवं अनिवार्य सम्बन्ध है । काण्ट कहते हैं कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और उसकी बुद्धि में सदिच्छा प्राणनुभविक रूप से विद्यमान रहती है, जिसे व्यवहार में अभिव्यक्ति हेतु माध्यम की आवश्यकता होती है। वह माध्यम कर्तव्य के लिए कर्तव्य है अर्थात् सदिच्छा कर्तव्य के लिए कर्तव्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। यदि मनुष्य एक बौध्दिक प्राणी है और सदिच्छा उसमें प्रागनुभविक रूप से निहित है। तो यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उसे नैतिक कर्म के लिए कर्तव्य बोध या कर्तव्य के लिए कर्तव्य चेतना की आवश्यकता क्यों पड़ती है? इसके जबाव में काण्ट कहते हैं कि मनुष्य पूर्णता बौध्दिक 'प्राणी नहीं' है। उसमें मानवीय इच्छाएं एवं संवेग भी पाये जाते हैं जो शुभ संकल्प की अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करती हैं। यदि मनुष्य पूर्णतः वौद्धिक प्राणी होता और उसकी इच्छा, भावनाएं एवं प्रवृत्तियों शुभ संकल्प की अभिव्यक्ति में बाधक न होती तो उसे नैतिक कर्म कारित करने के लिए कर्तव्य चेतना की अनिवार्यता नहीं होती, किन्तु ऐसा नहीं है। मनुष्य पूर्णत: बौद्धिक प्राणी नहीं है ऐसी स्थिति में नैतिक कर्मों 'के लिए कर्तव्य चेतना का होना अनिवार्य है। काण्ट पूर्णत: बौद्धिक प्राणी के संकल्प 'को 'पवित्र 'संकल्प' 'कहते हैं। पवित्र संकल्प से युक्त, प्राणी को कर्तव्य पथ पर किसी प्रकार की बाधाओं का सामना नही' करना पड़ता है | शुभ संकल्प उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति होते हैं। पवित्र संकल्प केवल ईश्वर में पाया जाता है क्योंकि वह मानवीय इच्छाओं एवं संवेगों से मुक्त है। अतः ईश्वर को नैतिक कर्मो के लिए कर्तव्य चेतना की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार काण्ट अपने नैतिक दर्शन में सापेक्ष, शुभ 'संकल्प एवं पवित्र संकल्प में अन्तर करते हैं।

16.7 कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिध्दान्त में आनन्द की स्थिति :- काण्ट कर्तव्य को पूर्णत: बौध्दिक या नीरस नहीं मानते हैं। वे कर्तव्य में आनन्द का भी समावेश करते हैं। वे पूर्ण शुभ की स्थिति में सदिच्छा या शुभ संकल्प के साथ आनन्द को भी समाहित मानते हैं। वे आनंद के महत्व को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि आनन्द की प्राप्ति करना मनुष्य का परोक्ष कर्तव्य है। वे कहते हैं 'कि मानवीय जीवन में आनन्द के अभाव में मानवीय इच्छाओ की अतृप्ति के कारण मानव अपनी स्थिति से असंतुष्ट हो सकता है और ऐसी स्थिति में वह अपने कर्तव्य पथ से विचलित भी हो सकता है। काण्ट कर्तव्य में आनन्द के समावेश के साथ आनन्द की सीमा का भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं कि मानवीय जीवन में आनन्द का महत्व तभी तक है जब तक वह 'कर्तव्य मार्ग में बाधा न उत्पन करे। यदि आनन्द कर्तव्य मार्ग में बाधक बन जाये तो ऐसे आनन्द का परित्याग कर देना चाहिए। वे कहते हैं कि आनंद न तो कर्तव्य निर्धारण का आधार हो सकता है और ना ही आनन्द की इच्छा से प्रेरित कर्मों को नैतिक कर्म कहा जा सकता है।

16.8 सदिच्छा एवं शुभ में सम्बन्ध :- काण्ट के मतानुसार सदिच्छा एकमात्र निरपेक्ष शुभ या सर्वोच्च शुभ है अर्थात् सदिच्छा में सहज शुभत्व निहित है। सदिच्छा अतिरिक्त संसार की कोई वस्तु निरपेक्ष शुभ नहीं है। सदिच्छा के अतिरिक्त संसार में अनेक वस्तुएं हैं जो शुभ तो हैं किन्तु निरपेक्ष शुभ नहीं है। जैसे- ज्ञान, तर्क बुध्दि, साहस, दृढता, शक्ति, सुख, सन्तोष, धन इत्यादि शुभ हैं। लोग इनकी प्राप्ति की इच्छा करते हैं। ये सभी निरपेक्ष शुभ न होकर सापेक्ष शुभ हैं। सापेक्ष शुभ वाली वस्तुएं देश- काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति विशेष की संवेदनाओं के अनुरूप शुभ होती हैं जबकि सदिच्छा निरपेक्ष शुभ है जो देश – काल परिस्थिति एवं व्यक्ति विशेष की संवेदनाओं से मुक्त है। सापेक्ष शुभ वाली वस्तुएं अपने शुभत्व के लिए शुभ संकल्प पर निर्भर हैं। चूँकि एक वस्तु के शुभत्व का कारण अन्य वस्तु है, यहा श्रृंखला अन्तहीन है इसलिए इनमें अनावस्था दोष पाया जाता है जबकि सदिच्छा इस दोष से मुक्त है क्योंकि वह स्वतः साध्य शुभ है।

काण्ट सर्वोच्च शुभ एवं पूर्ण शुभ में भी अन्तर करते है । सदिच्छा सर्वोच्च शुभ है क्योंकि यह स्वत: साध्य शुभ है जबकि पूर्ण शुभ सर्वोच्च शुभ के साथ ही आनन्द का भी समावेश होता है।

16.9 नैतिक कर्म एवं सुख में सम्बन्ध:- काण्ट कहते हैं कि कोई व्यक्ति कर्तव्य के लिए कर्तव्य भाव से कोई कार्य करता है और कार्य के साथ अपने सहज स्वभाव का भी अनुभव करता है, जिससे उसकी सहज प्रवृत्ति एवं इच्छाएं शान्त होती हैं और उस कर्ता को सुख की प्राप्ति होती है तो इससे कार्य की नैतिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा उसका वह कार्य नैतिक कार्य ही कहा जायेगा क्योंकि कर्ता द्वारा कार्य करने का उद्देश्य सुख प्राप्त करना नहीं था अपितु वह कार्य कर्तव्य चेतना से 'प्रेरित था । काण्ट कहते हैं चूँकि मानव पूर्णत: वौद्धिक प्राणी न होकर भाव पक्ष का भी मिश्रण है और कर्तव्य चेतना बुध्दि एवं भाव दोनों के समन्वय से उत्पन्न होती है। इसलिए कर्तव्य चेतना से युक्त होकर किये गये कार्य कर्ता को सुख की प्राप्ति होने पर उसका कार्य नैतिक ही कहा जायेगा।

काण्ट यहाँ सुख का स्पष्ट सीमांकन भी करते हैं। वे कहते हैं कि सुख का सिध्दान्त चाहे वह व्यक्तिगत हो या सार्वभौमिक, वह नैतिक इच्छा का सिद्धान्त नहीं बन सकता है। सुख का सिध्दान्त आत्मप्रेम का सिद्धान्त है। आत्मप्रेम एवं नैतिकता में स्पष्ट सीमांकन है। आत्मप्रेम परामशत्मिक है जबकि नैतिक नियम आदेशात्मक प्रकृति का होता है।

सदिच्छा के विरुद्ध आपत्तियाँ:- (1) काण्ट सदिच्छा को निरपेक्ष रूप से सर्वोच्च सिद्ध करते हैं, जो अनिवार्य एवं सार्वभौम नैतिक नियम है। जैकोवी का आरोप है कि सदिच्छा वस्तुतः वह इच्छा है जो कुछ इच्छा नहीं करती है । इच्छा किसी वस्तु की की जाती है और इच्छा एवं विषय में अनिवार्य सम्वन्ध होता है । अत: विषय-वस्तु के अभाव में इच्छा उपयोगी नही है।

(2) काण्ट सदिच्छा को बुध्दिजन्य मानते हुए इसे पूर्णत: बौद्धिक मानते हैं. और भावना का कोई स्थान नहीं देते हैं जबकि मानव बुध्दि पक्ष एवं भाव पक्ष का समन्वय है। मानव के एक पक्ष की उपेक्षा करके 'नैतिकता को परिभाषित नहीं किया जा सकता है।

(3) काण्ट कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिद्धांत के द्वारा समस्त मानवीय कर्मो की नैतिकता को कर्तव्य चेतना से सीमित कर देते हैं। वे कहते हैं, "कि कोई व्यक्ति दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति, परोपकार इत्यादि भावनाओं से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है तो वह प्रशंसनीय तो है किंतु नैतिक दृष्टि से शुभ नहीं है। इस पर कुछ विचारकों की मत कि काण्ट की यह विचार एकांगी है। उनका तर्क है कि शुल्क कर्तव्य चेतना से उत्पन्न नैतिकता की अपेक्षा मानव ह्रदय से उत्पन्न स्वत: स्फूर्त नैतिकता अधिक उत्कृष्ट है।

(4) काण्ट का मत कर्तव्य पालन के सम्बंध में अत्यधिक कोठर है। वे किसी भी परिस्थिति में कर्तव्य की अपवाद स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि कार्य के परिणाम की चिन्ता किये बगैर मनुष्य को सभी परिस्थितियों में कर्तव्य को कर्तव्य चेतना से प्रेरित होकर करना चाहिए। जैसे - यदि किसी परिस्थिति में सत्य बोलने से किसी की जान का खतरा है और झूठ बोलकर उसकी जान को बचाया जा सकता है तो यहाँ उनका विचार है कि परिणाम की चिंता किये बगैर सत्य का अनुसरण करना चाहिए।

16.11 सदिच्छा का महत्वः- सदिच्छा काण्ट के नैतिक दर्शन का आधार है। यह किसी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का निर्धारक है। यदि कोई कर्म सदिच्छा से युक्त होकर किया गया है तो उसे नैतिक कर्म कहा जायेगा।

संसार की अन्य वस्तुएँ भी शुभ है किन्तु ये सापेक्ष रूप से शुभ है, जबकि सदिच्छा निरपेक्ष एवं स्वत: साध्य होने के कारण सर्वोच्च शुभ है। काण्ट ने सदिच्छा के महत्व को इंगित करते हुए इसकी तुलना ऐसे रत्न से की है जो स्वयं अपनी ही ज्योति से दैदीप्यमान रहता है।

भारतीय धर्मग्रथ. गीता में भी कर्तव्य को कर्तव्य भाव से करने का उपदेश दिया गया है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'तुम्हें फल की चिन्ता किये बिना अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए क्योंकि कर्म पर ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल पर नहीं । गीता में इसे 'निष्काम कर्म का सिद्धान्त कहा गया है। गीता का नैतिक दर्शन एवं काण्ट का नैतिक दर्शन कर्तव्य के सम्बन्ध में कुछ साम्यताएं रखता है।

सारतः सदिच्छा एवं कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिद्धान्त की सम्यक् समझ से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सिध्दान्त सामान्य मानव की नैतिक चेतना में निहित है। जिसमें नैतिक चेतना के विकास के साथ परिणामों की अपेक्षा कर्तव्य बोध का महत्व निरंतर बढ़ता जाता है। नैतिक विकास के निम्न स्तर पर व्यक्ति कर्मों के परिणाम को ध्यान में रखकर कार्य करता है। नैतिक विकास के उच्च स्तर पर परिणाम के बजाय कर्तव्य भाव महत्वपूर्ण हो जाता है तथा सर्वोच्च नैतिक विकास के स्तर पर (ईश्वर) कर्तव्य बोध समाप्त हो जाता है केवल शुभत्व रह जाता है, जहाँ सम्पूर्ण जीवन ही शुभमय होता है।

16.12 शब्दावली

(1) सापेक्ष शुभ-शुभ के लिए एक वस्तु का अन्य वस्तु पर निर्भर होना ।

(2) सर्वोच्च शुभ या शुभ संकल्प - शुभ का स्वत: साध्य होना या सहज रूप में निहित होना ।

(3) पूर्ण शुभ - स्वतः साध्य शुभ के साथ आनंद का भी समावेश होना।

16.13 प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न:-

(1) सदिच्छा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए विशेषताएं बताये ।

(2) सदिच्छा के स्वरूप की विवेचना करें।

(3) कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिद्धांत का वर्णन करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः-

(1) सदिच्छा के स्वरूप का मूल्यांकन करें।

(2) सदिच्छा एवं कर्तव्य के लिए कर्तव्य सिध्द्धत के सम्बंध की विवेचना करें।

16.14 उपयोगी पुस्तकें

(1) काण्ट का दर्शन - सभाजीत मिश्र

(2) नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त - वेद प्रकाश वर्मा

इकाई–17 कर्त्तव्य के कर्त्तव्य का सिद्धान्त एवं निरपेक्ष आदेश

संरचना :-

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 आदेश की परिभाषा एवं प्रकार
17.3 सहैतुक आदेश
17. 4 अहैतुक या निरपेक्ष आदेश
17.5 निरपेक्ष आदेश की विशेषताएँ
17.6 निरपेक्ष आदेश की सूत्र रूप में प्रस्तुती
17.7.1 सार्वभौम आदेश का सूत्र
17.7.2 प्रकृति आदेश का सूत्र
17.7.3 स्वयं साध्य का सूत्र
17.7.4 स्वाधीनता का सूत्र
17.7.5 साध्यों के राज्य का सूत्र

17.0 उद्देश्य -

निरेपेक्ष इकाई के अंतर्गत सर्वप्रथम आदेश को परिभाषित करते हुए सहैतुक आदेश एवं अहैतुक या निरपेक्ष आदेश प्रकारों की चर्चा की गयी है। निरपेक्ष आदेश के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषता का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् निरपेक्ष आदेश के संबंध में काण्ट द्वारा प्रस्तुत पाँच सूत्रों - सार्वभौमिकता का सूत्र, प्राकृतिक आदेश का सूत्र, श्वतः साध्य का सूत्र, स्वाधीनता का सूत्र एवं साध्यों के राज्य का सूत्र की विस्तृत चर्चा की गयी है।

17.1 प्रस्तावना -

सृष्टि चक्र के सुचारू रूप से चलते रहने के लिए कर्म करना आवश्यक है। गीता में कहा गया है 'कुरु कर्मेय' अर्थात् कर्म करो ही। इस प्रकार कर्म से विरत नहीं हुआ जा सकता है किन्तु कर्म किस प्रकार के हो? इस पर दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। काण्ट द्वारा प्रतिपादित निरपेक्ष आदेश का सिद्धांत भी कर्मों की प्रकृति से संबंधित है।

काण्ट के नैतिक दर्शन में निरपेक्ष आदेश का विशेष महत्त्व है। यह उनके नीतिशास्त्र का अथ एवं इति है। काण्ट के अनुसार मनुष्य का आवश्यक तत्त्व बुद्धि एवं विवेक है। मनुष्य को बुद्धि या विवेकपूर्ण जीवनयापन करना चाहिए। वे बुद्धिमय जीवन को ही मानते हैं। चूँकि बुद्धि एक सार्वभौमिक तत्त्व है जो सभी मनुष्यों में पाया जाता है। अतः बुद्धिमय जीवन या नैतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन न होकर सामान्य जीवन है। बुद्धिमय जीवन व्यक्तिगत जीवन न होकर सामान्य जीवन है। बुद्धिमय जीवन व्यतीत करने से तात्पर्य शुभ संकल्प से युक्त होकर कार्य करने से है। शुभ संकल्प ही निरपेक्ष आदेश है। इसका कोई हेतु या प्रयोजन नहीं होता है अपितु व्यक्ति कर्तव्य को कर्तव्य भाव से प्रेरित होकर करता है न कि किसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु करता है।

17.2 आदेश की परिभाषा एवं प्रकार -

काण्ट आदेश को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'जो विषयगत सिद्धांत किसी इच्छा के लिए आवश्यक कर्तव्य हो और उसका प्रत्यय बुद्धि की आज्ञा हो, तो इस आज्ञा सूत्र को आदेश कहते हैं।

आदेश दो प्रकार के होते हैं-

(1) सहैतुक आदेश (Hypothetical Hnperative)

(2) अहैतुक या निरपेक्ष आदेश (Categorical Hnperative)

17.3 सहैतुक आदेश –

जब कोई सिद्धांत, नियम या आदेश किसी मानवीय साध्य से नियंत्रित, नियमित या निर्देशित होता है तो ऐसे आदेश को सहैतुक आदेश कहते हैं। चूँकि मानवीय स्वभाव परिवर्तनशील है। ऐसी स्थिति में मानवीय साध्य या लक्ष्य भी परिवर्तनशील है। ऐसी स्थिति में मानवीय साध्य या लक्ष्य भी परिवर्तनशील होंगे इसलिए सहैतुक आदेश में शुभ के किसी निश्चित स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। ये वैयक्तिक स्वरूप के होते हैं और व्यक्ति, देश-काल एवं परिस्थिति के अनुरूप बदलते रहते हैं इसलिए इन्हें नैतिक आदेश नहीं कहा जा सकता है।

सहैतुक आदेश के दो भेद-नैमित्तिक आदेश एवं व्यावहारिक आदेश होते है।

- नैमित्तिक आदेश से तात्पर्य जब कोई साध्य किसी व्यक्ति की निमित्त (इच्छा) पर निर्भर होने से है। काण्ट एक डॉक्टर के दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि एक डॉक्टर अपने रोगी को रोगमुक्त करना चाहता है। इस निमित्त वह रोगी को दवा देता है, उसे ठण्ठ इत्यादि से बचाता है। एक अन्य डॉक्टर व्यक्ति रोगी को मारना चाहता है तो इस निमित्त वह अन्य ऐसे मार्ग का अनुसरण करेगा जिससे रोगी मर जाये। इस प्रकार निमित्त लक्ष्य से कार्य की दिशा निर्धारित होती है।
- जब कोई साध्य ऐसा है जिसे व्यक्ति स्वभावतः करना चाहता है, तो इसे व्यावहारिक आदेश कहते हैं। व्यावहारिक आदेश प्रायः निश्चयात्मक होते हैं। ये दूरदर्शी उपाय है क्योंकि इन उपायों से जिन लक्ष्यों की प्राप्ति होती है उनका अनुसरण प्रायः सभी लोग करते हैं। उदाहरणार्थ प्रायः सभी लोग सुख की प्राप्ति करना चाहते हैं और सुख के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे जो उपाय अपनाते हैं, वे व्यावहारिक आदेश है।

17.4 अहैतुक या निरपेक्ष आदेश –

जब किसी कार्य को करते समय कर्ता यह समझने कि प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को यह कार्य करना स्वतः अच्छा समझना चाहिए, उस कार्य को सहैतुक आदेश कहते है। ये किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर न होकर स्वतंत्र या निरपेक्ष होते हैं। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति इस कार्य को अच्छा समझकर स्वतः इनका अनुसरण करता है।

अहैतुक आदेश किसी कर्तव्य को करने का आदेश है। जैसे- सत्य बोलो, बड़ों का आदर करो इत्यादि। यह एक नैतिक नियम है। यह शुद्ध बुद्धि का विधान होने के कारण सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है। यह किसी भावना या स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न नहीं होता और यह किसी परिणाम या लक्ष्य से निर्धारित होता है अपितु यह बुद्धि का सामान्य विधान एवं सार्वभौमिक प्राकृतिक नियम है।

निरपेक्ष आदेश में निहित अवश्यकर्तव्यता सार्वभौम और देश-काल एवं परिस्थितियों से स्वतंत्र होती है। काण्ट कहते हैं कि इसका स्वरूप संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक होता है। यह मानवीय इच्छाओं को प्रागनुभविक रूप से प्रभावित करता है क्योंकि यह बुद्धि का आदेश या नियम है और बुद्धि प्रागनुभविक है। यह नैतिकता के सभी नियमों में निहित सर्वोच्च शुद्ध बौद्धिक नियम है जो मानवीय कार्यों को अनिवार्यतः अनुशासित करते हैं। काण्ट निरपेक्ष आदेश की तुलना वैज्ञज्ञनिक नियम 'कारणता' से करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कारणता का नियम किसी कारण विशेष की ओर इंगित न करके सामान्य नियम का सूचक है उसी प्रकार निरपेक्ष आदेश किसी विशेष नैतिक कर्तव्य की ओर संकेत न करके नैतिकता के सामान्य नियम का बोध करता है जो नैतिकता का आधारभूत नियम है।

17.5 निरपेक्ष आदेश की विशेषताएँ –

काण्ट अपने निरपेक्ष आदेश के अंतर्गत निम्नलिखित विशेषताओं को समाहित करते हैं-

(1) निरपेक्ष आदेश सार्वभौमिक सत्य होता है। सार्वभौमिकता के अभाव में कोई नियम निरपेक्ष नियम नहीं हो सकता है। सार्वभौमिक नियम ऐसे कर्म या आदेश है जिसे समान परिस्थितियों में सभी मनुष्यों पर लागू किया जा सके। काण्ट कहते हैं कि व्यक्ति को ऐसे किसी नियम के अुनसार कार्य नहीं करना चाहिए जिसे सामान्य नियम के रूप में स्वीकार न कर सके।

(2) निरपेक्षता, निरपेक्ष आदेश की प्रमुख विशेषता है। निरपेक्षता से तात्पर्य किसी वाह्य तत्त्व पर निर्भर न होना है। निरपेक्ष आदेश परिणाम निरपेक्ष होता है अर्थात् कर्म के परिणाम पर विचार किये बिना ही कर्म करना चाहिए।

(3) निरपेक्ष आदेश स्वतंत्र होता है निरपेक्षता के प्रत्यय में स्वतंत्रता का भाव समाहित होता है। यह अपने में पूर्ण होता है। इसका कोई प्रेरक नहीं होता है।

(4) निरपेक्ष आदेश नियमबद्ध होते हैं। ये शुभ संकल्प के रूप में व्यक्त होते हैं। ये आत्मनिर्भर एवं आत्मनियंत्रित होते हैं।

(5) निरपेक्ष आदेश विधान के रूप में होते हैं। ये बुद्धि के विधान हैं इसलिए इनका पालन सभी लोग करते हैं।

(6) निरपेक्ष आदेश बुद्धि के नियम होने के कारण प्रागनुभविक एवं आकारिक होते हैं।

17.6 निरपेक्ष आदेश की सूत्र रूप में प्रस्तुती –

काण्ट अपनी कृति – व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा' (Critique of Practical Reason) में निरपेक्ष आदेश को एक सूत्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं किन्तु वे अपनी कृति 'ग्राउण्ड वर्क ऑफ द मेटाफिजिक ऑफ मॉरल्स (Craund work of the Metaphysic of Murals) में निरपेक्ष आदेश को पाँच सूत्रों के रूप में व्यक्त करते हैं। जो इस प्रकार हैं–

(1) सार्वभौम आदेश का सूत्र

(2) प्रकृति आदेश का सूत्र

(3) स्वयं साध्य का सूत्र

(4) स्वाधीनता का सूत्र

(5) साध्यों के राज्य का सूत्र

17.7.1 सार्वभौम आदेश का सूत्र –

काण्ट कहते हैं कि 'व्यक्ति उसी नियम का आचरण करे जिसके माध्यम से वह वह तत्समग्र इच्छा कर सके िकवह सार्वभौम नियम का आदेश बन गया है।'

इस सूत्र का अर्थ है कि निरपेक्ष आदेश शर्त सहित वस्तुनिष्ठ सिद्धांत है जिसका पालन प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को करना चाहिए। काण्ट के अनुसार किसी कर्म की नैतिकता की मानदण्ड यह है कि उस कर्म का सामान्यीकरण किया जा सकता है या नहीं। यदि किसी व्यक्ति द्वारा कृत–कार्य का सामान्यीकरण किया जा सकता है तो वह नैतिक कर्म है और यदि ऐसा नहीं किया जा सकता है तो उस कर्म को नैतिक नहीं कहा जायेगा। किसी देश–काल एवं परिस्थिति में मेरे द्वारा किया गया कर्म तभी नैतिक कहा जायेगा जब अन्य व्यक्तियों को भी उस कर्म को उसी प्रकार करने की समान छूट प्राप्त हो।

उदाहरण स्वरूप काण्ट कहते हैं कि यदि मैं आवश्यकता पड़ने पर किसी व्यक्ति से धन इस वादे के साथ उधार लेता हूँ कि मैं उसे धन लौटा दूँगा जबकि मैं यह भलीभाँति जानता हूँ कि मैं धन कभी लौटाऊँगा नहीं। यह नियम नैतिक कहा जायेगा। जब इसी अभिप्रय के साथ स्वयं भी अन्य लोगों को उधार देने को तैयार रहूद्द। किन्तु तमैं स्वयं इस इस उद्देश्य के साथ किसी व्यक्ति को धन उधार नहीं दूँगा। यह नियम का समान्यीकरण नहीं है। अतः इस नियम को नैतिक नियम नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त दृष्टांत के माध्यम से काण्ट यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि स्वार्थमूलक कार्य अनैतिक होते हैं और ऐसे कार्यों का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है क्योंकि इनसे आत्मा–विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है। इस प्रकार अनैतिक कार्यों का सामान्यीकरण नहीं किया सकता है।

17.7.2 प्रकृति आदेश का सूत्र –

काण्ट कहते हैं कि एक व्यक्ति इसप्रकार आचरण करें कि मानों उसके कार्य का नियम उसकी इच्छा के माध्यम से प्रकृति का एक सार्वभौम नियम बनने वाला है।'

इस सूत्र का तात्पर्य है कि मनुष्य को ऐसे कर्म करने चाहिए जिससे उनके कार्य सामान्य नियम का रूप ले सके, जिस प्रकार प्राकृतिक नियम सामान्य एवं सार्वभौम होते हैं। काण्ट कहते है कि प्रकृति के नियमों में समरूपता पायी जाती है। अतः प्राकृतिक कर्म वही हो सकता है जिसमें प्रकृति के नियमों के समान सार्वभौमिकता पायी जाये। इस सूत्र का संबंध मूलतः काण्ट के सदिच्छा सिद्धांत से है।

काण्ट कहते हैं कि प्राकृतिक नियमों एवं सार्वभौमिक नियमों में समानता पायी जाती है। प्रकृति की सभी घटनाएँ विज्ञान के एक सामान्य नियम 'कार्य–करण' के तहत घटित होती है। नैतिक कर्मों में भी सार्वभौमिकता पायी जाती है, जो प्रथम सूत्र से स्पष्ट हो

चुकी है। इस प्रकार प्राकृतिक जगत की व्यवस्था एक नैतिक व्यवस्था है क्योंकि दोनों सार्वभौम नियम का अनुसरण करते हैं। अतिः निरपेक्ष आदेश के रूप में प्राप्त होने वाले सार्वभौम आदेशों को प्राकृति के आदेश के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

प्राकृतिक नियम मनुष्य की विवेकशील दुनिया से व्यापक है। काण्ट निरपेक्ष आदेश को प्राकृतिक नियम से संबद्ध करके नैतिकता को वहीं व्यापकता प्रदान करना चाहते हैं जो व्यापकता प्रकृति में पायी जाती है। काण्ट कहते हैं कि व्यक्ति को इस प्रकार आचरण करना चाहिए कि मानों वह उस सृष्टि का स्रष्टा है जिसका वह स्वयं अंग है।

17.7.3 स्वयं साध्य का सूत्र –

काण्ट कहते हैं कि – 'इस प्रकार आचारण करो जिससे कि अपने तथा प्रत्येक अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्त्व में निहित मानवता को सदैव एक ही समय साध्य के रूप में प्रयोग करो, मात्र साधन के रूप में कभी नहीं।

इस सूत्र के माध्यम से काण्ट प्रत्येक मानव की गरिमा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। मनुष्य स्वयं साध्य है और वह किसी अन्य मनुष्य के प्रयोजन सिद्धि के लिए साधन नहीं हो सकता है। मानव को न तो स्वयं की मानवता और न अन्य की मानवता को अपने प्रयोजन के लिए साधन के रूप में परिवर्तित करना चाहिए। यहाँ काण्ट वस्तुओं और मानवता में अंतर करते हुए कहते हैं कि वस्तुओं का प्रयोग किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधन के रूप में किया जा सकता है। वस्तुओं की उपयोगिता भी साधन के रूप में प्रयुक्त होने से है किन्तु मानव का साधन रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

काण्ट कहते हैं कि मानव साध्य है जो स्वयं में सर्वोच्च है। अन्य सभी कार्यों का लक्ष्य मानवीय साध्य के अनुरूप होना चाहिए। मानव स्वयं किसी प्रयोजन का साधन नहीं हो सकता है। स्वार्थ प्रेरित होकर या किसी अन्य मनुष्य के प्रयोजन हेतु साधन बनकर हमें अपनी मानवता को पतित नहीं करना चाहिए। काण्ट यहाँ आत्महत्या को अनैतिक कहते हैं क्योंकि आत्महत्या के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन के कष्टों एवं पीडा से छुटकारा पा लेना चाहता है किन्तु मानवीय आत्मा में वह गुण है कि वह इन कष्टों एवं पीडाओं से उठकर नैतिक श्रेष्ठता प्राप्त करे।

17.7.4 स्वाधीनता का सूत्र –

काण्ट कहते हैं कि, 'इस प्रकार आचरण करो कि तुम्हारी इच्छा अपने नियम के माध्यम से तत्समय स्वयं को सार्वभौमिक आदेश बनाने वाली समझ सके।'

भाषा विश्लेषण से ज्ञात होता है कि काण्ट द्वारा प्रतिपादित प्रथम सूत्र एवं उपर्युक्त सूत्र में भाषायी समानता है किन्तु दोनों के अर्थों में भिन्नता पायी जाती है। प्रथम सूत्र में वौद्धिक प्राणी को सार्वभौमिक नियष्म के पालन के लिए कहा गया है कि जबकि उपर्युक्त सूत्र में स्वतंत्रता का संबंध बौद्धिक प्राणी के रूप में सार्वभौमिक नियम की निर्माता की स्वतंत्रता से है। इस प्रकार बौद्धिक प्राणी सार्वभौम नियम के अधीन भी है और सार्वभौम नियम का निर्माता भी स्वयं है।

काण्ट द्वारा प्रतिपादित तृतीय सूत्र स्वयं साध्य का सूत्र से भी उपर्युक्त सूत्र संबंधित है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को मानवता को सर्वत्र अपने कर्म का साध्य बनाना तभी संभव है ज बवह स्वतंत्रता सूत्र के अनुसार अपने कर्म के विषय का स्वयं निर्माता है।

उपर्युक्त सूत्र के द्वारा काण्ट यह बताने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य जिन सार्वभैमिक नैतिक नियमों का पालन करता है, वस्तुतः वे किसी वाह्य शक्ति द्वारा आरोपित न होकर आत्मरोपित होते हैं। इन नियमों का विधान मनुष्य के बौद्धिक संकल्प द्वारा किया जाता है जिनका वह अपने व्यावहारिक जीवन में पालन करता है। वह कहता है कि चूँकि ये नियम स्वयं द्वारा निर्मित है अतः इसका पालन किसी वाह्य अन्य प्रलोभन से न हो होकर अपने बौद्धिक एवं संकल्प स्वातंत्र्य से प्रेरित होना चाहिए। जब मनुष्य केवल भावनाओं, इच्छाओं या प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कर्म करता है तो उसका संकल्प इन अबौद्धिक शक्तियों के अधीन होने के कारण बौद्धिक एवं स्वतंत्र नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में उसके कर्म को नैतिक नहीं माना जा सकता है। अतः मनुष्य को अपनी बौद्धिकता एवं स्वाधीनता के संकल्प से प्रेरित होकर कार्य करना चाहिए क्योंकि सच्ची नैतिकता का उद्गम स्रोत यही है।

17.7.6 साध्यों के राज्य का सूत्र –

काण्ट कहते हैं कि 'इस प्रकार आचरण करो कि मानो तुम अपने नियम के माध्यम से सदैव ही साध्यों के एक सार्वभौम राज्य के नियम बनाने वाले सदस्य हो।'

काण्ट का यह सूत्र सार्वधिक व्यापक है क्योंकि इसमें सभी सूत्रों का समावेश है। वे कहते हैं कि सार्वभौमिकता के नियम का पालन करने वाला व्यक्ति स्वयं को ऐसे समाज का सदस्य समझे जिसमें सभी मनुष्य स्वयं को तथा दूसरे को साध्य मानकर कर्म करे

न कि साधन। इस प्रकार यह नियम सार्वभौमिकता के नियम, प्रकृति आदेश के नियम, स्वयं साध्य के नियम एवं स्वाधीनता के नियम को समाहित करता है।

इस सूत्र में काण्ट ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करते हैं जहाँ सभी मनुष्य मानवता के कारण एक-दूसरे की गरिमा का ध्यान रखें। सभी मनुष्य बौद्धिक एवं संकल्प स्वातन्त्र्य से युक्त होने के कारण आत्म प्रेरित सार्वभौमिक नैतिक नियम का पालन करें। यहाँ सभी व्यक्ति साध्य है। ऐसे ही आदर्श समाज को काण्ट 'साध्यों का राज्य' कहते हैं। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे द्वारा शासित न होकर स्वयं अपने ऊपर शासन करता है। ऐसे समाज में व्यक्ति के कर्म स्वार्थ प्रेरित न होकर आत्मप्रेरित, वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिक नियम के द्वारा निर्धारित होते हैं। काण्ट ईश्वर को ऐसे आदर्श राज्य का प्रशासक मानते हैं। हलांकि ऐसे समाज में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, जिससे ईश्वर में ऐसी इच्छाएँ उत्पन्न नहीं होती है कि वह जगत में सुचारू प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करे।

सारतः कहा जा सकता है कि काण्ट का निरपेक्ष आदेश बौद्धिक एवं संकल्प स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति होने के कारण सार्वभौमिक नैतिक विधान है। वे इसे पाँच सूत्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। पेंटन ने इन पाँच सूत्रों को अंतः संबंधित माना है। वहीं कुछ विचारक इन पाँच सूत्रों को एक ही निरपेक्ष आदेश के पाँच स्वरूप मानते हैं। वास्त्व में सम्यक् विश्लेषण करने पर ये निरपेक्ष आदेश के ही पाँच रूप हैं।

17.7 शब्दावली

(1) **निरपेक्ष** (Categarical) - किसी अन्य पर निर्भर न होना या स्वयं में स्वतंत्र होना

(2) **साध्य** (Means) जिसे साधन से सिद्ध किया जा सके।

(3) **साधन** (Ends) - साध्य की प्राप्ति का उपाय।

17.8 प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न -

(1) आदेश को परिभाषित करते हुए इनके प्रकारों की व्याख्या करें?

(2) निरपेक्ष आदेश क्या है? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बतायें?

(3) निरपेक्ष आदेश की प्रकृति सार्वभौमिक होती है। स्पष्ट करे?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

(1) निरपेक्ष आदेश को परिभाषित करते हुए इसके पाँच सूत्रों की व्याख्या करें?

17.9 उपयोगी पुस्तकें

(1) क्रिटिक ऑफ प्रैक्टीकल रीजन - इमैनुअल काण्ट

(2) काण्ट का दर्शन - सभाजीत मिश्र

(3) नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत - वेद प्रकाश वर्मा

खण्ड–6 भगवत्गीता का नैतिक दर्शन एवं पुरुषार्थ की अवधारणा

इकाई–18 निष्काम कर्म सिद्धान्त

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 भारतीय विचारकों के मत

18.3 निष्काम कर्म योग

18.4 भक्ति योग, ज्ञान योग और निष्काम कर्मयोग

18.5 स्थित प्रज्ञ का आदर्श

18.6 अहिंसा और कर्तव्य

18.7 मोक्ष प्राप्ति का साधन

18.8 निष्कर्ष

18.9 सारांश

18.10 बोध- प्रश्न

18.11 उपयोगी पुस्तकें

--------00----------

18.0 उद्देश्य

भारतीय दार्शनिक परंपरा में कर्म का अत्यधिक महत्व है। आत्मा ईश्वर का पुनर्जन्म जैसे गूढ़ रश्मि सदैव भारतीय मीमांसा के अंग रहे हैं। आत्मा ईश्वर जैसी तत्व मीमासीय दर्शन परंपरा के साथ-साथ भारतीय जन मानस के साथ भी गहरे से जुड़ी हुई है पुनः जन्म व कर्म फल के सिद्धांत में गहरी आस्था रखने के फल स्वरूप निष्काम कलयुग की अवधारणा महत्वपूर्ण हो जाती है कर्म और दायित्व के साथ-साथ निष्काम कर्म योग के नैतिक जीवन को किस तरह प्रभावित कर सकता है यह विवेचना का विषय है।

18.1 प्रस्तावना

गीता के प्रमुख सिद्धांतों में से एक निष्काम कर्म योग है, जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को महाभारत के युद्ध के दौरान उपदेश दिया था। यह योग का वह रूप है जिसमें व्यक्ति बिना किसी फल की इच्छा के कर्म करता है। इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को अपने कर्मों के प्रति समर्पित और फल की अपेक्षाओं से मुक्त करना है।

निष्काम कर्म भगवत गीता का एक केंद्रीय विषय है। कर्मयोग में यह एक महत्वपूर्ण दार्शनिक अवधारणा है, जिसका अर्थ है। निस्वार्थ भाव से या व्यक्तिगत लाभ को ध्यान में रखे बिना रखे बिना कार्य करना निष्काम कर्म करते समय एक व्यक्ति बिना किसी उम्मीद के कार्य कर रहा होता है। संस्कृत में निष्काम का अर्थ है, बिना उद्देश्य के कार्य बिना इच्छा के कार्य इच्छा रहित।

कर्म योग दर्शन में दो केंद्रीय अवधारणाएं हैं। सत्कर्म और निस कर्म सत्कर्म धन्यवाद पाने या बदले में अच्छाई प्राप्त करने के लक्ष्य के साथ सर्व केंद्रित प्रेरणा प्रेरणाओ के तहत कार्यवाही करना है निष्काम सत्कर्म के विपरीत है, और इसे धन्यवाद या अच्छाई की वापसी किस-किस में आंतरिक आशा के बिना निस्वार्थ कर्म माना जाता है। अंततः विश्वकर्म को जीवन में व्यक्तिगत कार्यों के परिणाम के प्रति अनशक्ति नहीं बल्कि निस्वार्थ और प्रेम पूर्ण उद्देश्यों के साथ माना जाता है। कर्म संबंधी अवधारणा इस बात पर केंद्रित है, कि एक योगी दुनिया के भीतर दूसरों के लिए कार्य करता है आत्म लाभ के लिए नहीं।

18.2 भारतीय विचारकों के मत

वेदों तथा उपनिषदों में जिन नैतिक और दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है गीता उसमे समन्वय स्थापित करके उनका दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है गीता उनमें समन्वय स्थापित करके उनका सारतत्व प्रस्तुत करती है। शंकर के मतानुसार मोक्ष के लिए गीता में ज्ञान का सर्वाधिक महत्व दिया गया है। रामानुज तथा निम्बार्क का विचार है कि गीता भक्ति को ही सर्वोच्च स्थान देती है। श्री अरविन्द, गांधीजी तथा लोकमान्य तिलक का मत है कि गीता में निष्काम कर्म को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है और इसे ज्ञान तथा भक्ति की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना गया है। स्पष्ट है कि विभिन्न विद्धानों ने गीता के भिन्न-भिन्न पक्षो को विशेष महत्व देकर मानव-जीवन के लिए उसकी उपादेयता सिद्ध की है। इस प्रकार प्राचीन काल से वर्तमान युग तक गीता समस्त भारतीय चिंतन एवं दर्शन को निरंतर प्रभावित करती रही है और यह व्यापक प्रभाव उसके विशेष महत्व का द्योतक है।

18.3 निष्काम कर्म योग

निष्काम" शब्द का अर्थ होता है "बिना किसी कामना के" और "कर्म" का अर्थ होता है "कर्म करना"। योग का अर्थ है "जुड़ना"। इस प्रकार, निष्काम कर्म योग का अर्थ हुआ बिना किसी फल की इच्छा के कर्म करना और इस प्रक्रिया के माध्यम से आत्मा को परमात्मा से जोड़ना।

गीता का नैतिक दर्शन उपनिषदों के नैतिक दर्शन की भांति मूलत आत्मवादी है। गीता में वर्णव्यवस्था मानव-जीवन के चार आश्रमों तथा पुरुषार्थी कर्मवाद पुनर्जन्म आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता को पूर्ण रूपेण स्वीकार किया गया है। यह सत्य है कि गीता में अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धांता का विवेचन किया गया है, किन्तु वास्तव में उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान करना ही है। सम्पूर्ण गीता का प्रमुख उद्देश्य मोहासक्त एवं कर्तव्यपथ से विचलित अर्जुन को क्षात्र धर्म के अनुसार तथा अत्याचार के विरुद्ध लडे जाने वाले युद्ध सम्बन्धी अपने

कठोर कर्तव्य में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त करना ही है। इसी उद्देश्य को दृष्टि रखकर सभी परिस्थितियों में अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए भगवान कृष्ण ने उसे निष्काम कर्म करने की शिक्षा दी है। गीता में कहा गया है कि -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

इस श्लोक में भगवान कृष्ण ने निष्काम कर्मयोग की व्याख्या की है। उन्होंने अर्जुन से स्पष्ट कहा है कि कर्म करने पर ही तुम्हारा अधिकार है उसके परिणाम अथवा फल पर नहीं अतः फल की इच्छा से प्रेरित होकर तुम्हें कर्म नहीं करना चाहिए। सिद्धि-असिद्धि में समत्यभाव अर्थात विचलित होना ही योग है अतः इसी योग के अनुसार फलाकांक्षा का त्याग कर के सफलता असफलता को समान मानते हुए तुम कर्म करो। निष्काम कर्मयोग ने प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृत्तिमार्ग इन दोनों विरोधी विचारधाराओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि इसमें मनुष्य को स्वधर्म-पालन के लिए सभी कर्म करते हुए उनके प्राप्त होने वाले फल की इच्छा का त्याग करने का उपदेश दिया गया है यह समन्वय इस सिद्धांत की महत्वपूर्ण विशेषता है।

18.4 भक्ति योग, ज्ञान योग और निष्काम कर्मयोग

- श्रेष्ठता की दृष्टि कसे ज्ञानयोग, भक्तियोग तथ निष्काम कर्मयोग की तुलना करते हुए बारहवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि निरंतर अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है. ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है. भक्ति की अपेक्षा कर्मों के फल की आकांक्षा का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि फलासक्ति के त्याग से शांति प्राप्त होती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है, कि गीता मनुष्य के कर्म त्याग करके संसार से भागने के लिए नहीं अपितु संसार में रहते हुए फलासक्ति का त्याग करके कर्म करने के लिए प्रेरित करती है. अतः उसे कर्म प्रधान मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

निष्काम कर्म योग के सिद्धांत

1. कर्म का अधिकार: प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म का अधिकार है, परन्तु उसे फल की चिंता नहीं करनी चाहिए।

2. फल की अपेक्षा नहीं: कर्म करते समय व्यक्ति को उसके परिणाम की चिंता नहीं करनी चाहिए।

3. कर्तव्यपालन: अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए कर्म करना चाहिए।

4. समर्पण: सभी कर्मों को भगवान के प्रति समर्पित करना चाहिए।

5. अहंकार का त्याग: कर्म करते समय अहंकार का त्याग करना चाहिए।

18.5 स्थित प्रज्ञ का आदर्श

निष्काम कर्मयोग के अनुसार आचरण करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य अपनी समस्त इंद्रिया को संयमित करे और अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण रखे। तृतीय अध्याय के सातवें श्लोक में इन्द्रिय संयम का महत्व बताते हुए भगवान कृष्ण ने कहा है कि मन द्वारा इन्द्रियों की संयमित करके अनासक्तिपूर्वक कर्मयोग के अनुसार आचरण करने वाला मनुष्य ही श्रेष्ठ है। समस्त इन्द्रियों तथा मन को नियंत्रित करके फलासक्ति के बिना कर्म करने वाले मनुष्य को श्रीकृष्ण ने स्थितपुत्र की संज्ञा दी है। द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ मनुष्य के लक्षण बताते हुए उन्हाने कहा है, कि जिस मनुष्य ने अपनी समस्त मनोकामनाओं को यश में कर लिया है जो लाभ-हानि जय-पराजय तथा सुख-दुःख में समत्वभाव रखता है- अर्थात हर्षित एवं दुःखित नहीं होता और जो किसी से राग द्वेष नहीं रखता उसी को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।"

प्रजहाति वेदा कामान्सर्वान्दार्थ मनोगतान

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदव्यते ।।

गीता मे प्रतिपादित निष्काम कर्म का सिद्धांत और स्थित प्रज्ञ का आदर्श ऐसे हैं जिनकी प्राप्ति सामान्य मनुष्य के लिए अत्यन्त कठिन है। प्रायः ऐच्छिक कर्म का एक निश्चित उददेश्य होता है जिसे उस कर्म को करने वाला व्यक्ति पूरा करना चाहता है। ऐच्छिक कर्म सामान्यतः कामना जन्य होता है। और उसे करने वला व्यक्ति उससे एक विशेष परिणाम अथवा फल की आशा करता है। वस्तुतः फल की यह आशा ही मनुष्य के लिए ऐच्छिक कर्म की मूल प्रेरणा है जिसके अभाव में उसके लिए इस प्रकार का कर्म करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में एच्छिक कर्म करते हुए फलाकांक्षा का पूर्ण परित्याग साधारण मनुष्य के लिए लगभग असम्भव प्रतीत होता है।

" कर्म फलाकांक्षा के पूर्ण त्याग की भांति स्थितप्रज्ञ होना भी साधारण मनुष्य के लिए अत्यन्त कठिन है। सामान्यतः मनुष्य के जीवन में भावनाओं अथवा संवेगों का बहुत महत्व है अतः उसके लिए सुख-दुःख लाभ-हानि, सफलता-असफलता द्वारा कुछ सीमा तक प्रभावित होना अनिवार्य है। जब तक मनुष्य में एक भी कामना अथवा इच्छा शेष है तब तक उसके लिए हर्ष-शोक तथा जय-पराजय से पूर्णतया अप्रभावित रहना असम्भव है। यद्यपि निष्काम कर्म और स्थितप्रज्ञ सम्बन्धी सिद्धांतों का पूर्णरूपेण पालन करना साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नही है फिर भी वह इन सिद्धांतों का अशत पालन अवश्य कर सकता है और ऐसा करने से भी उस जीवन में पर्याप्त सन्तोष एवं आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, अत मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के लिए गीता के नैतिक दर्शन की उपादेयता असंदिग्ध है।"

निष्काम कर्म योग के लाभ

1. मानसिक शांति: निष्काम कर्म योग से व्यक्ति मानसिक शांति प्राप्त करता है क्योंकि वह फल की चिंता से मुक्त होता है।

2. सामाजिक समरसता: जब व्यक्ति निष्काम भाव से कर्म करता है, तो वह समाज के प्रति अधिक संवेदनशील और दायित्वपूर्ण बनता है।

3. आत्मानुशासन: निष्काम कर्म योग से आत्मानुशासन का विकास होता है क्योंकि व्यक्ति अपने कर्मों को अपने अहंकार और इच्छाओं से मुक्त रखता है।

4. आध्यात्मिक विकास: यह योग आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का माध्यम है, जिससे व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होता है।

5. कर्मफल से मुक्ति: फल की चिंता न होने के कारण व्यक्ति अपने कर्मों से बंधा नहीं रहता और उसकी आत्मा मुक्त हो जाती है।

18.6 अहिंसा और कर्तव्य

यदि अहिंसा और कर्तव्य में संघर्ष हो तो गीता के अनुसार मनुष्य को अहिंसा का मार्ग छोड़कर कर्तव्य पालन के मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए। परंतु अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मनुष्य के लिए स्वार्थ लाभ घृणा द्वेष, क्रोम आदि दुर्भावनाओं से पूर्णतः रहना गीता में आवश्यक माना गया है। श्रीकृष्ण ने गीता में मनुष्य के लिए स्थितप्रज्ञ होने की जो आवश्यकता बताई है और स्थितप्रज्ञ के जिन लक्षणों का वर्णन किया है उनसे यही ज्ञात होता है कि उक्त से मुक्त होकर ही मनुष्य अपने जीवन में संतुलन स्थापित कर सकता और निष्काम कर्मयोग के अनुसार आचरण करते हुए अपने कर्तव्य का दृढता पूर्वक पालन कर सकता है।

18.7 मोक्ष प्राप्ति का साधन

निष्काम कर्मयोग के अतिरिक्त ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का भी गीता में विचच किया नयी है और मनुष्य के लिए इस दोनों को भी मोक्ष प्राप्ति के मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। शरीर की नश्वरता, आत्मा की अमरता और ब्रह्म तथा आत्मा के पूर्ण तादात्म्य का विशुद्ध ज्ञान ही ज्ञानयोग का मूल आधार है। जो मनुष्य यह विशुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेता है व सुख-दुःख तथा कर्मों के परिणामों से प्रभावित नहीं होता। परन्तु श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि इस ज्ञान योग के लिए भी कर्मों के त्याग की नहीं अपितु फलाकांक्षा के त्याग की आवश्यकता है। उनका कहान कि जो मनुष्य अपने आपको पूर्ण आस्था एवं मनोयोग के साथ ईश्वर को समर्पित कर देते है और अपनी समस्त इन्द्रियों को नियंत्रित करके दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करते हुए ईश्वर की उपासना करते हैं वे जन्म मरण से सांसारिक चक्र मुक्त हो जाते हैं ज्ञान योग की भांति इस भक्तियोग के लिए भी कम के त्याग की आवश्यकता नहीं है। बारहवें अध्याय के छठे और सातवें श्लोक में भगवान कृष्ण ने स्पष्ट कहा है, कि जो मनुष्य ईश्वर की उपासना करते हुए अपने समस्त कर्मों को उसे ही समर्पित कर देते है अर्थात अपने कर्मों के फल की इच्छा नहीं करते वे संसार सागर के दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के लिए कर्मत्याग अनावश्यक ही नहीं अपितु पूर्णतया असम्भव भी है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

18.8 निष्कर्ष

मानव के नैतिक जीवन हेतु तथा सह - अस्तित्व व साहचर्य हेतु निष्काम कर्मयोग की धारणा अति महत्वपूर्ण है। सिद्धि -असिद्धि में समत्वभाव-अर्थात् विचलित न होना ही योग है तथा फलाकांक्षा से रहित होकर किया गया कर्म ही श्रेष्ठ कर्म है। निष्काम कर्मयोग नें प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग जैसी विरोधी विचारधाराओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया। समन्वय 'के इस सिद्धांत को आचरण पर बल देने के फलस्वरूप यह विचारधारा वर्तमान युग में प्रासंगिक हो जाती है।

निष्काम कर्म योग का मूल उद्देश्य व्यक्ति को उसके कर्मों के फल की चिंता से मुक्त करना है, ताकि वह अपने कर्मों को पूरी निष्ठा और समर्पण के साथ कर सके। यह योग आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का एक साधन है और इसे अपनाकर व्यक्ति न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन में बल्कि समाज और राष्ट्र के उत्थान में भी योगदान दे सकता है। निष्काम कर्म योग का सार व्यक्ति को उसके जीवन के हर पहलू में संतुलन और शांति प्राप्त करने में मदद करता है। यह योग न केवल आध्यात्मिक विकास की दिशा में एक मार्गदर्शक है, बल्कि इसे अपनाने से व्यक्ति के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में भी सकारात्मक परिवर्तन आते हैं।

18.9 सारांश

निष्काम कर्म योग का सिद्धांत हर व्यक्ति के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। यह हमें सिखाता है कि हमें अपने कर्तव्यों का पालन पूरी निष्ठा और ईमानदारी से करना चाहिए, बिना फल की अपेक्षा किए। यह योग आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का माध्यम है और इसे अपनाकर हम अपने जीवन को शांत, समरस और संतुष्ट बना सकते हैं। निष्काम कर्म योग का पालन करने से व्यक्ति मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास की दिशा में अग्रसर होता है और उसके जीवन में स्थायी शांति और संतोष का आगमन होता है।

निष्काम कर्म योग का पालन करना आज के समय में अत्यंत प्रासंगिक और आवश्यक है। यह योग न केवल व्यक्ति को उसके जीवन के प्रत्येक पहलू में संतुलन और शांति प्राप्त करने में मदद करता है, बल्कि उसे समाज और मानवता के प्रति उसकी जिम्मेदारियों के प्रति भी जागरूक बनाता है।व्यक्तिगत लाभनिष्काम कर्म योग से व्यक्ति को मानसिक शांति और संतोष प्राप्त होता है। जब व्यक्ति बिना किसी फल की इच्छा के कर्म करता है, तो वह तनाव और चिंता से मुक्त होता है। यह योग व्यक्ति को आत्म-अनुशासन, संकल्प और अहंकार के त्याग की शिक्षा देता है, जिससे उसका व्यक्तिगत विकास होता है।सामाजिक लाभनिष्काम कर्म योग समाज में सामंजस्य और समरसता का वातावरण बनाता है। जब समाज के लोग निष्काम भाव से सेवा करते हैं, तो समाज का समुचित विकास होता है। यह योग समाज को आत्म-निर्भर और समृद्ध बनाता है।आध्यात्मिक लाभनिष्काम कर्म योग व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में अग्रसर करता है। यह योग आत्मा को शुद्ध करता है और उसे ईश्वर के निकट लाता है। निष्काम कर्म योग के माध्यम से

व्यक्ति अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को समझता है और उच्चतर चेतना की अवस्था में पहुंचता है।चुनौतियों पर विजयनिष्काम कर्म योग को अपनाने में कई चुनौतियाँ होती हैं, जैसे अहंकार का त्याग, फल की चिंता न करना, और समाज में व्यावहारिक रूप से इसका पालन करना। लेकिन यह योग व्यक्ति को इन चुनौतियों पर विजय पाने की शक्ति और प्रेरणा देता है।निष्काम कर्म योग के सिद्धांतों का पालन करके हम अपने जीवन को अधिक संतुलित, शांत और संतुष्ट बना सकते हैं। यह योग न केवल व्यक्तिगत विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है, बल्कि समाज और राष्ट्र के उत्थान में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान है। निष्काम कर्म योग का अभ्यास करके हम अपने जीवन को सच्चे अर्थों में सार्थक बना सकते हैं।

18.10 बोध- प्रश्न

1. निष्काम कर्म योग से आप क्या समझते हैं व्यवहारिक जीवन में इसकी किस प्रकार उपादेयता हो सकती है?

2. निष्काम कर्म योग के क्या लाभ है?

18.11 उपयोगी पुस्तकें

1.नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत - वेद प्रकाश वर्मा ,एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ,नई दिल्ली।

2.नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धांत - डॉ डी आर जाटव , मलिक एंड कंपनी ,जयपुर, दिल्ली

3.नीति शास्त्र की रूपरेखा -अशोक कुमार वर्मा , मोतीलाल बनारसी दास , दिल्ली

4.नीति शास्त्र की रूपरेखा -डॉक्टर बद्रीनाथ सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी

इकाई–19 स्थितप्रज्ञ और लोकसंग्रह का सिद्धान्त

ईकाई - 19

स्थितप्रज्ञ और लोक संग्रह का सिद्धांत

19.0 प्रस्तावना

19.1 उददेश्य

19.3 स्थितप्रज्ञ

19.4 लोक संग्रह का सिद्धांत

19.5 लोक संग्रह और वसुधैव कुटुंबकम

19.6 लोक संग्रही व्यक्तित्व के लक्षण

19.7 लोक संग्रह और स्थितप्रज्ञता

19.8 निष्कर्ष

19.9 सारांश

19.10 बोध - प्रश्न

19.11 उपयोगी पुस्तकें

----00---------

19.0 प्रस्तावना

हर व्यक्ति आत्मकल्याण या स्वहित चाहता है। यह अपनेपन की भावना जब उसके वैयक्तिक सम्बन्धों, देह और दैहिक सम्बन्धियों- पुत्र, पौत्र आदि तक सिमट जाती है, तब व्यक्ति स्वार्थी कहलाता है। और जब अपनेपन का भाव जाति, धर्म, रंग, लिंग, दैहिकता आदि बन्धनों को तोड़कर वैश्विक स्वरूप धारण कर लेता है। यहाँ तक कि अपनेपन का यह भाव प्राणी जगत सहित वनस्पति जगत को अपने में समेट लेता है तब ऐसे स्वकीय जनों और प्राणियों के हितार्थ किया गया कार्य, परोपकार या लोक संग्रह कहलाता है। भगवद्गीता में, भगवान कृष्ण अर्जुन को युद्ध के मैदान में उपदेश देते हैं। इस उपदेश में वे स्थितप्रज्ञ की विशेषताओं का वर्णन करते हैं और बताते हैं कि कैसे एक व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। साथ ही, वे लोक संग्रह के महत्व पर भी जोर देते हैं।

इन सिद्धांतों की जड़ें वेदों और उपनिषदों में भी पाई जा सकती हैं, जो भारतीय दर्शन के सबसे प्राचीन स्रोत हैं। उदाहरण के लिए, ईशोपनिषद में कहा गया है: "ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्" अर्थात "इस संसार में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है"। यह विचार लोक संग्रह के सिद्धांत से मेल खाता है, जो सभी प्राणियों की एकता और परस्पर निर्भरता पर जोर देता है।

19.1 उददेश्य

लोक संग्रह का सिद्धांत और स्थित प्रज्ञता का आदर्श किस प्रकार सम्पूर्ण मानव जीवन को प्रभावित करता है हम इस इकाई में जानने का प्रयत्न करेंगे। इसके अतिरिक्त लोक संग्रह की दार्शनिक अवधारणा, वसुधैव, कुटुम्बकम्, परोपकार, निष्काम कर्मयोग और लोक संग्रह सिद्धांत में सम्बंध भी इस इकाई की विषयवस्तु है।

19.3 स्थितप्रज्ञ

शब्द दो संस्कृत शब्दों से मिलकर बना है: 'स्थित' का अर्थ है 'स्थिर' या 'अचल', और 'प्रज्ञ' का अर्थ है 'बुद्धि' या 'ज्ञान'। अतः, स्थितप्रज्ञ का शाब्दिक अर्थ है 'वह व्यक्ति जिसकी बुद्धि स्थिर है'।

भगवद्गीता में, अर्जुन भगवान कृष्ण से पूछते हैं कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के क्या लक्षण हैं। कृष्ण उत्तर देते हैं:

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥" (गीता 2.55)

अर्थात, "हे पार्थ! जब मनुष्य अपने मन की समस्त कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा में ही आत्मा द्वारा संतुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।"

भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की कई विशेषताओं का वर्णन किया गया है:

मानसिक शांति: स्थितप्रज्ञ व्यक्ति दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों की लालसा नहीं रखता। वह राग, भय और क्रोध से मुक्त होता है।

समता भाव: वह सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय में समान भाव रखता है। उसके लिए मित्र और शत्रु में कोई भेद नहीं होता।

निःस्पृहता: वह भौतिक वस्तुओं और इंद्रिय सुखों से आसक्त नहीं होता। उसकी इच्छाएँ शांत हो जाती हैं।

आत्म-नियंत्रण: वह अपनी इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। उसकी इंद्रियाँ उसे विचलित नहीं कर पातीं।

स्थिर बुद्धि: उसकी बुद्धि किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होती। वह हर स्थिति में स्थिर और शांत रहता है।

आत्म-संतोष: वह आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। बाहरी परिस्थितियाँ उसके संतोष को प्रभावित नहीं करतीं।

स्थितप्रज्ञ की अवस्था प्राप्त करने के कई लाभ हैं:

मानसिक शांति: स्थितप्रज्ञ व्यक्ति हमेशा शांत और संतुलित रहता है, जो उसे तनाव और चिंता से मुक्त रखता है।

बेहतर निर्णय क्षमता: स्थिर बुद्धि होने के कारण, वह परिस्थितियों का सही मूल्यांकन कर सकता है और बेहतर निर्णय ले सकता है।

आत्म-जागरूकता: स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपने आप को गहराई से जानता है, जो आत्म-विकास में सहायक होता है।

सामाजिक सद्भाव: समता भाव रखने के कारण, वह दूसरों के साथ बेहतर संबंध बना सकता है।

आध्यात्मिक उन्नति: स्थितप्रज्ञ की अवस्था आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर एक महत्वपूर्ण पड़ाव है।

19.4 लोक संग्रह का सिद्धांत

स्थितप्रज्ञ" और "लोक संग्रह" दो ऐसे सिद्धांत हैं जो भारतीय दर्शन, विशेष रूप से भगवद्गीता में, महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये दोनों अवधारणाएँ न केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं, बल्कि समाज के समग्र कल्याण के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक हैं।

स्थितप्रज्ञ का अर्थ है "स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति"। यह एक ऐसी मानसिक और आध्यात्मिक अवस्था को दर्शाता है जहाँ व्यक्ति सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वंद्वों से प्रभावित नहीं होता। वह सदैव संतुलित, शांत और स्थिर रहता है।

लोक संग्रह का सिद्धांत समाज के कल्याण और एकता पर केंद्रित है। यह सिद्धांत बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह समाज के हित में कार्य करे और दूसरों के लिए एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करे।

मानवीय सत्कर्मों का दायरा व्यक्ति के रुधिर सम्बन्धों तक न रह कर समस्त मानव जाति और प्राणधारियों के लिए होना चाहिए, लोक संग्रह सिद्धांत की यही दार्शनिक अवधारणा है। दूसरे शब्दों में, शरीरध्यास से जागृत होकर ब्रह्मकार वृत्ति को अपना लेना ही लोक संग्रह है। लोक संग्रही व्यक्ति सभी प्राणियों में स्वयं के और स्वयं में समस्त प्राणियों को देखता है। वह सर्वथा समदर्शी होता है। प्रकृति के प्रत्येक आदान में उसे अपने ही परमप्रभु की छाया प्रतीत होती है। ऐसा लोक संग्रही व्यक्ति अहंकार शून्य होते हुए स्थित प्रज्ञ होता है। मान- अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय की भावना से परे होता है। वह प्रत्येक कार्य को प्रभु का आदेश मानकर स्वयं निमित्तमात्र बन कर करता है।

लोक संग्रह हेतु स्वधर्म अपने गुण और स्वभाव के अनुसार स्वेच्छ्या चयपित वर्ण, धर्म का पालन अनिवार्य होता है । यदि प्रत्येक वर्ण के लोग अपने गुण और स्वभाव के अनुसार अपने - अपने वर्णश्राम, धर्म का पालन अनासक्त भाव एवम् प्रभु अर्पण भाव से करें तो अपनी उन्नति के साथ ही साथ परार्थ में भी योग कर सकते हैं।

19.5 लोक संग्रह और वसुधैव कुटुंबकम

"पुमान पुनांसं परिपातु विश्वतः"

अर्थात मनुष्य मनुष्य की रक्षा करे। इसके लिए जरूरी है कि हम समूहमन के साथ चले, लोक मन के साथ चलें। लोक कल्याण में ही आत्म कल्याण को देखें। 'वैदिक ऋषि कभी 'मैं' और 'मेरा' का प्रयोग नहीं करते थें। इनके स्थान पर वे 'हम' और 'हमारा' का प्रयोग करते थे। वैदिक साहित्य कोष में सर्वविश्व, पृथ्वी, भूमा, भूः और स्वः की अनुपम प्रतिष्ठा है। उन्होंने यह सीखा ही नहीं था कि अपने से भिन्न, भी कहीं कुछ है, तभी तो परवर्ती युग में कहा गया "सर्व खल्विदं ब्रह्म" ।

लोक कल्याणार्थ अभिव्यंजित ऋषियों की यही मन कामना भागवद्गीता में लोक संग्रह के आदर्श के रूप में प्रस्फुरित हुई है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना ही लोक संग्रह है। कुटुम्ब का तात्सर्य परिवार है। परिवार का अर्थ है - एक दूसरे की सांसारिक सुख में सहायता के साथ आत्मोन्नति में यथा साथ सहयोग करना। जहाँ लोग एक दूसरे का अधिकार छीनना हो, एक दूसरे से ईर्ष्या करते हो, पीछे खींचने का प्रयत्न करते हो और अपने स्वार्थ पर ही दृष्टि रखते हों वहाँ परिवार कहाँ, वहाँ तो पाशविक समूह जैसी भावना ही समझनी चाहिए। घर में जब प्रत्येक सदस्य एक दूसरे के लिए त्याग करने को तत्पर रहे, एक की पीड़ा सबकी पीड़ा और एक की उन्नति सबकी उन्नति बन कर प्रकट हो तब समझना चाहिए, कि हम पारिवारिक जीवन यापन कर रहे हैं। हमारा कर्तव्य तो अधिकाधिक लोग और दूसरों की सुख शांति के विकास में सहायक होना है। दूसरों के सानिध्य में हमारा चरित्र बनता, बिगड़ता है। अत: व्यक्ति का कल्याण

समष्टि के कल्याण में ही निहित है। सर्वो के उदय में मेरा उदय यह कोई परोपकार का वचन नहीं' है, बल्कि 'सर्वखलिंद ब्रह्म' की दार्शनिक अविव्यंजना है। यही लोक संग्रह सिद्धांत की दार्शनिक दृष्टि है।

19.6 लोक संग्रही व्यक्तित्व के लक्षण

लोक संग्रही समदर्शी होता है। गीता के छठवें अध्याय में स्वयं कृष्ण घोषणा करते हैं – सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतसि चात्मनि, ईक्षतेयुगयुक्तान्मा सर्वत्र समदर्शनःयो मां पश्यार्त सर्वत्र सर्व मयि पश्यति, तस्याहं न प्रणश्यमिस प से न प्रणश्यति ।

अर्थात, आत्मा की एकता को देखने वाले उस ज्ञानी के लिए मैं ईश्वर कभी, अदृश्य नहीं होता और वह ज्ञानी कभी मुझसे अदृश्य नहीं होता, क्योंकि उसका और मेरा स्वरूप एक ही है। लोक संग्रही व्यक्ति का अनिवार्य लक्षण है 'स्थित प्रज्ञता' भला काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के विकार विपिन में भटकता हुआ इन्द्रियों के वशीभूत रहने वाला मानवी जीव लोक संग्रह के आदर्श को अपने जीवन में कैसे उतार सकता है? स्थितप्रज्ञ' मानव जीवन के लिए सर्वोच्च अवस्था है, तथा सर्वोच्च मूल्य है। स्थितप्रज्ञ' का आचरण समाज में अनुकरणीय है, क्योंकि यह समाज के लिए मानदण्ड है।

19.7 लोक संग्रह और स्थितप्रज्ञता

लोक संग्रही व्यक्तित्व का एक अनिवार्य लक्षण 'स्थित प्रज्ञता है। वह मनुष्य जो अपनी समस्त इन्द्रियों तथा मन को नियंत्रित करके शक्ति के बिना कर्म करता है, स्थित प्रज्ञ 'मनुष्य कहलाता है। द्वितीय अध्याय में स्थित प्रज्ञ मनुष्य के लक्षण बताते हुए श्री कृष्ण ने कहा है, कि जिस मनुष्य ने अपनी समस्त मनोकामनाओं को वश में कर लिया है, जो लाभ-हानि, जय-पराजय तथा सुख-दुःख में समभाव रखता है- अर्थात- हर्षित या दुखित नहीं होता और जो किसी से राग द्वेष नहीं रखता उसी मनुष्य को स्थित प्रज्ञ कहा जाता है।

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥"

वास्तव, में लोक संग्रह के उच्च आदर्श को राग-द्वेष, हानि-लाभ, सुख-दुःख के भौतिक आधारों के सहारे प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए व्यक्ति का स्थित प्रज्ञ होना अपरिहार्य है।

19.8 निष्कर्ष

काम, क्रोध, लोभ, मोह के चादर में प्रसुष्त आत्मचेतना को जागृत करते हुए उसे परम प्रभु की चेतना के चौखट तक पहुंचाना, आत्मीयता का विस्तार करते हुए सृष्टा की सृष्टि के प्रत्येक उपादानों में अपने ही प्रभु का दर्शन करना, उसके कल्याणार्थ स्वयं को समर्पित कर देना तथापि कर्तापन का भाव न पैदा होना ही आत्मकल्याण का मार्ग है। यही लोक संग्रह का सार है। जब आत्मचेतना, लोक चेतना या ब्राह्मी चेतना का आकार ग्रहण कर लेती है, तो उसकी पदचाप में लोक संग्रह की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

अथर्ववेद की यह ऋचा हमें लोक संग्रह का ही निर्देश करती है, जो लोक संग्रह के परिप्रेक्ष्य में मानो गीता दर्शन का नन्दीपाठ है-

"शतहस्त समाहर सहस्रस्त से फिर

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फति समावह । "

" हे मनुष्य सौ हाथों से अर्जन कर हजार हाथों से दान कर। इसी अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ तू उन्नति कर।"

आज के तनावपूर्ण और तेजी से बदलते समय में, स्थितप्रज्ञ और लोक संग्रह के सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक हैं:

स्थितप्रज्ञ का सिद्धांत तनाव प्रबंधन और मानसिक संतुलन बनाए रखने में मदद कर सकता है।

लोक संग्रह का सिद्धांत व्यक्तियों और संगठनों को समाज के प्रति अपने दायित्वों का स्मरण कराता है।

लोक संग्रह का सिद्धांत प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाए रखने और पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता पर जोर देता है।

दोनों सिद्धांत मिलकर नैतिक और प्रभावी नेतृत्व के लिए एक मजबूत आधार प्रदान करते हैं।

19.9 सारांश

स्थितप्रज्ञ और लोक संग्रह के सिद्धांत, जो प्रथम दृष्टया अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वास्तव में एक-दूसरे के पूरक हैं। ये दोनों सिद्धांत मिलकर एक ऐसा जीवन दर्शन प्रस्तुत करते हैं जो व्यक्तिगत विकास और सामाजिक कल्याण के बीच संतुलन स्थापित करता है। आधुनिक समय में, जहाँ व्यक्तिवाद और सामूहिकता के बीच संघर्ष अक्सर देखने को मिलता है, ये सिद्धांत एक मध्यम मार्ग प्रदान करते हैं जो व्यक्तिगत और सामाजिक हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।

स्थितप्रज्ञ और लोक संग्रह के सिद्धांत, जो प्राचीन भारतीय दर्शन से उत्पन्न हुए हैं, आज के जटिल और चुनौतीपूर्ण समय में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। ये सिद्धांत व्यक्तिगत विकास और सामाजिक कल्याण के बीच एक संतुलन प्रदान करते हैं, जो आधुनिक समाज की कई समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकता है। इन सिद्धांतों का व्यावहारिक अनुप्रयोग न केवल व्यक्तिगत जीवन में बल्कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में भी सकारात्मक परिवर्तन ला सकता है।

स्थितप्रज्ञ और लोक संग्रह के सिद्धांत, अपनी गहराई और महत्व के बावजूद, कई आलोचनाओं और चुनौतियों का सामना करते हैं। हालांकि, इन आलोचनाओं को इन सिद्धांतों की कमजोरी के रूप में नहीं, बल्कि उनके और अधिक विकास और समकालीन संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता को मजबूत करने के अवसर के रूप में देखा जाना चाहिए। इन चुनौतियों से निपटने के लिए निरंतर संवाद, अनुसंधान और व्यावहारिक प्रयोगों की आवश्यकता है। इन सिद्धांतों की मूल भावना को बनाए रखते हुए उन्हें आधुनिक समय की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना महत्वपूर्ण है।

19.10 बोध - प्रश्न

1.आधुनिक समाज में लोक संग्रह के सिद्धांत की क्या प्रासंगिकता है ?

2.स्थितप्रज्ञ और लोक संग्रह के अंतर्संबंध की विवेचना कीजिए।

3. लोक संग्रही व्यक्ति की क्या विशेषताएं होती है?

19.11 उपयोगी पुस्तकें

1.नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत- वेद प्रकाश वर्मा, एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ,नई दिल्ली।

2.नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धांत- डॉ डी आर जाटव, मलिक एंड कंपनी जयपुर ,दिल्ली।

3.नीति शास्त्र की रूपरेखा- अशोक कुमार वर्मा ,मोतीलाल बनारसी दास ,दिल्ली ।

4.नीति शास्त्र की रूपरेखा- डॉक्टर बद्रीनाथ सिंह,आशा प्रकाशन ,वाराणसी।

खंड 6

इकाई–20 पुरुषार्थ चतुष्टय– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष

20.0 प्रस्तावना

20.1 उद्देश्य

20.2 पुरुषार्थ चतुष्टय का ऐतिहासिक विकास

20.3 धर्म

20.4 अर्थ

20.5 काम

20.6 मोक्ष

20.7 पुरुषार्थ चतुष्टय का संतुलन

20.8 पुरुषार्थ चतुष्टय का आधुनिक संदर्भ

20.9 निष्कर्ष

20.10 सारांश

20.11 बोध प्रश्न

20.12 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

----------00---------

20.0 प्रस्तावना

पुरुषार्थ चतुष्टय हिंदू दर्शन और जीवन दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। यह मानव जीवन के चार मूलभूत लक्ष्यों या उद्देश्यों को दर्शाता है, जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रयास करना चाहिए। ये चार पुरुषार्थ हैं:

1. धर्म (नैतिकता और कर्तव्य)

2. अर्थ (धन और भौतिक समृद्धि)

3. काम (इच्छा और आनंद)

4. मोक्ष (मुक्ति और आध्यात्मिक उत्थान)

20.1 उद्देश्य

इस इकाई में, हम इन चारों पुरुषार्थों का विस्तृत अध्ययन करेंगे, चारों पुरुषार्थों के ऐतिहासिक विकास क्रम को समझेंगे,उनके महत्व को समझेंगे, पुरुषार्थ चतुष्टय का आधुनिक संदर्भ को समझने का प्रयास करेंगे और यह जानेंगे कि कैसे ये एक संतुलित और सार्थक जीवन जीने में हमारी मदद करते हैं।

20.2 पुरुषार्थ चतुष्टय का ऐतिहासिक विकास

पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा का विकास भारतीय दर्शन में धीरे-धीरे हुआ:

a) वैदिक काल: इस समय में मुख्य रूप से धर्म और मोक्ष पर जोर दिया जाता था।

b) उपनिषद काल: इस अवधि में मोक्ष की अवधारणा और अधिक विकसित हुई।

c) धर्मशास्त्र काल: इस समय तक चारों पुरुषार्थों की स्पष्ट अवधारणा विकसित हो गई थी।

d) पुराण काल: पुराणों में पुरुषार्थ चतुष्टय का विस्तृत वर्णन मिलता है।

20.2 विभिन्न दर्शनों में पुरुषार्थ चतुष्टय

विभिन्न हिंदू दर्शनों में पुरुषार्थ चतुष्टय की व्याख्या थोड़ी भिन्न हो सकती है:

a) वेदांत: इस दर्शन में मोक्ष को सर्वोच्च महत्व दिया जाता है।

b) मीमांसा: यह दर्शन धर्म को सबसे महत्वपूर्ण मानता है।

c) न्याय-वैशेषिक: इस दर्शन में चारों पुरुषार्थों का संतुलित महत्व दिया जाता है।

d) सांख्य: यह दर्शन मोक्ष को प्रमुख लक्ष्य मानता है, लेकिन अन्य पुरुषार्थों के महत्व को भी स्वीकार करता है।

20.3 पुरुषार्थ चतुष्टय और जीवन के चरण

हिंदू परंपरा में जीवन के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) को पुरुषार्थ चतुष्टय से जोड़कर देखा जा सकता है:

a) ब्रह्मचर्य: इस चरण में धर्म पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

b) गृहस्थ: इस आश्रम में अर्थ और काम पर अधिक जोर होता है।

c) वानप्रस्थ: इस चरण में धर्म और मोक्ष की ओर झुकाव बढ़ता है।

d) संन्यास: यह आश्रम पूरी तरह से मोक्ष पर केंद्रित होता है।

20.4 पुरुषार्थ चतुष्टय और मनोविज्ञान

आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य से पुरुषार्थ चतुष्टय को इस प्रकार देखा जा सकता है:

a) धर्म: नैतिक विकास और सामाजिक जागरूकता से संबंधित।

b) अर्थ: मैस्लो के आवश्यकता पदानुक्रम में सुरक्षा और स्वाभिमान की आवश्यकताओं से जुड़ा।

c) काम: मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं और आत्म-अभिव्यक्ति से संबंधित।

d) मोक्ष: आत्म-साक्षात्कार और व्यक्तित्व के एकीकरण से जुड़ा।

20.5 पुरुषार्थ चतुष्टय और समकालीन चुनौतियाँ

वर्तमान समय में पुरुषार्थ चतुष्टय के संदर्भ में कुछ प्रमुख चुनौतियाँ हैं:

a) पर्यावरण संकट: धर्म और अर्थ के बीच संतुलन बनाने की आवश्यकता।

b) डिजिटल युग: काम और धर्म के बीच नए संबंधों की खोज।

c) वैश्वीकरण: विभिन्न संस्कृतियों के बीच पुरुषार्थों की व्याख्या में समन्वय।

d) मानसिक स्वास्थ्य: चारों पुरुषार्थों के संतुलन द्वारा मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देना।

20.3 धर्म

धर्म की परिभाषा और महत्व

धर्म पुरुषार्थ चतुष्टय का पहला और सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। यह शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'धारण करना' या 'समर्थन करना'। धर्म का अर्थ केवल धार्मिक कर्तव्यों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक अवधारणा है जो नैतिकता, कर्तव्य, और जीवन के सही मार्ग को दर्शाती है।

धर्म के महत्वपूर्ण पहलू:

- नैतिक मूल्य और सिद्धांत

- सामाजिक और व्यक्तिगत कर्तव्य

- न्याय और धार्मिकता

- सत्य और ईमानदारी

धर्म के प्रकार

धर्म को कई प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है:

a) सामान्य धर्म: यह सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों को दर्शाता है जो सभी मनुष्यों पर लागू होते हैं।

b) विशेष धर्म: यह व्यक्तिगत कर्तव्यों और दायित्वों को संदर्भित करता है जो किसी व्यक्ति की विशिष्ट भूमिका या स्थिति पर आधारित होते हैं।

c) वर्ण धर्म: यह प्राचीन भारतीय समाज में चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के विशिष्ट कर्तव्यों को दर्शाता है।

d) आश्रम धर्म: यह जीवन के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) से संबंधित कर्तव्यों को बताता है।

20.4 धर्म का व्यावहारिक महत्व

धर्म का पालन व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभदायक है:

- यह नैतिक और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में मदद करता है।

- यह व्यक्तिगत चरित्र निर्माण में सहायक होता है।

- यह समाज में शांति और सद्भाव को बढ़ावा देता है।

- यह जीवन में मार्गदर्शन प्रदान करता है और निर्णय लेने में सहायता करता है।

20.5 धर्म और अन्य पुरुषार्थ

धर्म अन्य तीन पुरुषार्थों का आधार है:

- यह अर्थ और काम की प्राप्ति को नियंत्रित और निर्देशित करता है।

- यह मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

20.6 अर्थ की परिभाषा और महत्व

अर्थ पुरुषार्थ चतुष्टय का दूसरा तत्व है। यह धन, संपत्ति और भौतिक समृद्धि को दर्शाता है। अर्थ का महत्व इस तथ्य में निहित है कि यह जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने और समाज में एक सम्मानजनक जीवन जीने के लिए आवश्यक है।

अर्थ के प्रमुख पहलू:

- धन और संपत्ति का अर्जन

- आर्थिक सुरक्षा

- भौतिक संसाधनों का प्रबंधन

- व्यावसायिक गतिविधियाँ और कार्य

अर्थ का महत्व

अर्थ का महत्व निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट होता है:

a) जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ: अर्थ भोजन, वस्त्र, आवास जैसी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने में मदद करता है।

b) सामाजिक स्थिति: यह समाज में एक सम्मानजनक स्थिति प्राप्त करने और बनाए रखने में सहायक होता है।

c) स्वतंत्रता और विकल्प: आर्थिक स्वतंत्रता व्यक्ति को अधिक विकल्प और अवसर प्रदान करती है।

d) दान और परोपकार: अर्थ दूसरों की मदद करने और समाज के कल्याण में योगदान देने का साधन बनता है।

20-7 अर्थ प्राप्ति के नैतिक तरीके

हिंदू दर्शन में अर्थ की प्राप्ति महत्वपूर्ण मानी जाती है, लेकिन यह भी जोर दिया जाता है कि यह नैतिक और धार्मिक तरीकों से की जानी चाहिए:

- ईमानदारी और सत्यनिष्ठा के साथ काम करना

- दूसरों का शोषण न करना

- कानून और नियमों का पालन करना

- समाज के हित को ध्यान में रखना

अर्थ और अन्य पुरुषार्थ

अर्थ का अन्य पुरुषार्थों से संबंध:

- धर्म: अर्थ धर्म के सिद्धांतों के अनुसार प्राप्त और उपयोग किया जाना चाहिए।

- काम: अर्थ काम की पूर्ति के लिए साधन प्रदान करता है।

- मोक्ष: अर्थ का उचित उपयोग आध्यात्मिक विकास में सहायक हो सकता है।

20.8 काम

काम की परिभाषा और महत्व

काम पुरुषार्थ चतुष्टय का तीसरा तत्व है। यह मानवीय इच्छाओं, भावनाओं और आनंद को दर्शाता है। काम न केवल शारीरिक आकर्षण और यौन इच्छाओं को संदर्भित करता है, बल्कि यह जीवन के सभी सुखों और आनंदों को भी शामिल करता है।

काम के प्रमुख पहलू:

- शारीरिक और मानसिक आनंद

- सौंदर्य की अनुभूति

- प्रेम और संबंध

- रचनात्मक अभिव्यक्ति

काम का महत्व

काम का महत्व निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट होता है:

a) जीवन का आनंद: काम जीवन को रसमय और आनंददायक बनाता है।

b) मानवीय प्रेरणा: यह मनुष्य को कार्य करने और लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है।

c) सृजनात्मकता: काम कला, संगीत, साहित्य जैसी रचनात्मक गतिविधियों को प्रेरित करता है।

d) संबंध और समाज: यह मानवीय संबंधों और सामाजिक बंधनों को मजबूत बनाता है।

काम का नियंत्रण और संतुलन

हालांकि काम एक महत्वपूर्ण पुरुषार्थ है, लेकिन इसका अति या अनियंत्रित रूप हानिकारक हो सकता है। इसलिए, हिंदू दर्शन में काम के उचित नियंत्रण और संतुलन पर जोर दिया जाता है:

- संयम और आत्म-नियंत्रण का अभ्यास

- धर्म के सिद्धांतों के अनुसार काम की पूर्ति

- अति भोग से बचना

- आध्यात्मिक विकास के साथ संतुलन बनाना

काम और अन्य पुरुषार्थ

काम का अन्य पुरुषार्थों से संबंध:

- धर्म: धर्म काम को नियंत्रित और निर्देशित करता है।

- अर्थ: अर्थ काम की पूर्ति के लिए साधन प्रदान करता है।

- मोक्ष: काम के उचित नियंत्रण और संतुलन से मोक्ष की प्राप्ति में सहायता मिलती है।

20-9 मोक्ष

मोक्ष की परिभाषा और महत्व

मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय का चौथा और अंतिम तत्व है। यह आत्मा की मुक्ति, परम सत्य की प्राप्ति, और संसार के बंधनों से छुटकारा पाने को दर्शाता है। मोक्ष को हिंदू दर्शन में जीवन का परम लक्ष्य माना जाता है।

मोक्ष के प्रमुख पहलू:

- आत्मज्ञान की प्राप्ति

- दुःख और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति

- परमात्मा या ब्रह्म के साथ एकात्मता

- परम आनंद और शांति की अनुभूति

मोक्ष का महत्व

मोक्ष का महत्व निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट होता है:

a) परम लक्ष्य: यह मानव जीवन का अंतिम और सर्वोच्च उद्देश्य माना जाता है।

b) आध्यात्मिक पूर्णता: मोक्ष आत्मा की पूर्णता और परिपक्वता को दर्शाता है।

c) दुःख से मुक्ति: यह जन्म-मृत्यु के चक्र और सांसारिक दुःखों से स्थायी मुक्ति प्रदान करता है।

d) परम सत्य की प्राप्ति: मोक्ष परम सत्य या ब्रह्म के साथ एकात्मता की अवस्था है।

मोक्ष प्राप्ति के मार्ग

हिंदू दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिए कई मार्ग बताए गए हैं:

a) ज्ञान योग: यह आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है। इसमें वेदांत के अध्ययन, चिंतन और ध्यान का महत्व है।

b) भक्ति योग: यह ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण और प्रेम के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है। इसमें पूजा, कीर्तन, और ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम शामिल है।

c) कर्म योग: यह निष्काम कर्म के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है। इसमें फल की इच्छा किए बिना कर्तव्य का पालन करना शामिल है।

d) राज योग: यह योग और ध्यान के अभ्यास द्वारा मन और शरीर पर नियंत्रण प्राप्त करके मोक्ष की ओर बढ़ने का मार्ग है।

मोक्ष और अन्य पुरुषार्थ

मोक्ष का अन्य पुरुषार्थों से संबंध:

- धर्म: धर्म का पालन मोक्ष की प्राप्ति का आधार है।

- अर्थ: अर्थ का त्याग या उचित उपयोग मोक्ष मार्ग में सहायक हो सकता है।

- काम: काम पर नियंत्रण और वैराग्य मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

20-10 पुरुषार्थ चतुष्टय का संतुलन

संतुलन का महत्व

पुरुषार्थ चतुष्टय में संतुलन बनाए रखना एक सफल और सार्थक जीवन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस संतुलन के महत्व को निम्नलिखित बिंदुओं से समझा जा सकता है:

a) समग्र विकास: चारों पुरुषार्थों का संतुलित विकास व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को सुनिश्चित करता है।

b) जीवन की पूर्णता: संतुलन से जीवन में आध्यात्मिक और भौतिक दोनों पहलुओं की पूर्णता आती है।

c) सामाजिक सद्भाव: व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में संतुलन सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देता है।

d) आंतरिक शांति: पुरुषार्थों के बीच संतुलन आंतरिक संतोष और शांति प्रदान करता है।

संतुलन बनाने के तरीके

पुरुषार्थ चतुष्टय में संतुलन बनाने के लिए निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं:

a) प्राथमिकताओं का निर्धारण: जीवन के विभिन्न चरणों में विभिन्न पुरुषार्थों को उचित प्राथमिकता देना।

b) समय प्रबंधन: प्रत्येक पुरुषार्थ के लिए उचित समय आवंटित करना।

c) आत्म-जागरूकता: अपनी शक्तियों, कमजोरियों और आवश्यकताओं के प्रति सचेत रहना।

d) लचीलापन: परिस्थितियों के अनुसार अपने दृष्टिकोण और कार्यों में लचीलापन लाना।

e) नियमित आत्म-मूल्यांकन: अपने जीवन में पुरुषार्थों के संतुलन का नियमित मूल्यांकन करना।

असंतुलन के परिणाम

पुरुषार्थ चतुष्टय में असंतुलन के कुछ संभावित परिणाम हो सकते हैं:

a) एकांगी विकास: किसी एक पुरुषार्थ पर अत्यधिक ध्यान देने से व्यक्तित्व का एकांगी विकास हो सकता है।

b) नैतिक पतन: धर्म की उपेक्षा करके केवल अर्थ और काम पर ध्यान देने से नैतिक पतन हो सकता है।

c) भौतिकवाद: मोक्ष की उपेक्षा करके केवल भौतिक सुखों पर केंद्रित होने से अध्यात्म से दूरी बढ़ सकती है।

d) कुंठा और तनाव: पुरुषार्थों के बीच असंतुलन से मानसिक तनाव और कुंठा पैदा हो सकती है।

20.8 पुरुषार्थ चतुष्टय का आधुनिक संदर्भ

वर्तमान समय में प्रासंगिकता

पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी प्राचीन काल में थी। आधुनिक संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता निम्नलिखित बिंदुओं से स्पष्ट होती है:

a) जीवन का संतुलन: तेज़ी से बदलते समाज में संतुलित जीवन जीने का मार्गदर्शन।

b) नैतिक मूल्य: भौतिकवादी युग में नैतिक मूल्यों की महत्ता को रेखांकित करना।

c) आत्म-विकास: व्यक्तिगत और पेशेवर विकास के लिए एक समग्र दृष्टिकोण प्रदान करना।

d) तनाव प्रबंधन: जीवन के विभिन्न पहलुओं में संतुलन बनाकर तनाव को कम करना।

आधुनिक चुनौतियाँ

वर्तमान समय में पुरुषार्थ चतुष्टय के संदर्भ में कुछ चुनौतियाँ भी हैं:

a) भौतिकवाद का प्रभाव: अत्यधिक भौतिकवाद के कारण धर्म और मोक्ष की उपेक्षा।

b) समय की कमी: व्यस्त जीवनशैली के कारण सभी पुरुषार्थों पर ध्यान देने में कठिनाई।

c) मूल्यों में परिवर्तन: पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक जीवनशैली के बीच संघर्ष।

d) वैश्वीकरण का प्रभाव: विभिन्न संस्कृतियों के मिश्रण से पारंपरिक अवधारणाओं की व्याख्या में बदलाव।

आधुनिक जीवन में अनुप्रयोग

पुरुषार्थ चतुष्टय को आधुनिक जीवन में निम्नलिखित तरीकों से लागू किया जा सकता है:

a) धर्म:

- नैतिक मूल्यों और सामाजिक दायित्वों का पालन

- कार्यस्थल पर नैतिकता का अभ्यास

- पर्यावरण संरक्षण जैसे वैश्विक मुद्दों के प्रति जागरूकता

b) अर्थ:

- आर्थिक स्वतंत्रता के लिए कौशल विकास

- उद्यमिता और नवाचार को बढ़ावा देना

- सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ व्यवसाय करना

c) काम:

- कार्य-जीवन संतुलन बनाए रखना

- स्वस्थ जीवनशैली और मानसिक स्वास्थ्य पर ध्यान देना

- रचनात्मक गतिविधियों में संलग्न होना

d) मोक्ष:

- ध्यान और योग का अभ्यास

- आध्यात्मिक ज्ञान का अध्ययन

- स्व-जागरूकता और आत्म-विकास पर ध्यान देना

20.9 निष्कर्ष

पुरुषार्थ चतुष्टय - धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष - हिंदू दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है जो मानव जीवन के चार मूलभूत लक्ष्यों को प्रस्तुत करता है। यह सिद्धांत न केवल व्यक्तिगत विकास का मार्गदर्शन करता है, बल्कि एक संतुलित और सार्थक जीवन जीने का ढांचा भी प्रदान करता है।

इन चारों पुरुषार्थों का संतुलित विकास व्यक्ति को सर्वांगीण रूप से विकसित होने में मदद करता है। धर्म नैतिक आधार प्रदान करता है, अर्थ भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक होता है, काम जीवन में आनंद और सृजनात्मकता लाता है, जबकि मोक्ष आध्यात्मिक उत्थान और परम लक्ष्य की ओर ले जाता है।

आधुनिक समय में भी पुरुषार्थ चतुष्टय की प्रासंगिकता बनी हुई है। यह तेजी से बदलते और जटिल होते समाज में संतुलित जीवन जीने का मार्गदर्शन करता है। हालांकि, वर्तमान परिस्थितियों में इस सिद्धांत को लागू करने में कुछ चुनौतियाँ हैं, फिर भी इसके मूल सिद्धांत आज भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने प्राचीन काल में थे।

पुरुषार्थ चतुष्टय हमें याद दिलाता है कि जीवन की पूर्णता केवल भौतिक सफलता में नहीं, बल्कि नैतिकता, आध्यात्मिकता, भौतिक समृद्धि और मानवीय आनंद के बीच सही संतुलन में निहित है। यह सिद्धांत हमें एक ऐसा जीवन जीने के लिए प्रेरित करता है जो न केवल व्यक्तिगत रूप से संतोषजनक हो, बल्कि समाज और विश्व के लिए भी लाभदायक हो।

20.10 सारांश

पुरुषार्थ चतुष्टय - धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष - हिंदू दर्शन का एक गहन और व्यापक सिद्धांत है। यह न केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए एक मार्गदर्शक है, बल्कि समाज और संस्कृति के विकास का भी एक महत्वपूर्ण आधार है। इस सिद्धांत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह जीवन के विभिन्न पहलुओं के बीच संतुलन बनाने पर जोर देता है।

आधुनिक समय में, जब जीवन तेजी से जटिल और चुनौतीपूर्ण होता जा रहा है, पुरुषार्थ चतुष्टय की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। यह हमें याद दिलाता है कि सफलता और संतोष केवल एक क्षेत्र में उत्कृष्टता हासिल करने से नहीं, बल्कि जीवन के सभी पहलुओं में संतुलन बनाए रखने से प्राप्त होता है।

इस सिद्धांत को समझने और अपने जीवन में लागू करने से, हम न केवल अपने व्यक्तिगत विकास को बढ़ावा दे सकते हैं, बल्कि एक अधिक सामंजस्यपूर्ण और न्यायसंगत समाज के निर्माण में भी योगदान दे सकते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय हमें सिखाता है कि जीवन की पूर्णता नैतिकता, भौतिक समृद्धि, आनंद और आध्यात्मिक उत्थान के बीच सही संतुलन में निहित है।

यह कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ चतुष्टय केवल एक दार्शनिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि एक जीवन दर्शन है जो हमें पूर्ण, संतुलित और सार्थक जीवन जीने की प्रेरणा देता है। इस सिद्धांत को समझना और अपनाना न केवल व्यक्तिगत विकास के लिए, बल्कि समाज और मानवता के कल्याण के लिए भी महत्वपूर्ण है।

20.11 बोध - प्रश्न

1. पुरुषार्थ चतुष्टय क्या है? इसके चार तत्वों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

2. धर्म की अवधारणा को समझाइए और इसके विभिन्न प्रकारों पर चर्चा कीजिए।

3. अर्थ पुरुषार्थ का महत्व क्या है? इसे नैतिक रूप से कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

4. मोक्ष की अवधारणा को समझाइए और इसे प्राप्त करने के विभिन्न मार्गों का वर्णन कीजिए।

5. पुरुषार्थ चतुष्टय में संतुलन का क्या महत्व है? असंतुलन के क्या परिणाम हो सकते हैं

6. आधुनिक समय में पुरुषार्थ चतुष्टय की प्रासंगिकता पर चर्चा कीजिए।

7. पुरुषार्थ चतुष्टय को अपने दैनिक जीवन में कैसे लागू किया जा सकता है? उदाहरण देकर समझाइए।

8. पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा किस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक विकास में योगदान देती है?

20.12 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

1.नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत- वेद प्रकाश वर्मा, एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ,नई दिल्ली।

2.नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धांत- डॉ डी आर जाटव, मलिक एंड कंपनी जयपुर ,दिल्ली।

3.नीति शास्त्र की रूपरेखा- अशोक कुमार वर्मा ,मोतीलाल बनारसी दास ,दिल्ली ।

4.नीति शास्त्र की रूपरेखा- डॉक्टर बद्रीनाथ सिंह,आशा प्रकाशन ,वाराणसी।

.....00.....